महाकवि मंखक — एक अध्ययन

: प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से :

डी॰ फिल् डिग्री

: के लिए प्रस्तापित शोध - पाण्डुलिपि :

विभागाध्यक्ष : श्री सरस्वती प्रसाद जी चतुर्वेदी,
एम॰ ए॰, व्याकरणाचार्य,

शोधनिरीक्षक : डा॰ चण्डिकाप्रसाद जी शुक्ल,
एम॰ ए॰, डी॰ फिल्,
साहित्याचार्य,

शोधक : रामकृष्ण शास्त्री,
एम॰ ए॰, साहित्याचार्य,
साहित्यरत्न ।

प्रारम्भ - सितम्बर, १९५५ ई॰

समाप्ति - मार्च, १९६२ ई॰ ।

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन :

:जीवनपरिचय: - जन्मजात विद्यासंस्कार, शास्त्राचार्य, प्रयागविश्वविद्यालय 'महाकवि मंखक, एक अध्ययन' प्रबन्ध की पूर्णाहुति ।

:शोध्यकवि तथा उनकी कृतियाँ: - महाकवि मंखक की प्रभविष्णुता, 'त्रिपुर-वध', कथानक की आध्यात्मिकता, मंखकोश, धन्यवाद, क्षमा याचना ।

अनुक्रमणिका :

पूर्वखण्ड - श्रीकण्ठचरित महाकाव्य

महाकवि मंखक : वंश, जन्मस्थान, जन्मतिथि, :अन्तःसाक्ष्य, बहिःसाक्ष्य:, शिक्षा, कृतित्व, सामाजिक जीवन, प्रसिद्धि, कवि का व्यक्तित्व, अन्तिम जीवन । पृष्ठ सं० १-१६

संक्षिप्त कथानक : पूर्वभूमि, देवसभा, त्रिपुरपरिचय, शरणागति, उपाय, स्वीकृति, अभियान, युद्ध और ध्वंस, देवाभिनन्दन । पृष्ठ सं० १७-१९

श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के कथानक 'त्रिपुरवध' का मूलस्रोत : तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण,, महाभारत, मत्स्यपुराण, लिंगपुराण, स्कन्द महापुराण, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण :त्रिपुरतप, वरयाचना, देवक्षोभ, शरणागति, विष्णु का सहाय, विष्णुमाया, मायापुरुष, पुनः शिवदर्शन, स्तवन, अभियान, त्रिपुरदाह, देवप्रस्थान: । पृष्ठ संख्या २०-३८

श्रीकण्ठ चरित एक महाकाव्य है : :प्रबन्धकौशल: - 'श्रीकण्ठचरित' नाम का औचित्य, महाकाव्य का लक्षण समन्वय, पाँच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच सन्धियाँ, हीनाङ्गपूर्ति, वस्तुवर्णन, कथानक में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन तथा उसका औचित्य, समालोचन । पृ० सं० ३९-५०

वस्तुवर्णन : (Nature Description) - काव्य और प्रकृति, प्रकृति की मादकता, युग-युग में प्रकृति, प्रकृति के साहित्यिक वर्ण्यस्वरूप, आलम्बन और उद्दीपक स्वरूप, रेखा या संश्लिष्ट चित्र, वेदों में प्रकृति का दैवीकरण, महाभारत तथा रामायण में प्रकृति चित्रण, साहित्यिक महाकाव्यों में प्रकृति चित्रण, विभिन्न कवि तथा प्रकृति, संस्कृत महाकाव्यों में शृंगार एवं प्रकृति का समन्वय, कैलासवर्णन - श्वेतता, शिवार्क, सारूप्यलाभ, महाजन, छाये हुए बादल, तपस्वी वृक्षादि, वसन्त :कवि वसन्त:, चन्द्र, सूर्यास्त, सागर, तम, प्रभातवर्णन त्रिपुरमर्दन, उभय-आलम्बन तथा उद्दीपन, वर्णन का तुल्य सामर्थ्य । पृ० सं० २०७-२३

स्थानीय चित्रण : काश्मीर - सतीसर, नारंगियां, केसर, वितस्ता नदी, हिम, महापद्मकर्णीश्वर सरोवर, विजयेश्वर महादेव, चक्रधर विष्णु मन्दिर, कपटेश्वर धाम, स्ववंशादि - सिन्धु-वितस्ता-संगम, प्रवरपुर, छान्दिका :अंगीठी:, मन्मथ-विश्वावर्त-शृंगारादि ४ भाई, महाराजा सुस्सल, महाराजा जयसिंह, पण्डितसभा - नन्दन प्रभृति ३२ विद्वान् । पृ० सं० २३४-२३८

छन्दोयोजना : छन्द परम्परा, परम्परा-निर्वाह, प्रयोगन्यूनाधिक्य, प्रतिभा तथा मौलिकता, स्वाच्छन्द्य, प्रयुक्त छन्द तथा उनके लक्षणादि, वृत्तप्रयोगतालिका , संक्षिप्त परिचयन । पृ० सं० २३९-२५१

भाषाशैली : भाषादि के विषय में मंखक की मान्यताएं, मान्यता-समन्वय, भाषाविचार, शैली-विमर्श । पृ० सं० २५२-२६०

दोषोद्भावना : संशोधन - औदासीन्य, टीकाकार के द्वारा दृष्ट दोष, टीकाकार का अनुचित समर्थन, :कतिपय:, 'रसायुध' : भ्रमर, 'त्रिदुष्कृत,' 'पिशाच प्रासाद, 'मान्मथरूपिणी', श्लोक १४७:, दोषविभाग, दोषनिरूपण - :८: गुणीभूत व्यंग्यादि- अगूढव्यंग्य, वाच्यसिद्ध्यंग, समप्राधान्य, असुन्दर, :७: पददोष - च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, नेयार्थ, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, अस्थानस्थपद, विरुद्धमतिकृत्, पतत्प्रकर्ष समाप्तपुनरात्त, अर्थान्तरैकवाचक, अभवन्मतयोग, विधेयाविमर्श, अर्थदोष -

क्लिष्टता, ग्राम्यत्व, सन्दिग्धता, निर्हेतुता, प्रसिद्धिविरुद्धत्व, अनवीकृत, नियम-दोष, अपार्थ, अश्लीलार्थता, श्लोक ५।५, अलंकारदोष - हीनाधिकासमर्थो-पमादि, किंविरोधादि, हीनरूपक, रसदोष - रसविरोध, स्वशब्दवाच्यत्व, अकाण्डप्रथन, छन्दोदोष, औचित्यदोष - ताम्रपर्णी, अन्यदोष, दोषमुक्ति ।
पृष्ठ संख्या २६१- ३०५ ।

प्रसिद्धि, टीका एवं सा० स्थान : नैषध की उपादेयता, दक्षिण भारत तक नै० च० की प्रसिद्धि, प्रशस्तियाँ :क-ख-ग:, कविकविरत्व की उपलब्धि, राज-राजानक पद की प्राप्ति, राजाश्रितत्व की प्राप्ति, सूक्तिग्रन्थों में स्थान, आधुनिक सं० सा० के इतिहासकार और नै० च०, पूर्वटीकाएं, जोनराज की टीका, साहित्यिक स्थान - बृहत्त्रयी, पंचत्रयी में किस का स्थान, बृहत्त्रयी से नै० च० का वैशिष्ट्य, काव्य-व्युत्पत्ति-शक्ति की त्रिपथगा नै० च०, शिवप्रभावी, पंच-महाकाव्य, नै० च० में ऐतिहासिक तथ्य । पृ० सं० ३०६-३२३

आदान-प्रदान : कवि-निर्माण, चित्रकाव्य की परम्परा, नवीन रचना, कालिदासादि की श्लोकच्छाया, शिवचरित परम्परा, पद्यानुवादसुख का त्रिपुर-दहन, हरचरित चिन्तामणि, त्रिपुरदाहडिम, मंखक और जल्हराज, प्रभाव ।
पृष्ठ संख्या ३२४-३४१

उत्तरखण्ड - मंखकोश

मंखकोश का सम्पादन तथा अध्ययन : पाश्चात्य विद्वानों की संस्कृत-सेवा, डा० जकारिया द्वारा मंखकोश का सम्पादन, डा० जकारिया की दृष्टि में मंखकोश के नवीन पद, अनुक्रमणिका, मं० को० की टीका का सम्पादन । पृ० सं० ३४२-३५१

मंखकोश की परम्परा : भाषा - प्रवाह, पदज्ञान के साधन व्याकरण तथा कोशग्रन्थ, मं० को० के प्रामाण्ययुक्त कोशकार - भागुरि, कात्यायन, हलायुध, दुर्ग, अमरसिंह, शाश्वत, धन्वन्तरि, टीका में स्मृत कोशकारादि । पृ० सं० ३५२-३५८

मं० को० का अध्ययन - :मूलभाग: - हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति, मं० को० का बम्बई से प्रकाशन, मं० को० का स्वरूप, दुरूहता, त्रुटित श्लोकपंक्तियाँ । पृष्ठ सं० ३५९- ३७१ ।

मं० को० का विश्लेषणात्मक अध्ययन : प्रक्रम विवेचन, शैली विवेचन, सम्पूर्ण पदसंख्या, नवीन पदसंख्या । पृष्ठ संख्या ३७२-३७४

तुलनात्मक अध्ययन :नानार्थ और पद: - आधार-शिला, संकेत सूची, पदक्रम और अध्ययन - स्वरादि -व्यंजनादि । पृ० सं० ३७५-४२३

संस्कृत कोशकला को मंख की देन : :नवीन पद तथा नानार्थ: - कोश-नवीनता की परिभाषा, संक्रम, आधुनिक संक्रम, अमरकोशादि का विमर्श, मं० को० की नवीनता, अपूर्व पद तथा नानार्थ । पृ० सं० ४२४-४४४

मं० को० की टीका : टीका सम्पादन, टीका की अपूर्णता, टीका की उपयोगिता । पृ० सं० ४४५- ४४८

परिशिष्ट ।१।

अलंकार सर्वस्व तथा मंखक : अं० स० का परिचय, सम्भावित कर्तृत्व, निर्णय में कठिनाई, जयरथ का साक्ष्य, किंवदन्ती पर विचार, ग्रन्थान्तर सम्बन्ध पर विचार, मंखक-पक्ष का समर्थन, मंखक तथा जयरथ के चरित्र में अन्तर, स्पर्धा और विद्वेष, साक्ष्य की निष्पक्षता । पृ० संख्या १-१२

परिशिष्ट ।२।

प्रतीक सूची -ण-

परिशिष्ट ।३।

पुस्तक सूची - त - थ - द ।

प्राक्कथन

जीवन के सुदूर अतीत की बात है। घर में, अभिभावक के नाम से, थे केवल एक बड़े भाई तथा उनकी युवती पत्नी। मुझे ही घर के सब छोटे काम करने पड़ते थे। वेतन में यदाकदा भाभी की गालियां तथा दो-चार तमाचे मिल जाया करते थे। घर से भाग कर मैं :शौचक: पहुंच जाया करता था ग्राम के प्राइमरी विद्यालय में। और इसी प्रकार पहुंच गया था एक दिन, ६-७ वर्ष की आयु में, रेल की पटरी के किनारे-किनारे दिनभर चलकर लखनऊ -- 'पढ़ने की विशुद्ध भावना को शिशुहृदय में संजोए हुए'।

जाड़े के दिन थे। लखनऊ आते समय रास्ते में भूख लगने पर बेर और चने का साग खाकर क्षुधातृप्ति की थी। शरीर पर फटा कुर्ता भी नहीं था। जेब में दो आने पैसे नहीं थे और नहीं ही था अपरिचित लखनऊ में किसी परिचित का ठिकाना। दो माह भटकने के बाद पढ़ने लगा था - एक प्राइमरी पाठशाला में। एक क्रम टूटा, दूसरा प्रारम्भ हुआ, फिर तीसरा-चौथा और मैंने सन् १९४७ में, अन्ततोगत्वा, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग से द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण कर ही तो लिया था - साहित्याचार्य।

लखनऊ में ४-५ वर्ष अध्यापकीय सेवा करके पुनः लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। सन् ५२ में तृतीय श्रेणी में बी० ए० करके चला आया था वाराणसी एम० ए० करने के लिए। संस्कृत में एम० ए० संस्कृतविद्या के केन्द्र वाराणसी से करने तथा महामहोपाध्याय पूज्य गोपीनाथ जी कविराज से किंचित योगविद्या जानने के लक्ष्य को लेकर ही वाराणसी आया था। २ वर्ष में हो गया था द्वितीय श्रेणी में एम० ए०। वैदिक क्रम से एम० ए० करने के पश्चात् वेद में शोध करने की भावना स्वाभाविक थी। उत्तर भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रयाग विश्वविद्यालय और उसके संस्कृतविभाग में श्री क्षेत्रेशचन्द्र जी चट्टोपाध्याय विद्या-वाचस्पति का नाम मैंने वैदिक विद्वानों में अग्रणी सुना था। अतः मैं सीधे प्रयाग विश्वविद्यालय पहुंच गया था रिसर्च के उद्देश्य से।

अपने अनुभवों के आधार पर डा० उमेश मिश्र ने मुझे पागल तथा

तथा श्री चट्टोपाध्याय जी ने रिसर्च के अयोग्य कहा । फिर भी दयालु डा० बाबूराम जी सक्सेना ने मुझे, सन् १९४७ में किए गए साहित्याचार्य के आधार पर साहित्यिक विषय- 'महाकवि मंखक, एक अध्ययन' पर शोधकार्य दे दिया। प्राइमरी से प्रारम्भ कर अद्यावधि अपने शिक्षादिव्यय का प्रयत्न मुझे स्वयं करना पड़ा है । सतत् आर्थिक हीनता में प्राप्त की गई यह विद्या केवल मेरे दुःसाहस तथा जन्मजात पढ़ने की कामना का फल है । दो वर्ष तक प्रयाग में, जैसे तैसे, शोध-कार्य करके, आर्थिक दबाव से, मैं अधिक वहां न ठहर सका । अध्यापक होकर मुरादाबाद चला गया था । दो बार के सर्विस-रिसर्च क्रम के बाद अब यह शोध-पाण्डुलिपि पूर्णतया तैयार हो गई है । पढ़ने की विशुद्ध शिक्षाभावना की यह एक पूर्णाहुति है । 'पुनर्जन्म' विषय पर शोध करने की भावना से मैंने बी० ए० में प्रवेश लिया था और अब दो-तीन वैदिक विषय मस्तिष्क में उथलपुथल मचाए हुए हैं ।

महाकवि मंखक के जीवनवृत्त, श्रीकण्ठचरित महाकाव्य तथा मंखकोश पर मैंने शोधकार्य किया है । महाकवि मंखक के जीवन-चरित्र से मैं विशेषरूप से प्रभावित हुआ हूं । मेरे विचार से महाकवि मंखक ने लगभग ६० वर्ष की आयु पाई थी । उन्होंने बचपन में, २५ वर्ष तक, विद्याध्ययन किया था । अध्ययन काल के अन्तिम वर्षों से प्रारम्भ करके ३-४ वर्षों में अपनी प्रथमकृति श्रीकण्ठ-चरित को उन्होंने समाप्त किया । अपने भाई अलंकार की 'पण्डितसभा' में सुनाने से महाकाव्य और उसके रचयिता महाकवि मंखक का यथेष्ट नाम हुआ । कवि के ३ बड़े भाई पूर्व से ही काश्मीर नरेश के दरबार की शोभा बढ़ाते थे । मंखक भी राजमन्त्री बना दिए गए । ११२७ ई० में महाराजा जयसिंह काश्मीर की गद्दी पर बैठे थे । ११४९ तक उनका शासन बना रहा । सम्भवतः मंखक भी, कम से कम, २२ वर्ष राजमन्त्री के पद पर रहे होंगे । इस बीच उन्होंने मंख-कोश लिखा । अलंकारसर्वस्व भी सम्भवतः उन्हीं की कृति है । अपने इन ग्रन्थों, स्वोदार चरित्र, राजमन्त्रित्व तथा जीवन के अन्तिम काल में अपनी जन्मभूमि प्रवरपुर में बनवाए गए मन्दिर-धर्मशालादि के कारण काश्मीर की जनता ने अपने इस सहृदय राजमन्त्री का सच्चे हृदय से सम्मान किया । इस सम्मान के द्योतक हैं उनके 'कर्णिकारमंख' और 'राजराजानक' पद । निःसन्देह महाकवि

मंडक में स्पृहणीय सफल जीवन पाया था । कवि का जीवन बताता है कि एक सफल जीवन पाने के लिए साहित्यिक विशेष योग्यता तथा ऊंचा राज-पद ही आवश्यक नहीं हैं, प्रत्युत् अपना उदार-सत्य जीवन तथा जनता की हितैषिता भी नितान्त आवश्यक हैं।

'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य के विषय में तो शोधपाण्डुलिपि का २।३ भाग ही लिखा गया है । उस पर इस प्राक्कथन में क्या कहा जाय । इतना अवश्य है कि सर्वाङ्गीण व्युत्पत्ति के इस महाकवि :श्री०च०: में 'त्रिपुरवध' कथानक के आध्यात्मिक संकेत का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है । कवि ने अपने विशुद्ध पौराणिक अध्ययन की आधारशिला पर ही इस महाकाव्य को रचा है । उन्होंने त्रिपुरवध के पौराणिक कथानक को महाकाव्य का स्वरूप प्रदान करते समय, महाकाव्य की शास्त्रीय रूपरेखा के निष्पादनार्थ, महाकाव्य के अंगभूत वसन्त-चन्द्रोदय प्रभातादि वर्णन बढ़ा दिए हैं; दो-तीन साधारण परिवर्तन भी कथानक में कर दिए हैं; परन्तु, इस त्रिपुरवध के आध्यात्मिक तत्व से वे बहुत दूर तो क्या, सर्वथा अपरिचित ही हैं।

'त्रिपुरवध' पौराणिक ही नहीं, एक वैदिक कथानक है । कुछ विद्वान् :मैक्डॉनल तथा कीथ भी: वेदों में ऐसा कुछ इतिहास स्वीकार नहीं करते । अतः इस 'त्रिपुरवध' कथानक का भी, अन्य कथानकों की भांति, कुछ आध्यात्मिक रहस्य, संकेत या प्रतीकत्व होना ही चाहिए । फिर जब शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट शब्दों में उद्घोष करता है कि - "रेखास्त्रिपुरः"[१], तब तीन रेखाओं के त्रिपुर में तीन-तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली- राक्षसों की कल्पना या गढ़न्त कहां तक समुचित सिद्ध होगी । त्रिपुर और उसके विनाश के साथ ही शिव जी के लड़ने के लिए एक विशेष पृथ्वीरथ की अनिवार्यता इस कथानक को निश्चित रूप से एक आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करते हैं।

१- शतपथ ब्राह्मण, ६।३।३।२५ की अन्तिम पंक्ति ।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' उक्ति के अनुसार यह मानव शरीर ही वह दिव्य रथ है कि जिसमें महाकवि वर्णित सभी उपमाकियां बन जाती हैं। उपनिषद् भी शरीर को रथ रूप में उद्घोषित करते हैं।[1] अनुकूल ब्रह्म की प्रतिनिधि बुद्धि का सारथित्व भी उपनिषद् से ही प्रमाणित है। अब आकाश, पृथ्वी तथा पाताल में निर्मित हेम, राजत तथा लौहपुरियां भी इसी शरीर में होनी चाहिएं। वे हैं- शिर, मध्य और अधोभाग। शिर में ब्रह्मसा सर्वथा हेमाय है; उदरस्थ जलीय तत्व स्पष्ट ही राजत है और अधोभाग भी स्वाभाविक ही कृष्णायस्कान्तमणिप्रभ है। शरीर में विद्यमान चैतन्यतत्व के आत्मा तथा भूतात्मा दो भेद साधारणतया स्वीकृत हैं।[2] मायाप्लुत आत्मा ही भूतात्मा तथा विशुद्ध भूतात्मा ही आत्मा पद वाच्य है। इनमें कैसा कुछ तात्विक भेद नहीं है। विशुद्ध आत्मा देव पद सम्बोध्य तथा भूतात्मा असुरपद वाच्य है। भूतात्मा (Conscious & sub Conscious soul) और अन्तरात्मा (Inner soul) का संघर्ष ही "देवासुरसंग्राम" है। यह प्रतिदिन प्रत्येक प्राणधारी के साक्षात् का विषय है। भौतिक आत्मा का भौतिक मन उसे इन पंचविषयों के बहकावे में डालकर, सदैव ही अमानवोचित कर्मों की ओर प्रेरित करता रहता है। जबकि अंतरात्मा सदा ही सत्कर्मों की ओर रुझान को ले आने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती है। मन, उदर और भोगेन्द्रिय ही असुरत्रय हैं। मन प्रधान तारकाक्ष है, उदर मध्यम विद्युन्माली तथा शिश्न कमलाक्ष है। संकल्प-विकल्पात्मक मन सदा 'प्रमाण-विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति'[3] नाम की पांच वृत्तियों में भटकता रहता है: आनन्द को नहीं प्राप्त करने देता। उदर 'विद्युन्माली' सदा असु-(प्राण) पोषण की ही अपेक्षा रखता है। और भौतिक आत्मा असुर :प्राणवान्: होकर दूसरों को सताना तो कुछ क्या, अकेले में दीवारों से भी टक्करें मारता

१- आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिन्तुसारथिंविद्धिमनः प्रग्रहमेव च।
कठो० १।३।३

२- अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ मनु० ५।१०९

३- 'वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः' तथा 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः'॥
यो० सू० १।५-६

रहता है, जैसे कि सांड या भैंसे एकान्त में 'वप्रक्रिया' (ऊंचीभूमि को खोदना) करते हैं। शिव 'कपर्दी' की महिमा का क्या कहना— सदाशिव भी सदा अर्धनारीश्वर रूप में बने रहते हैं।[1] इन मन, उदर तथा भोगेन्द्रिय-रूपी तीनों असुरों में से किसी एक का एकाकी नाश अन्तिम 'देवकल्याण' का हेतु बन ही नहीं सकता। अतः तीनों का एककालिक विनाश या ध्वंस नितान्त ही अपेक्षित तथ्य है। यह तीनों कभी एक सीध में भी नहीं आते। इनके हननार्थ शरीररूपी पृथ्वी-रथ ही आवश्यक है। बाण है- 'सुषुम्णा नाड़ी'। सुषुम्णानाड़ी पृष्ठवंश के अन्दर अग्निमय अनुस्यूत रहती है। कुण्डलिनी की अग्निमय अग्नि मूलाधार चक्र में ही रहती है। (मूलाधार के अनुकूल ध्यान से सम्पूर्ण शरीर में एक विशेष उष्णता उत्पन्न होती है- यह प्रत्यक्षसिद्ध है)। ईशकृपा से कुण्डलिनी जागृत होती है। जागृत होकर वह सुषुम्णा में प्रवेश करती है। सुषुम्णा ही मध्यनाड़ी कहलाती है। मन का संचार इस मध्यनाड़ी में होने लगता है। इस नाड़ी में केन्द्र-केन्द्र पर अलौकिक शक्तियां भरी पड़ी हैं। मध्यनाड़ी में प्रविष्ट कुण्डलिनी-अग्नि वासना-तृष्णादि का विनाश कर देती है। वासनाओं के विनष्ट होने पर चित्त स्थिर हो जाता है। एक विचित्र निर्विचारता प्रसूत होती है। बस यहीं- इस निर्विचारता की स्थिति में, अध्यात्मका प्रसाद प्राप्त होता है।[2] आनन्दानुभूति होती है। तब कुछ पाने को शेष नहीं रहता। बस इसी अवस्था में पहुंच कर पूर्वोक्त 'त्रिपुरों' का भी विनाश हो जाता है। इस प्रकार के त्रिपुर के विनाश के निमित्त ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्रादि देव कुछ नहीं कर सकते। यह तो मात्र स्व-स्व शक्तियों के अधिष्ठाता देव हैं। उन-उन शक्तियों को प्रदान कर सकते हैं। त्रिपुर के वधार्थ तो केवल ईशकृपा ही एकमात्र और वही पर्याप्त बल है।[3] संक्षेप में त्रिपुरवध का कथानक ईशकृपा से मध्यनाड़ी के

१- 'यदर्धनारीश्वरमूर्तिरीशः अद्यैव गौरीविरहानभिज्ञः।
शृङ्ग धारयन्त्यो भवतः शिरोग्रे शशाङ्क च शङ्ख च क्षाव प्रसादः' ।। श्री०भा०, ११।६५

२- 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' ।। यो० सू०, १।४७

३- 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्' ।।
कठो०, १।२।२३

विकास[1] से अध्यात्मप्रसाद का रूपक या संकेत है। काश्मीर में लिखा जाकर भी श्रीकण्ठ-चरित का गूढ़ रहस्य के संकेत से भी शून्य है।

मंखकोश के विषय में केवल यही कहना है कि यह स्वयं अपने में पूर्ण एक स्वतन्त्र लघुकोष है। इसमें अतिप्रचलित तथा अति-अप्रचलित शब्दावली को छोड़कर मध्यमकोटि के पदों को संगृहीत किया गया है। मंखकोशीय-पदों के ज्ञान के पश्चात् सामान्यतया संस्कृत-ग्रन्थों का आपात अनुशीलन किया जा सकता है। मंखकोश का कलेवर मात्र १००७ श्लोकों में संनिहित है। आदि के परिचयात्मक १० श्लोकों को छोड़ देने से केवल ९९७ श्लोक शेष रहते हैं। ९९७ श्लोकों का प्रतिदिन पाठ ३ घंटे में सरलता से किया जा सकता है। दैनिक अनुवृत्ति करने से लगभग १ माह में समस्त मंखकोश कण्ठाग्र हो जायगा। इतने लघु उपाय से संस्कृत शब्द-भण्डार को हस्तगत करा देना ही इस मंखकोश की विशेषता है। मैंने उपर्युक्त विषय पर प्रयाग में शोधकार्य प्रारम्भ किया था। प्रयाग विश्व-विद्यालय के प्रधान पुस्तकालय से मैंने २ वर्ष तक अत्यधिक लाभ उठाया था। विविध पुराणों का अध्ययन विशेष रूप से वहीं किया था। एतदर्थ वहां के पुस्तकालय के अधिकारियों का विशेष रूप से आभारी हूं। मंखकोश की सम्पूर्ण प्रतिलिपि मैंने लखनऊ विश्वविद्यालय के टैगोर पुस्तकालय से की थी। वहां के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री तारासिंह जी ने बड़ी कृपा के साथ मुझे वहां लगभग २० दिन तक बैठकर मंखकोश की प्रतिलिपि करने का अवसर दिया था। इसके लिए वे कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं। शोध पाण्डुलिपि का अधिकांश भाग वाराणसी में लिखा गया है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा विश्वनाथ पुस्तकालय, ललिताघाट से मैंने, यहां रहकर, विशेष सहायता प्राप्त की है। विश्वनाथ पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री श्रीकृष्ण पन्त जी मेरी श्रद्धा के विशेष पात्र हैं। कारण कि बिना पुस्तकालय का सदस्य होते हुए भी, उन्होंने मुझे अनेकों पुस्तकें सदा ही अध्ययनार्थ प्रदान की हैं। एक बार ३ कोष तो

१- 'मध्यविकासात् चिदानन्दलाभः' ।। प्रत्यभि०, १७

उन्होंने, गर्मी के अवकाश में, घर से आकर, पुस्तकालय और उसकी अलमारियां स्वयं खोलकर, मुझे प्रदान किए थे।

डा० बाबूराम जी सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट् को मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूं कि जिन्होंने एक 'पागल' को भी, अपनी दयालुतावश, शोध का अधिकारी बनाया था। यद्यपि श्री चट्टोपाध्याय जी ने मुझे वेद में शोध कराने से इन्कार कर दिया था, पर बाद में मेरे अध्यवसाय से वे नितान्त प्रसन्न हो गए थे। प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे 'शोधमन्त्र' प्रदान किया था-- देखो। "Law of Evidance" - न भूलना। उनके इस एक वाक्य ने मुझे एक सच्चा शोधक बना दिया है। मैं इसके लिए उनसे आजन्म उऋण नहीं हो सकता। मेरे प्रथम शोध-निरीक्षक डा० लालरमा यदुपाल सिंह को मैं कहां तक धन्यवाद दूं। भोजन न रहने पर मैं अक्सर उन्हीं के घर पर खाया करता था। और कभी-कभी तो उन्होंने ही मेरी फीस तक दी थी, जो उन्होंने आज तक मांगा भी नहीं है!!! उनके डिप्टी कलक्टर होकर चले जाने के बाद मेरे द्वितीय निरीक्षक नियुक्त हुए थे श्री चण्डिका प्रसाद जी शुक्ल, एम० ए०, डी० फिल्०, साहित्याचार्य। मेरे दुर्भाग्य से पहले तो उन्होंने मेरी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, पर अब यह उन्हीं की महती कृपा का शुभ परिणाम है कि मेरी शोध पाण्डुलिपि अपने वर्तमान स्वरूप में लिखी जा सकी है। मुझे हर्ष है कि उनके द्वारा की गई मेरी आलोचना मुझे स्वप्न में भी खटकी नहीं। मैंने सदा ही उनके सुझावों के अनुसार, लगभग १।२ भाग शोधपाण्डुलिपि को द्वितीय बार लिखा है। उनके उन बहुमूल्य सुझावों के अभाव में मैं निश्चय ही कहीं का नहीं था। अब भी परिणाम तो भगवान् के ही हाथ है-- 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'।

शोधकाल में अन्य भी अनेक व्यक्तियों तथा पुस्तकालयों से मैंने लाभ उठाया है। वे सभी मेरे क्रमशः धन्यवादों के पात्र हैं। वस्तुतः शोधकार्य बिना उन्मुक्त सहाय पाए पूरा किया भी नहीं जा सकता।

शोध पाण्डुलिपि के पूर्ण होने में देरी तथा शोध में कुछ अपूर्णता का प्रधान हेतु मेरी निर्धनता रही है। आशा है कि मैं इसके लिए क्षमा किया जाऊंगा।

वाराणसी,
४-१-६२

रामकृष्ण शास्त्री

पूर्वखण्ड -- श्रीकण्ठ चरित :महाकाव्य: ।

महाकवि मंखक

: ११००-११६० :

वंश :

'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य के तृतीय सर्ग में महाकवि मंखक ने स्वयं अपने वंश का परिचय विस्तार से दिया है। महाकवि के पितामह का नाम मन्मथ[1] था। मन्मथ परम शिवभक्त थे। वे बड़े दानी थे। कोई भी याचक उनके पास से निराश नहीं लौटता था। मन्मथ ने स्वजीवन में ही बड़ी ख्याति अर्जित की। धनी, मानी, राजा और भगवान् शिव की उनपर परम अनुकम्पा रहती थी। शिवकृपा से उन्हें एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। पुत्र का नाम विश्ववर्त[2] था। स्वपिता की भाँति विश्ववर्त भी बड़े ख्यातिनामा हुए। वह भी बड़े दानी थे। उन्होंने सहस्रों गोदान किए थे। शिवभक्ति तो उन्हें विरासत में ही मिली थी। वह साक्षात् शिवाद्वैतभाव का अनुभव करते थे। वह काश्मीरनरेश सुस्सल के राजवैद्य तथा कवि थे।

विश्ववर्त के चार पुत्र हुए। सबसे बड़े पुत्र का नाम शृंगार[3] था। द्वितीय पुत्र का नाम भृंग[4] तथा तृतीय का नाम लंकक, उपनाम 'अलंकार'[5] था।

१- स मन्मथो नाम जगाम तद्भुवि प्रथां प्रसन्नेश्वरदृष्टिभाजनम् ।
न मार्गणानां मुखमीक्ष्यात्मनां मनागपि यः पकलङ्कु शिक्षितः ।।श्री०च०, ३।३१

२- वदान्यमास्थानकृतकृपारसप्रवाहलंकाजननैकदक्षिणम् ।
स्वसूक्तिकीर्तिप्रसरैरनश्वरं स विश्ववर्तास्यमवाप नन्दनम् ।।वही, ३।३५

३- पुरः स शृंगारमुदारचेष्टितं सुतं प्रसूते पदमेकमुन्नतेः ।
गुणेन यः सत्यसरस्वती मयमिणाधर्मारी स्वरतामिवाग्रहीत् ।।वही, ३।४५

४- स भृंग इत्यद्भुतगताऽनुजन्मना धयस्त्वनाम्नाऽनुगुणामपि श्रियम् ।
वपन्नविल्वे पदमुन्नतोन्नतं विगाहमाना विशति स्म विस्मयम् ।।वही, ३।५३

५- ततः कनीयानजनिष्ट विष्टपत्रयेऽप्यविच्छिन्नगताभ्रमोऽगुणैः ।
मयन्मलंकार इति प्रकृहतां सरस्वतीपादरजो तिथौ पथि ।। वही, ३।५६

मंखक[1] अपने पिता के चौथे और सबसे छोटे पुत्र थे। शृंगार कवि तथा वक्ता थे। वह रणविद्या-निष्णात एवं प्रसिद्ध वीर थे। इन्होंने काश्मीर के राजा हर्ष को कई बार युद्ध में परास्त किया था।[2] महाराज सुस्सल ने इन्हें 'बृहत्तन्त्रपति' (धर्माधिकारी) बना दिया था।[3] भृंग भी बड़े योग्य और वीर थे। वह भी काश्मीरनरेश के उच्चात्युच्च अधिकारी रहे थे। लंकक कवि, वैयाकरण[4] और वीराग्रगण्य थे। महाराज सुस्सल ने इन्हें अपना सान्धिविग्रहिक बनाया था।

जन्मस्थान :

विश्व में भारतवर्ष तथा भारतवर्ष में काश्मीर की स्थिति स्वर्गोपम मानी जाती है। प्रकृति-नटी के अलौकिक सौन्दर्य से पूर्ण यह भूप्रदेश भारत का शीर्ष-सा शोभा पाता है। सर्वत्र हिमाच्छादित उत्तुंग हिममालाओं का साम्राज्य है। शीतिमा और श्वेतिमा, हरीतिमा की चादर में लिपटी हुई, सर्वत्र अठखेलियां करती हैं। स्वयं महाकवि मंखक ने भी श्रीकण्ठचरित के तृतीय सर्ग के प्रारम्भिक ३० श्लोकों में काश्मीर का भव्य वर्णन किया है। काश्मीरभूकुबेरसखी (उत्तरदिशा) के ललाट का टीका (ललाटभूषण)-सी शोभा पाती है। इस भूमि में ही प्रजापति के अवभृथ की झील 'सतीसर' है। तटद्रुमों से गिरे हुए फूलों पर लिपटी हुई भ्रमरमालाएं वितस्ता में आनन्द-स्नान करती हुई सुरकामिनियों की रुचिर वेणियां-सी लगती हैं।[5]

महाकवि मंखक के पितामह मन्मथ काश्मीर में रहते थे। मन्मथ के पिता-पितामहादि के आदिस्थान का पता नहीं चलता। किन्तु और

१- अथोदभूत्तस्य कनिष्ठसोदरः स मंखको यस्य गिरो रतं न्वत ।
शिरस्सु पीडा गुरुपादरेणवः सरस्वतीकार्मणचूर्णनैपुणम् ।। श्री०च०, ३।६३

२- वही, ३।४७

३- वितीर्य पुष्पस्तबकुन्दमालिभिः पुरस्कृतां दैवकुमारकैरिव ।
उदग्रऋद्धस्य स सुस्सलक्ष्माभुजा बृहत्तन्त्रपतित्वकल्पनाम् ।। वही, ३।५०

४- निवेशितो सुस्सलभूमिभुजा स्वयं गरीयस्यपि सन्धिविग्रहे ।
विधाय यो व्ययशोमयीं लिपिं स लेखवर्गस्य विमुद्रमाननम् ।। वही, ३।६२

५- कुबेरसख्याः ककुभो ललाटिका करोति कश्मीरमण्डलाभिधेयताम् ।
सतीसरो नाम सदस्य मण्डलं विचित्रलावण्य: प्रजापतेः ।। वही, ३।१

वितस्ता के पावन संगम :३।२०: पर श्री प्रवरसेन के द्वारा बसाया गया एक 'प्रवरपुर' स्थान है।[1] यह श्रीनगर से उत्तर-पूर्व के कोण पर लगभग १२५ मील की दूरी पर है। प्रवरपुर प्राचीनकाल में एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान था। कवि के पितामह मन्मथ इसी प्रवरपुर में सम्भवतः राजवैद्य थे।[2] प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण इसी पुनीत अंगमस्थ प्रवरपुर में महाकवि मंखक का जन्म हुआ था। कवि के घर में श्री और सरस्वती समान रूप से विद्यमान थीं। मंखक सब तरह से प्रकृति के सुखमय पालने में पले थे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं।

जन्मतिथि :

किसी प्राचीन कवि के जीवनवृत्त को जानने के लिए अन्तःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य प्रमाणों का सहारा लेना पड़ता है। सौभाग्य से महाकवि मंखक के विषय में निर्भ्रान्त उभय प्रमाण उपलब्ध हैं और इस प्रकार हम कवि के जीवन-काल के विषय में नितान्त निर्भ्रान्त रूप से बहुत कुछ कह सकते हैं।

(क) अन्तःसाक्ष्य :

'श्रीकण्ठ चरित' के तृतीय सर्ग के श्लोक ६६ में स्वयं मंखक ने लिखा है कि सुस्सल के पुत्र श्री जयसिंह ने बड़े आदर के साथ महाकवि मंखक को 'प्रजा-पालनकार्यपुरुष' : धर्माधिकारी : बनाया।[3] कल्हण की राजतरंगिणी से सिद्ध है कि कवि के जीवन में यह घटना 'श्रीकण्ठ चरित' की प्रसिद्धि के पश्चात् घटी।[4] 'श्रीकण्ठ चरित' की प्रसिद्धि अथवा महाकाव्य के रूप में स्वीकृति कवि

१- गुणैर्मंखोरिव श्लाघ्नवरैर्निकामसुर्वासितसर्वदिङ्मुखम् ।
कृतप्रसिद्धि प्रवराख्यया पुरं पिनाकी यस्य किरीटरत्नताम् ।। वही, ३।२१

२- वही, ३।३१ : टीका- 'स मन्मथो नाम प्रवरपुरभुवां प्राधिविदाम्' : ।

३- अनन्तरं सुस्सलदेवनन्दनो यमादरात्श्रीजयसिंहभूपतिः ।
व्यधात्प्रजापालनकार्यपूरुषं रूपं वितन्वन्नविनीतवन्मनुः ।। वही, ३।६६

४- 'शाब्दिकग्राहिको मंखकाख्योऽलंकारसोदरः ।
स महत्यामवत्पृष्ठा श्रीकण्ठस्यप्रतिष्ठया' ।। राज० ।८।३३५

के अग्रज अलंकार की विद्वत्सभा में हुई थी । उस समय मंखक बड़े लज्जालु स्वभाव के थे । यहाँ तक कि बड़े भाई अलंकार को स्वयं कवि को अपने ही आसन पर बलात् बिठाना पड़ा था, कारण कि बहुत कुछ कहने पर भी मंखक भ्रातृ-आसन पर, लज्जावश नहीं बैठ रहे थे ।[1] द्वितीय विचारणीय तथ्य यह है कि कवि के अग्रज अलंकार को तो राजपद महाराजा सुस्सल ने दिया था; पर मंखक को राजपद जयसिंह के द्वारा प्राप्त होता है । जयसिंह ११२७ ई० में काश्मीर के राजसिंहासन पर बैठे थे । बहुत सम्भव है कि जयसिंह ने अपने राज्यारोहण के २-३ वर्ष बाद ही मंखक को धर्माधिकारी : न्यायाधीश : बनाया हो । तात्पर्य यह है कि ११३० ई० तक 'श्रीकण्ठ चरित' की एक महाकाव्य के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी । अर्थात् ११३० ई० से कम से कम ५ वर्ष पूर्व :११२५ ई० तक: 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य लिखा जा चुका था । यदि महा-काव्य के प्रणयन का अनुमानित काल २ वर्ष भी मान लें तो ११२३ ई० में मंखक को अधिक से अधिक २३ वर्ष का होना चाहिए । कितनी भी श्री-सरस्वती की कृपा क्यों न हो, २२-२३ वर्ष की आयु के पूर्व कोई भी मेधावी किसी महाकाव्य के प्रणयन का दुःसाहस न करेगा । यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'श्रीकण्ठ चरित' के प्रणयन का आदेश कवि को स्वप्न में अपने मृतपिता से प्राप्त हुआ था । और मंखक अपने पिता की अन्तिम सन्तान थे । अर्थात् 'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य के प्रणयन के आधार पर, स्वाभाविक रूप से, अनुमान किया जा सकता है कि महाकवि मंखक की जन्मतिथि सन् ११०० ई० :सं० १०[illegible] वि०: के निकटतम है ।

जैन विद्वान हेमचन्द्र महाकवि मंखक के समसामयिक थे, तथा काश्मीर में ही राजा जयसिंह के सभापण्डित थे । हेमचन्द्र ने संस्कृत का एक कोश 'अनेकार्थसंग्रह' लिखा था । मंखक ने भी एक अनेकार्थक 'मंखकोश' लिखा था । मंख-कोश की टीका भी स्वयं कोशकार के द्वारा ही लिखी मानी जाती है । मंखटीका का खास: उपयोग हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्रसूरि ने, ११८० ई० के लगभग, हेमचन्द्र

१- विनयेन नमन्नग्रे ऽपरैरर्पितोऽग्रजः ।
ज्यायसोऽप्यासने तस्य स कथंचिदुपाविशत् ।। श्री० च०, २५।२१

के 'अनेकार्थसंग्रह' की स्वटीका 'अनेकार्थकैरवकारकौमुदी' में किया है। इस टीका से लगभग २०-२५ वर्ष पूर्व अवश्य ही सटीक मंखकोश बन चुका होगा। मंखकोश कोशकार की है भी अत्यन्त प्रौढ़कृति। इस प्रकार मंखक के जीवन का छोर ११६० ई० तक आता है। यही ११०० से ११६० ई० तक का समय मंखक का जीवन काल ज्ञात होता है।

(ख) बहिःसाक्ष्य :

बहिःसाक्ष्य के रूप में १- राजतरंगिणी, २- महेन्द्रसूरि तथा ३- जयरथ को लिया जा सकता है --

(१) शृंगार, भृंग, लंकक (अलंकार) और मंखक चार भाई थे। यह चारों ही महाराजा काश्मीर के राज्याधिकारी थे, इस तथ्य की सूचना मंखक ने अपने महाकाव्य में तथा कल्हण ने अपने एकमात्र इतिहासग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में दी है। इसकी पुष्टि इस प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ के अनुवादक श्री एम० एल० स्टाइन (M. L. Stein) ने भी की है। भृंग के राज्याधिकारी होने का उल्लेख राजतरंगिणी में उपलब्ध नहीं होता।

(२) महेन्द्रसूरि ने हेमचन्द्र के कोशग्रन्थ 'अनेकार्थसंग्रह' पर स्वटीका 'अनेकार्थकैरवकारकौमुदी' लगभग ११८० में लिखी। इसके पूर्व हेमचन्द्र ११७४ में मर चुके थे। महेन्द्रसूरि ने मंखकोश तथा उसकी टीका से शतशः उद्धरण दिए हैं। मंखकोश को मंखक ने श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के बाद लिखा था। अतः कोश को सम्भवतः ११५० के लगभग लिखा होगा। इससे भी मंखक की स्थिति ११०० से ११६० ही सिद्ध होती है।

१- (क) शृंगार - 'शृंगारस्तन्त्रपतिना श्रीद्वारेऽथाग्रजन्मना।
प्रतिष्ठापि मठोद्यानादीर्घिकाधनधाम्ना' ॥राजत० ८।२४

"Shringara तन्त्रपति (Judge) constructed a Matha, a garden, a tank by the hill of Sridwar". M.L. Stein.

"Shringara undoubtably the eldest brother of the poet Mankha, who refers to him in his (Sh.Ch.3/45-52), Mankha informs us that Shringara had received the 'Garland of the office of Brihattantrapati' from the king Sussala Jonraj in his coment on 3/50 Srikantha Charita explains the otherwise unknown ter Brihattantrapati as Dharmadhikarin, judge. The simple Tantra pati of our passage is clearly the same title. Mankha praise in particular the learning of Shringara". M.L. Stein on Raj. 8/2422.

।ख। अलंकाराभिधो बाह्यराजस्थानाधिकारभाक्

अवध्यापांसुभर्युद्धे विरुद्धान् बहूनावधीत् ।। राज० ८।२५५६

" We have already seen that Kalhana , according to his own statement, wrote his work during the gear of 1148-49.... ...., ... Alankara too, who hold high posts in the latter reign of Jaising, is mentioned with distinction. We know from the Kavya of his brother Mankhaka that Alankara was himself a man of learning and a patron of scholars. Mankha himself is only once names by Kallahana <u>as the Minister for foreign affairs</u>, <u>while no reference is made to his capacity as a fellow-poet</u>". M. L. Stein, Raj. Sec. III, p. 15

"Alankara (Brihad Ganjpati= Kosadhyakcha) Minister holding the charge of the outer royal court, made (Asnanagar) mathas, Brahmpuris, bridges etc." M. L. Stein, Raj. 8/2423-25

"Alankara -a (Bahya Rajyasthanadhikari) killed many enemies." Ibid, 8/2557

"Alankara (Rajsthaniya =Chief-Justice) induse Damras to agree". Ibid; 8/2618.

"Alankara as a Rajgnihya = Chief Justice, dismissed from the services." Ibid; 8/2671 & 2737-38.

"Again fighting as a (Rajgrihya= Nyayadhish) Minister". Ibid ; 8/2921-29.

"Mankha, Alankara's brother the <u>minister for foreign affairs</u> (Sandhibigrahika) distinguished himself by erecting a shrine of Shrikantha (Shiva) to-gather with a Matha".

Ibid; 8/3354.

।३। 'अलंकार सर्वस्व' की जयरथ ने 'विमर्शिनी' टीका ११६५ के आसपास लिखी । जयरथ महाकवि मंखक के ज्येष्ठ भ्राता शृंगार के पुत्र हैं। यह मंखक से १०-१५ वर्ष ही छोटे रहे होंगे । इन्होंने 'अलंकारसर्वस्व' के :सूत्र-वृत्ति सहित: कर्तृत्व को सर्वथा रुय्यक को देने का भरसक प्रयत्न किया है । 'अलंकार सर्वस्व' के द्वितीय लेखक मंखक ही माने जाते हैं। जयरथ के इतना अधिक रुय्यक की ओर झुकने का तात्पर्य यह होता है कि ११६५ तक अलंकार सर्वस्व के कर्तृत्व का श्रेय मंखक को प्राप्त हो चुका था । अत: जयरथ को इसका प्रतिवाद करना पड़ा । प्रतिवाद में देरी का कारण सम्भवत: यही ज्ञात होता है कि ११६० ई० तक मंखक जीवित थे । चाचा के जीवन काल में सम्भवत: जयरथ को उन :चाचा: का ही विरोध करने का साहस न हुआ होगा ।

महाकवि मंखक की जन्मतिथि लगभग ११०० मानने में मुख्याधार उनका महाकाव्य 'श्रीकण्ठ चरित' है तथा मृत्युतिथि ११६० मानने में मुख्याधार जयरथ का स्वविमर्शिनी टीका में 'अलंकारसर्वस्व' के कर्तृत्व का श्रेय रुय्यक को देना है। अन्य विचारों से भी यह तिथियां संगत प्रतीत होती हैं।

शिक्षा :

मंखक के पिता विश्ववर्त स्वयं एक अच्छे कवि तथा विद्वान् थे। विद्वता और भक्ति का मणिकांचनयोग भी उनमें विद्यमान था । वैद्यकशास्त्र में उनकी प्रसिद्धि का कहना ही क्या, वे राजवैद्य भी थे ही । मंखक तथा उनके अन्य अग्रजों को विद्या का दायभाग अपनी पूर्णता में प्राप्त हुआ था । मंखक सबसे छोटे थे । इनके समय तक इनके परिवार में श्री-सरस्वती-प्रसिद्धि की त्रिवेणी अपने पूर्ण वेग में थी । अत: मंखक की शिक्षा का उत्तमोत्तम प्रबन्ध था । मंखक योग्य पिता के योग्य पुत्र थे । अल्पवय में ही इन्होंने व्याकरण, साहित्य, वैद्यक, ज्योतिष तथा अन्य लक्षणशास्त्रों का कृतान्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। भगवान् की दया से स्वयं मंखक के अग्रज लंकक की सभा में तैंतीस, एक से एक बढ़कर, पण्डित विद्यमान थे। कवि के चतुर्दिक् एक शिक्षित तथा विज्ञ वातावरण विद्यमान था । चिन्ता और क्लान्ति की गन्धमात्र भी न थी । अत: आचार्य राजानक रुय्यक की देखरेख में उपाध्याय षष्ठी तथा आचार्य जोनराज प्रभृति विद्वान् मंखक

१- श्री० च०, २५।३०, २५।१३५, । २- वही, २५।७० । ३- वही, २५।१०७।

को विविध विद्या-शाखाओं में निष्णात बना रहे थे। संस्कृत तो उनकी मातृ-भाषा थी ही, विरासत में प्राप्त शिवभक्ति ने मंखक के उदार व्यक्तित्व में सर्वथा पूर्णता का पुट दे दिया था। अलंकार :लंखक: की विद्वत्सभा में विद्यमान अन्य भी विद्वानों से मंखक ने अवश्य ही विद्यालाभ किया होगा।

'श्रीकण्ठ चरित' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाकवि मंखक व्याकरण, साहित्य, षड्दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, राजनीति तथा पुराणेतिहासादि के अच्छे विद्वान् थे। लक्षण-ग्रन्थों का भी उनका ज्ञान पूर्ण था। तथापि वैदिक अध्ययन का अभाव-सा लगता है। जैन-बौद्धादिधर्मों का साधारण ज्ञान भी कवि को था।

<u>कृतित्व</u> :

राजतरंगिणी के अंग्रेजी अनुवादक श्री एम० ए० स्टाइन एक निष्पक्ष विद्वान थे। उन्होंने राजतरंगिणी के श्लोक ८।३३५४ की टिप्पणी में मंखक को 'श्रीकण्ठ चरित' तथा 'मंखकोश' का कर्ता माना है। डा० बूलर का भी यही मत है। डा० बूलर ने 'श्रीकण्ठ चरित' के प्रणयन का समय ११३५ से ११४५ माना है।[१] यह विचारणीय नहीं है। 'अलंकार सर्वस्व' के कर्तृत्व के विषय में यह दोनों विद्वान् मंखक के पक्ष या विपक्ष में कुछ नहीं कहते। यद्यपि जयरथ की वकालत कुछ सन्देह उत्पन्न कर देती है, कि क्या सचमुच ही 'अलंकार-सर्वस्व' भी मंखक की ही कृति है। जैसा, कि समुद्रबन्धादि दाक्षिणात्य विद्वान् मानते हैं। संक्षेप में, मंखक के द्वारा सर्वप्रथम 'श्रीकण्ठ चरित' एवं तदनन्तर 'मंखकोश' लिखा गया। यदि 'अलंकार सर्वस्व' भी उन्हीं की कृति है, तो यह 'मंखकोश' से पूर्व लिखी गई थी, क्योंकि उक्त कोश की टीका में 'अलंकार सर्वस्व' के कई उदाहरण आए हैं। डा० थियोडोर जकारिया के साथ-साथ शोधक भी मंखकोश की टीका मंखकृत ही मानता है। 'श्रीकण्ठ चरित' के प्रणयन का निर्देश कवि को स्वप्न में, स्वपिता से प्राप्त हुआ था। शेमुषी-वैदुष्य तथा शिवभक्ति तो कवि में पूर्व से ही विद्यमान थी ही, तत्कालिक राजनीतिक अस्थिरता तथा राजाओं की निरंकुशता-दुराचारता ने भी कवि के इस स्वप्न को साकार होने में पूर्णयोग दिया। राजाओं के दुराचार-दुव्यापारों से प्रपीड़ित-

---

१- काश्मीर रिपोर्ट, :डा० बूलर:, १८७७, पृ० ५० ।

धर्मनिष्ठ महाकवि मंखक ने पूर्व से ही किसी मर्त्य की स्तुति न करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। अत: उन्होंने पिता के आदेश को एक अनुग्रह-सा स्वीकार करते हुए, शिरोधार्य कर, तत्काल कार्यरूप में परिणत करना प्रारम्भ कर दिया। कवि ने अत्यल्प काल में, स्वर्गीय पिता, स्वात्मा तथा स्वाराध्यदेव भगवान् शिव को सन्तुष्ट करते हुए, 'श्रीकण्ठ चरित' को समाप्त किया। उक्त महाकाव्य का यद्यपि मूल कथानक तो 'त्रिपुरदाह' ही है, परन्तु कवि ने शिवपुराण के विविध उद्धरणों के द्वारा स्वमहाकाव्य को वास्तविक रूप में 'श्रीकण्ठ चरित' को 'यथानाम तथागुण' ही लिखा है। इस महाकाव्य में कवि ने 'गागर में सागर' भरने की उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ कर दिया है। ग्रन्थ पर्याप्त-रूप में कुतूहलवर्धक है।

'मंखकोश' में कोशकार मंखक ने केवल प्रसिद्ध नानार्थक पदों का ही संग्रह किया है। केवल १००७ श्लोकों में प्रधान-अप्रचलितार्थ २२५६ नानार्थक पदों के विचित्र नानार्थ का संग्रह किया है। लगभग ३०० नानार्थक पद तथा शतश: नानार्थ अमरकोश से अधिक दिए गए हैं। निःसन्देह मंखकोश अपने में सर्वथा पूर्ण एक लघुकोश है। संक्षेप और सारवत्ता इसकी विशेषताएं हैं। 'अलंकार सर्वस्व' पर विस्तृत विचार एक 'अलंकार सर्वस्व और मंखक' नामक प्रकरण में किया गया है।

सामाजिक जीवन :

महाकवि मंखक ने लगभग ३० वर्ष काश्मीर की जनता की सेवा की। स्व जीवन के इस काल में कवि ने कई उच्चातुच्च राजकीय पदों को सुशोभित किया था। इस काल में उन्होंने विपुल ख्याति तथा धनराशि संग्रह की थी।

इतिहासकार कल्हण ने स्व राजतरंगिणी के श्लोक ८।२६२५ में लिखा है कि महाकवि मंखक अपने 'श्रीकण्ठ चरित' की प्रसिद्धि के साथ ही धर्माधिकारी ('प्रजागृह्य') बना दिए थे। कुछ वर्षों के पश्चात् वे सान्धिविग्रहिक तथा आगे चलकर 'कनक' में राजदूत बनाए गए थे। राजत० श्लोक ८।३३५४ की टिप्पणी में श्री एम० ए० स्टाइन ने लिखा है कि महाकवि मंखक ने

:सम्भवत: प्रवरपुर में: एक धर्मशाला तथा एक शिवमन्दिर का भी निर्माण करवाया था । इस प्रकार उन्होंने विभिन्न राजपदों, साहित्य निर्माण, वैधक तथा मन्दिर-निर्माणादि के द्वारा काश्मीर की जनता की अपार सेवा की ।

<u>प्रसिद्धि :</u>

'कवि को चाहिए कि अपना काव्यग्रन्थ, पूर्णरूपेण सम्पन्न हो जाने पर, सभाओं में सुनाकर, विद्वानों को सूचना देकर, उसकी अनेक प्रतिलिपियां कराकर तथा अन्यान्य समुपलब्ध साधनों द्वारा उसका प्रचार करें ।[1] श्रीकण्ठ चरित महाकाव्य के पूर्ण हो जाने पर महाकवि मंखक ने भी विचार किया कि मैं अपने इस महाकाव्य को परीक्षणार्थ अपने बड़े भाई लंकक :अलंकार: की विद्वत्सभा में ले जाऊंगा । वहीं मेरे परिश्रम :कविकर्म: की परीक्षा होगी ।[2] विद्वत्सभा में मंखक के महाकाव्य तथा महाकवित्व की डटकर परीक्षा हुई थी, और तदनुसार प्रशंसा भी ।

सर्वप्रथम परीक्षक थे- कान्यकुब्जाधिपति गोविन्दचन्द्र :११२०: के राजदूत महाकवि सुहल । चतुर राजदूत ने- 'यह पिंगलवर्णकिरणकलापवाला, दिवसराज के द्रोही, सूर्य का, सूर्यबिम्ब आकाश से पश्चिमोदधिवीचिमाला में निपतित हो रहा है ।:राजद्रोह के अभियोग में दण्डित, रक्ताप्लुत, रविबिम्ब आकाश से पश्चिमोदधि में गिर रहा है - संध्याकाल का अरुण रविबिम्ब जल में डूब रहा है : की समस्या मंखक के सामने रखकर उसे सद्य: पूर्ण करने के लिए कहा ।[3] :यहां यह स्मरण रखने की बात है कि यह समस्या शार्दूलविक्रीडित छन्द में है । इसमें उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा अलंकार है । यह दोनों छन्द-अलंकार कवित्व की तत्कालीन कसौटी माने जाते थे ।: नवयुवक कवि मंखक ने भी तत्काल ही समस्या की

१- 'सिद्धं च प्रबन्धमनेकादर्शगतं कुर्यात्', सानुवाद काव्यमी०, पृ० १३०, पटना संस्करण, १९५४

२- 'तत: शाकल्यदीक्षायैस्वपरिश्रमविप्रुषाम् ।
तदवाप्य प्रबन्धस्यानेकधा निकषाश्मताम्' । श्री०च०, २५।१६

३- 'स्तुवन्मुक्तानुकारिकिरणं राजद्रुहो ह:गिर-
शेखरं वियत:प्रतीचिनिपतत्यब्धौ सेमन्त्रलम्', :इति समस्या: ।

इन सारी प्रशंसाओं-प्रशस्तियों की पारणा, अन्त में, कवि को 'कर्णिकारमंख' की साहित्यिकपदवी से हुई ।[1] :इसकी विस्तृत विवेचना 'श्रीकण्ठ-चरित' की प्रसिद्धि तथा टीकाएं प्रकरण में की गई है, अत: वहीं द्रष्टव्य है :। 'श्रीकण्ठ चरित' के टीकाकार जोनराज ने सर्गान्त में- "इति श्री जोनराज कृतया टीकया समेत: श्री राजानक कवि विश्ववर्तसूनो महाकविराजराजानक श्रीमंखकस्यकृतौ श्रीकण्ठचरितेमहाकाव्ये----", लिखा है । इससे स्पष्ट ही सिद्ध है कि मंखक को 'राजराजानक' की उपाधि मिली थी । यह उपाधि किसी भी अन्य काश्मीरी विद्वान् के नाम के साथ नहीं मिलती । राजतरंगिणीकार कल्हण का साक्ष्य है कि इस 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य की प्रतिष्ठा के कारण ही मंखक को धर्माधिकारी :न्यायाधीश: होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।[2] उत्तरोत्तर भी मंखक सान्धिविग्रहिक तथा राजादुतादिपदों को सुशोभित करते रहे । धर्मशाला तथा शिवमन्दिर के निर्माण[3] के द्वारा भी मंखक को विपुल ख्याति प्राप्त हुई होगी ।

व्यक्तित्व :

एक संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए पारिवारिक-स्थिति, स्वच्छ-स्वच्छन्द प्राकृतिक वातावरण, देश और समाज की अनुकूल परिस्थिति, शिक्षा तथा सत्संगति नितान्त आवश्यक है । ईश्वर की परम अनुकम्पा से महाकवि मंखक को यह सब कुछ, अपनी सम्पूर्णता में, प्राप्त था । यदि कुछ नहीं प्राप्त था तो वह थी- काश्मीर की राजनीतिक परिस्थिति की अस्थिरता तथा दुराचारिता । राजाओं के सुखोन्माद एवं विलासिता से काश्मीर की जनता, १२वीं शताब्दी में, त्राहि-त्राहि करती थी । विदेशी आक्रामक भी यदा-कदा काश्मीर पर आक्रमण करते रहते थे । तत्कालीन महाराजा सुस्सल ने राज्यप्राप्ति सदुपायों से नहीं की थी । नहीं उन्होंने राज्य संचालन ही सदाचार पूर्वक किया था । षड्यंत्र तथा विप्लव, शंका-सन्देह एवं अविश्वास ही चारों ओर व्याप्त था । स्वयं महाराज ने कुमार जयसिंह को ११२७ में युवराज बनाया और पुन: अविश्वास के कारण, उन्हें युवराजपद से उतार कर कैद कर दिया । सुस्सल का, उन्हीं के महल में, वध उनके भाई ने बड़ी निर्दयता तथा षड्यंत्र के साथ कर

१- श्रीकण्ठ०, ४।१२ । २- राजत० ८।२९२५ । ३- वही, ८।३३५४ ।

दिया था । इत्यादि-अग्निकाण्ड तथा महामारियां फैली रहती थीं ।

इस विपरीत राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव बड़ा व्यापक था । महाकवि मंखक की तो प्रतिज्ञा ही थी कि वे राजस्तुति से स्व-सरस्वती को दूषित नहीं करेंगे । इनके पूर्व भी राजानक रत्नाकर ने 'हरविजय' शिवभक्ति परक ही लिखा था । आचार्य क्षेमेन्द्र ने देश की इस दुर्दशा से प्रेरित होकर ही 'रामायण मंजरी' तथा 'महाभारत मंजरी' के साथ-साथ अनेकों सुधार-उपदेश प्रधान ग्रन्थ रचे थे । यह इस दुर्दान्त राजनीतिक परिस्थिति का ही परिणाम था कि महाकवि मंखक के शेष तीन बड़े भाई, एक-से-एक बढ़कर, योग्य युद्ध-विजेता थे । अलंकार स्व-वीरता के लिए ही अत्यधिक प्रख्यात थे । शृंगार भी सुस्सल के प्रसिद्ध सेनापति थे । परन्तु, बड़े आश्चर्य का विषय है कि शीतल-प्रकृति मंखक पर इस विपरीत भयंकर परिस्थिति का कोई चारित्रिक प्रभाव नहीं था । मंखक ब्राह्मण थे । आदि से अन्त तक ब्राह्मण ही बने रहे । लेखनी के सिवाय कभी तलवार हाथ में नहीं ली । परन्तु, सफलता, जीवन में, सर्वाधिक उन्हीं को मिली ।

इन अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में मंखक के व्यक्तित्व का विकास बड़ा मधुर तथा आकर्षक था । पितृभक्ति, भ्रातृभक्ति, बड़ों का सम्मान, शिवभक्ति आदि गुण तो ऐसे स्पष्ट हैं कि उन्हें कवि के जीवन में कोई भी पढ़ सकता है । स्वप्न में पिता के आदेश मात्र से वे :कवि: एक महाकाव्य के प्रणयन में लग जाते हैं । वह भी, जबकि पिता जीवित न होकर, एक मृतात्मामात्र हैं । भ्रातृभक्ति का परिचय 'श्रीकण्ठ चरित' के तृतीय एवं २५ वें सर्गों से चलता है । कवि ने स्वाग्रजों की उचित प्रशंसा की है । फिर भी शृंगार तथा लंकक :अलंकार: की प्रशंसा के श्लोक अधिक हैं । नामसंकीर्तन के द्वारा प्रशंसा करने के उपाय का प्रयोग कवि ने सर्वाधिक अपने इष्टदेव शिव के लिए तथा द्वितीय श्रेणी में अपने भाइयों के प्रति किया है । स्थान-स्थान पर शृंगार, भृंग और अलंकार पद स्वपर्यायों के साथ इसी भावना से पुनरावृत्त हुए हैं ।

शिवभक्ति की तो कवि ने साक्षात् पावन मन्दाकिनी ही प्रवाहित की है । 'शंकर-भक्तिचर्या' को भी नमस्कार करने वाले सम्भवतः मंखक अकेले ही कवि

हैं। यह इस भाँति का अतिरेक ही है कि 'श्रीकण्ठ चरित' में येनकेनप्रकारेण शिव के पौराणिक जीवन का प्रत्येक अंश किसी न किसी रूप में अवश्यमेव उपस्थित है। कवि के विनय/माधुर्य के दर्शन हमें २५ वें सर्ग की विद्वत्सभा में होते हैं। उस सभा में कवि के पूज्यमान्य ही अधिकतर उपस्थित हैं। वे सबको किस नम्रता तथा शालीनता के साथ, सर्वप्रथम, नमस्कारादि करते हैं, सब दर्शनीय होकर मानस पटल के समक्ष उपस्थित हो जाता है। कवि के स्वभाव की आर्जवता-सरलता देव चरित्रों के निर्माण या कथन में प्रतिफलित-प्रति-स्फुटित हुई है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रादि सारे देव बस 'हाँ' कहना ही जानते हैं। तर्क-विवाद तथा प्रतिहिंसादि की कुत्सित भावनाओं के दर्शन देवों में तो नहीं ही होते, दैत्यों में भी यथाकथंचित ही हैं। सर्वत्र :महाकाव्यमात्र में: अनुनय तथा सम्प्रीतापादि भावना ओतप्रोत हो रही है। दीन-दुखियों के प्रति दया एवं परोपकार की भावना 'श्रीकण्ठ चरित' तथा कवि के जीवन में सर्वथा ओतप्रोत मिलती है।

नवयुवकोचित लालित्यभावना, सौन्दर्यप्रेम, हास-परिहास के दर्शन भी 'श्रीकण्ठ चरित' में हो जाते हैं। मानवोचित स्वाभिमान की भावना भी कवि में विद्यमान है। वह स्वकाव्य का विरोध दुर्जनों द्वारा किया जाता हुआ देखकर तिलमिला उठता है, खीझ उठता है और १०-१५ श्लोकों में स्व-खीझ को साहित्यिक ढंग से व्यक्त करता है। प्रदर्शन एवं यशोऽभिलाषा भी कवि में कम नहीं है। यह कवि की अध्ययनशीलता का ही परिणाम है कि 'श्रीकण्ठ चरित' शिवकथाओं का एक वृहत्कोश-सा लगता है। मंखक की निरभिमानिता का परिचय हमें कवि के मंखकोश की टीका से अधिक मिलता है। कोशकार मंखक ने जैसी प्रतिज्ञा की थी कि --- 'कलंकम निर्मत्सरः कुरुते'[1], उसी प्रकार टीका में अनेकों स्थानों में 'इति शाश्वताचार्य कथितम्', 'इति दुर्गेण दृष्टः' और 'इति अमरसिंहः', आदि लिखकर अपनी निर्मत्सरता को प्रत्यक्षदृष्ट बनाया है।

मंखक के आत्मबल की पराकाष्ठा तब व्यक्त होती है जब हम देखते हैं कि महाराजा जयसिंह के द्वारा उच्चातिउच्च राजपद दिए जाने पर भी वे

१- मंखकोश, श्लोक २।

जयसिंह की स्तुति में कुछ नहीं लिखा । और अधिक आश्चर्य तब होता है जब हम पाते है कि मंखक जैसे बुद्ध ब्राह्मण भी :कुबीरतारखिा: बराबर पदान्नाति ही करते जाते हैं । निश्चय ही महाराजा जयसिंह की इस महती कृपा का हेतु महाकवि का महान-उदार और आकर्षक व्यक्तित्व ही रहा होगा ।

साहित्यिक दृष्टिकोण के अनुसार मंखक में एक महाकवि तथा कोशकार का व्यक्तित्व समाहित है। "अलंकार सर्वस्व" का भी कर्तृत्व स्वीकार कर लेने पर वे एक आचार्य भी सिद्ध हो जाते हैं । तब उनका व्यक्तित्व और भी ऊंचा उठ जाता है । एक सिद्धहस्त कवि-कोशकार- आचार्य एक सिद्धहस्त राजनीतिज्ञ भी हो सकता है, यह तथ्य एकमात्र मंखक के ही सफल व्यक्तित्व में सन्निहित मिलता है, अन्यत्र नहीं ।

कवि की धार्मिक सहिष्णुता भी सराहनीय है । अलंकार सम्भवतः वैष्णव थे और मंखक शैव, परन्तु इन दोनों भाइयों में अन्त तक ऐक्य बना रहा । "श्रीकण्ठ चरित" में कवि ने बुद्ध को सदैव ही समादर की दृष्टि से देखा है । देवताओं के प्रतिद्वन्द्वी दैत्यों के प्रति भी मंखक ने कहीं भी कठोर-आक्रोशात्मक उद्गार नहीं व्यक्त किए हैं । यद्यपि यह महाकाव्य के लिए एक गुण होता । कवि ने "श्रीकण्ठ चरित" में शिव के गुण-कृत्यों का संकीर्तन मात्र किया है । उसमें कवि की शिवभक्ति ही प्रधान है । शैवमत के प्रचार या शिव को अन्य देव ब्रह्मा-विष्णु से श्रेष्ठ सिद्ध करने की भावना का यत्किंचित् लेश भी नहीं है । ब्रह्मा को स्थावरकत्व तथा विष्णु को सरस्वतीपति, रमाप्रियादि कल्पना के परम्पराप्राप्त पौराणिक मत का निर्वाह मात्र है ।

श्री, सरस्वती, ख्याति एवं सुखशान्ति प्रभृति सभी दृष्टियों से महाकवि मंखक का व्यक्तित्व पूर्णतया सफल अथच आदर्श था ।

अन्तिम जीवन :

इस मधुर तथा शान्त व्यक्तित्व वाले महाकवि मंखक का अन्तिम जीवन सम्भवतः सुख-समृद्धि एवं शान्ति से ही बीता होगा । कारण यह है कि कवि ने अन्त में स्व जन्मभूमि में धर्मशाला तथा मन्दिर का निर्माण करवाया था ।

फिर भी, कवि का अन्तकाल अप्रकाशमय है। कोई लिखित प्रमाण प्राप्य नहीं। मंखक के प्रति आधुनिक काश्मीरी विद्वान् श्री पी० एन० पुष्प के उद्गार उन्हीं के शब्दों में देखिए[1]--

---

१- " Like Bilhana Mankha also has offered us glimpses of life in the Kashmir of his times in his Shrikantha Charita. Particularly charming is the reference to the fire-pot[1] which is undispensible in the benumbing of winter of Kashmir. Mankha seems to have led a tira-de against court-poetry and announcing with pride that he has not flattered anybody except Shrikantha.[2]

He looks with disfavour upon the growing tendency of his age to overburden verse with decorative artifices[3] and pleads for a sympathetic and unbaised study of all genuin poetry.[4] He, at the same time, inphasijes the utility of literary discussion[5] .... but it was in the XI & XII centuries that Kashmir had the most substantial contribution to Sanskrit poetry. The poets of this period contributed positive trends and currents, while their predecessers had mostly contributed stray works and verces. ....

..... The sweet melody by मेण्ठ, श्री स्वामिन्, बिल्हण and मंख etc.

१- श्रीकण्ठ०, ३।३६, २- वही, २५।५, १३६, ३- वही, २।४९, ४- वही, २५।१२, ५- वही, २।७, १२

'Kashmir's Contribution to Sanskrit Poetry by P.N.Pusp in 'Poona Orientalist' ; Vol. XV, p. 97.

संक्षिप्त कथानक

पूर्व भूमिका :

भगवान् शिव जगदम्बा के साथ कैलाश की कान्त-शोभा को देखने के लिए निकले। भगवान् ने स्वयं ही वसन्त का परम मनोहर वर्णन पार्वती जी के सामने उपस्थित किया। वसन्तोल्लास से प्रेरित पार्वती जी ने वहीं पुष्पावचय, दोलाक्रीडा और स्नान-क्रीडाएं कीं। उनकी विविध क्रीडाओं से भगवान शिव परम प्रसन्न हुए। इन क्रीडाओं से महेश्वरी जी अत्यन्त थक गईं। भगवान् ने स्वयं उन्हें अपनी भुजा का सहारा दिया। वे नन्दी के साथ स्व-शयन कुटीर में लौट आए।

प्रात:काल अभी वैतालिकगण भगवान के शुभपल्यागार्थ प्रभातीगायन ही कर रहे थे कि ब्रह्मादि सभी देवों ने आकर द्वारपाल नन्दी से भगवान् के दर्शनों की अभिलाषा व्यक्त की। भगवान् के सन्ध्यादि से निवृत्त हो चुकने पर नन्दी ने देवों के शुभागमन की सूचना भगवान् को दी। उन्होंने तत्काल ही परम अनुकम्पा के साथ देवों को स्व-दर्शन दिया।

देवसभा :

आवश्यक कुशल-प्रश्न के बाद भगवान् ने देवताओं के कष्ट करने का कारण पूछा। भगवान् को बड़ा दु:ख था कि उनके मुखमण्डल तेजोहीन क्यों हो रहे हैं। भगवान् की भूरिश: स्तुति करने के बाद श्रुतिकवि ब्रह्मा ने भगवान् से निवेदन किया कि भला त्रैलोक्यगुरु आप :भगवान्: से क्या छिपा है। फिर भी परमेश्वर की आज्ञा पालन करते हुए उन्होंने बताया कि देवगण त्रिपुर के अत्याचारों से त्राण पाने के लिए ही आप की शरण में आए हैं। बिना आपकी कृपा के, उनका :देवोंका: कल्याण असम्भव है।

त्रिपुर परिचय :

ब्रह्मा जी ने बतलाया कि किसी समय तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली नामक तीन राक्षसों ने उन्हें :ब्रह्माजी: सन्तुष्ट करने के लिए घोर

तप किया। प्रकट होकर ब्रह्मा जी की वरदान देने की प्रतिज्ञा सुन, उन्होंने अमरत्व माँगा। ब्रह्मा जी ने कहा कि अमरत्व का वरदान उनकी शक्ति से बाहर है। तब उन दैत्यों ने आपस में मन्त्रणा करके यह वरदान माँगा कि उन तीनों की मृत्यु युद्ध में शत्रु के एक ही बाण से और एक साथ ही हो"। ब्रह्मा जी के तथास्तु" कहने पर उन तीनों ने स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक को अपना पृथक्-पृथक् निवास-स्थान बनाकर त्रिलोकी को सन्तप्त करना प्रारम्भ किया। महाशिल्पी मय ने तीनों की रक्षा के लिए स्वर्ण, रजत और लोहे के तीन दुर्ग बनाए। स्वर्णदुर्गयुक्त स्वर्ग लोक में तारकाक्ष, राजतदुर्ग वाले मर्त्यलोक में कमलाक्ष और लौहदुर्ग वाले पाताल में विद्युन्माली ने अपना स्थान चुना। सहस्रों वर्षों के उपरान्त वे तीनों ~~इस प्रकार अजेय होकर~~ क्षण भर के लिए आकाश में एकत्र होते थे। इस प्रकार अजेय होकर तीनों ने देवों को सहस्रों वर्षों तक सताया।

शरणागति :

दैत्यत्रय के मारने की प्रार्थना के साथ ही देवों ने भगवान् से वह उपाय विशेष भी बताया कि जिससे उन दैत्यों की मृत्यु सम्भव हो सकती थी।

उपाय :

देवों ने बताया कि पृथ्वीरथ पर सवार होकर यदि भगवान् शिव जी स्वयं ही विष्णु रूपी अग्निबाण को मन्दर-धनु में लगी हुई वासुकि-प्रत्यंचा पर चढ़ाकर छोड़ें तो तीनों की मृत्यु सम्भव है। सूर्य-चन्द्र रथ के पहिए बनें और यम, वरुण, कुबेर तथा इन्द्र अश्वस्थानीय हों। अग्निदेव बाण में निवास करें।

स्वीकृति :

भगवान् के द्वारा त्रिपुर का नाश स्वीकार कर लिए जाने पर देवों ने उपर्युक्त रथादि तत्काल ही, भगवान् की आज्ञा पाकर, उपस्थित कर दिये। गणों ने भी स्वामि-आज्ञा पाकर विविध रणसज्जा की।

अभियान :

शीघ्र ही भगवान् ने, देव और गणों की सेना के साथ, अपने

अभीष्ट रथ पर सवार होकर, त्रिपुर-विजय के लिए अभियान किया । देव और गणसेना सरलता से ही त्रिपुर-राज्यों में प्रवेश कर गई । सेनाओं के नगर-प्रवेश से दैत्यों में कोलाहल मच गया । विविध अशुभ शकुनों को देख-देख कर दैत्यपुरों में हाहाकार मच गया । दैत्य-स्त्रियां त्राहि-त्राहि करने लगीं ।

युद्ध और ध्वंस :

दैत्यत्रय ने भी अत्यन्त क्रोध में आकर देवों का सामना करना प्रारम्भ किया । घनघोर युद्ध छिड़ गया । गणेश, कुमार, नन्दी, चण्ड और भृंगिरिटी ने अद्भुत वीरता दिखाई । राक्षसगण मर-मर कर स्वर्ग में जाने लगे । नगाड़े-भेरी आदि तथा वीर-विरुदावलियों से आकाश-मण्डल गूंज उठा । अवसर पाकर शिव जी ने महाभयंकर प्रलयाग्निबाण को छोड़ा । शराग्नि से त्रैलोक्य में हाहाकार छा गया । त्रिपुर महाज्वालाजाल में परिवेष्टित हो गये । स्वर्णदुर्गादि सब उस प्रलयाग्नि में भस्म होने लगे । दैत्यत्रय भी स्वरक्षा में असमर्थ हो, क्षणमात्र में ही, उस शम्भु-शराग्नि में भस्मसात हो गए । उनकी स्वेतामभस्मरज त्रैलोक्य में छा गई ।

देवाभिनन्दन :

त्रिपुर-नाश से परम प्रफुल्लित हो देवताओं ने भगवान् का जय-जय नाद करते हुए, आकाश से पुष्पवर्षा की । सब देवों ने स्व-स्व रथादि रूप त्याग कर अपना-अपना पूर्वस्वरूप धारण किया । देवराज इन्द्र ने पुनः इन्द्रपद प्राप्त किया । उनका मुखमण्डल खिल उठा, मानो शची ने निरवधि विरहोत्कण्ठा से विह्वल हो, चुम्बनों से ही, उनका मुख आरक्त नीरज के समान कर दिया हो ।

भगवान् ने सबका यथायोग्य सत्कार करके, उन्हें विदा किया । ब्रह्मा और विष्णु प्रभृति देवताओं ने शिव जी की चरणानति करके स्व-स्व स्थानों को प्रस्थान किया ।

'श्रीकण्ठ चरित' के कथानक का मूलस्रोत

भगवान् शिव के द्वारा त्रिपुर के भस्मीकरण का वर्णन एक रूपक है और सर्वथा रहस्यों से भरा हुआ है। इस रूपक में हमें भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के पुनीत आध्यात्मिक दर्शन होते हैं। कथानक अत्यन्त प्राचीन है। तैत्तिरीय संहिता में आया है कि --

"देव और असुर एक साथ रहते थे। वे एक-दूसरे के विरोधी थे। वे स्वयं को दूसरे से ज्येष्ठ मानते थे। उन असुरों के तीन पुर थे। सबसे नीचे अयस्मयी :लौहमयी: पुरी थी, उसके ऊपर रजतपुरी तथा उसके भी ऊपर स्वर्णपुरी। देव असुरों की उन पुरियों को न जीत सके। देव उपसद :यज्ञ: के द्वारा उन्हें जीतना चाहते थे। कहा भी है - जो ऐसा ही जानता है और जो नहीं, उपसद से महापुर को जीतते हैं। उन्होंने अग्नि को बाण बनाया, सोम को शल्य तथा विष्णु को तीक्ष्णता-प्रदाता। उन्होंने कहा - कौन इस बाण को छोड़ेगा? सबने कहा - 'रुद्र'। रुद्र ही हममें सबसे क्रूर है, वही इसे छोड़े। रुद्र बोले - मैं वर माँगता हूँ कि मैं पशुओं का अधिपति होऊँ? इसी से रुद्र ही पशुओं का स्वामी है। उस बाण को रुद्र ने छोड़ा। उसने तीनों पुरों का भेदन करके, इन लोकों से असुरों को मार भगाया। जो शत्रु के वध के लिए यज्ञ करते हैं, उन्हें फिर आहुति नहीं देना चाहिए। ----- तीन ही यह लोक हैं। यह इन लोकों को ही पूर्ण करता है।"[1]

1- ----- देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा मिथो विप्रिया आसन्, तेऽन्योऽन्यस्मै ज्यैष्ठ्यायातिष्ठमानाः। तेषामसुराणां तिस्रः पुर आसन् अयस्मय्यवमाऽथ रजताऽथ हारिणी। ता देवा जेतुं नाशक्नुवन्। ता उपसदैवाजिगीषन् तस्मा-दाहुर्यश्चैवं वेद यश्च नोपसदा वै महापुरं जयन्तीति त इषुं समस्कुर्वताग्निमनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम्। तेऽब्रुवन्क इमामसिष्यतीति। रुद्र इत्यब्रुवन्रुद्रो वै क्रूरः सोऽस्यत्विति। सोऽब्रवीद्वरं वृणै-अहमेव पशूनामधिपतिरसानीति। तस्मा-द्रुद्रः पशूनामधिपतिस्तां रुद्रोऽवासृजत्। स तिस्रः पुरो भित्त्वैभ्यो लोकेभ्यो ऽसुरान्प्राणुदत्। यदुपसद उपसदन्ते भ्रातृव्य पराणुत्त्यै, नान्यामाहुतिं पुर-स्ताज्जुहुयात् --- त्रय इमे लोका इमानेव लोकान्प्रीणाति ॥४॥ तै० सं० 6।2।3।12

द्रष्टव्य - काठ० संहिता 24।10

शतपथ ब्राह्मण का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है —

"परिव्राजपति: कवि: :मंत्रप्रतीक: । अग्ने ! तुम्हारे चतुर्दिक ही हम पुरों का निर्माण करते हैं। "परित्वा अग्ने"- तथा "त्वमग्ने धुभि:" मन्त्र पढ़कर अग्नि की स्तुति करके, पर्यग्निकरण के द्वारा अग्नि को ही उस :यजमान: का रक्षक बनाते हैं। इसकी यह अग्निपुरी देदीप्यमान बनी रहती है। त्रिपर्यग्निकरण के द्वारा उसके त्रिपुरों का निर्माण करते हैं। पृथक्-पृथक् छन्दों से पृथक्-पृथक् विस्तृत रेखाओं का निर्माण करते हैं। इसी से दूर-दूर पर बड़ी-बड़ी रेखाएं होती हैं। रेखाएं ही पुर हैं।[1]

महाभारत कर्णपर्व में कथानक एक प्रबन्धकाव्य की रूपरेखा प्राप्त कर लेता है। राका, कुहू, अनुमती तथा सिनीवाली कल्पित पृथ्वीरथ के देवविशेष अश्वों की लगामें हैं। संवत्सर ही धनुष माना गया है। असुरत्रय बाण से मारे जाकर पश्चिम समुद्र में जा गिरते हैं।[2]

मत्स्यपुराण में कथानक का यथेष्ट विस्तार हो गया है। इसमें अन्य पुराणों से पर्याप्त भेद भी आ गया है। मय प्रधान दैत्यराज तथा प्रतिनायक है। देवों से पराजित होकर वर्षों तप करता है। विद्युन्माली तथा तारकाक्ष उसका अनुसरण करते हैं। मय साधारणतया ही नगरत्रय का निर्माण करता है। दैत्य स्वभावानुकूल ही वे तीनों असुर देवताओं पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर देते हैं। मय दु:स्वप्न देखता है। नारद दु:स्वप्न के फल-कथन में उसे बता देते हैं कि पुरत्रय को नष्ट करने के लिए भगवान् शिव आ रहे हैं। मय युद्ध-घोषणा कर

१- "परिव्राजपति:कवि: । परित्वा अग्नेपुरं वयं त्वमग्ने धुभिरित्यग्निमेवास्मा एतत्पुरस्तुत्य वर्म करोति परिस्तीभि: परीव हि पुर आग्नेयीभिरग्निपुरमेवास्मा एतत्करोति सा ह्येषाऽग्निपुरा दीप्यमाना तिष्ठति त्रिभिस्त्रिपुरमेवास्मा एतत्करोति तस्मात् त्रेतपुरां परमं रूपं यत्त्रिपुरं स वै वर्षीयसा वर्षीयसा छन्दसा परां परां लेखां वरीयसीं करोति । तस्मात् पुरा परा परा वरीयसी लेखा भवन्ति । लेखा हि पुर:" ।। श० ब्रा० ६।३।३।२५
दृष्टव्य ऐ० ब्रा० २।११ तथा कौषीतकि ब्रा० २।३१० ।

२- "बलोद्धतसारं तमिषुं मुमोच त्रिपुरं प्रति ।
तत्सासुरगणं दग्ध्वा प्राक्षिपत्पश्चिमार्णवे" ।।महा०क०प० २४।१२०

देता है। घमासान युद्ध होता है। नन्दी तारकाक्ष को मार देते हैं। विद्युन्माली राक्षसों को लेकर पश्चिम सागर में छिप जाता है। देवगण वहां भी पहुंच जाते हैं। विद्युन्माली भी युद्ध करते हुए मारा जाता है। मय उसे अमृतवापी में डालकर पुनरुज्जीवित कर लेता है। फिर घोर युद्ध होता है। विष्णु भगवान् वृषरूप धारण करके उस अमृतवापी को पान कर जाते हैं। पुनः कई दिन के युद्ध के बाद नन्दी विद्युन्माली को भी मार देते हैं।[2]

दैत्यराज मय परम शिवभक्त था। अतः शिव जी ने उसे बचाने की आज्ञा नन्दी को दी। नन्दी उसे एक गुप्त द्वार से बचाकर निकाल ले जाते हैं।

भगवान् शिव मय को एक नवीन सृष्टि बनाकर मय को, भविष्यनिवास के लिए, प्रदान करते हैं। शिव जी द्वारा छोड़ा गया बाण केवल स्त्री-बच्चों सहित उन नगरत्रय को भस्म कर डालता है।[3]

यहां कमलाक्ष के स्थान पर मय आया है और वहीं तारकाक्ष के स्थान पर प्रधान दैत्यराज है। मय शिव-भक्त भी है। इसी कारण वह युद्ध में मरने से बचा लिया जाता है। इतना ही नहीं, भगवान् शिव उसके निवास के निमित्त एक नवीन सृष्टि का भी निर्माण कर देते हैं। वह उसका अधिपति बनकर सुख से रहता है।

भीषण कृत्युद्ध इस पुराण की विशेष कल्पना है।

लिंगपुराण में रथवर्णन की कल्पना कुछ विशेष है[4] - भवानी भी युद्ध करने जाती हुईं[5]। शेष कथानक मत्स्यपुराण के समान ही हैं।

१- "यज्ञोपवीतमादाय विचार्य च ननाद च।
येन भिन्नं तनुत्राणं विभिन्नं हृदयं त्वपि।
विद्युन्मालापदं प्राप्य वज्राक्ता इवानलः॥" म० पु० १४०।३६

२- "श्रुत्वा तन्नन्दिवचनं प्रकृतको महेश्वरो वैनेय गुह्यस्थेन त्रिपुरोपरि व्यवस्थितः॥" वही, १४०।५२

३- "सोऽपीषुः पत्रपुटवद् दग्ध्वा तन्नगरत्रयम्", वही, १४०।५३

४- "धर्मो विरागो दण्डोऽस्य यज्ञा दण्डाश्रया स्मृताः।
दक्षिणाः सन्धयस्तस्य लौहाः पंचशताग्नयः"॥ लिं० पु० ७२।२५

५- "बाला बालपराक्रमा भगवती दैत्यान् प्रहर्तुं ययौ"। वही, ७२।३१

स्कन्द-पुराण में कथा अत्यन्त संक्षिप्त है।[1] इस पुराण में त्रिपुर नाम का केवल एक ही दैत्य है। वही शिव-शर से त्रिधा खण्डित कर दिया गया है।

श्रीमद्भागवत म० १०।४३।७१ में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से कथानक का उल्लेख हुआ है। महाकवि मंखक ने अपने 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य का सम्पूर्ण कथानक शिव पुराण :२।५।१-१२: से लिया है। शि० पुराणगत कथानक निम्नलिखित रूप में है--

देवर्षि नारद ने ब्रह्मा से पूछा कि महावीर्य शिव ने एक ही बाण से उन त्रिपुर को कैसे मारा था ?[2]

त्रिपुरतप :

सनत्कुमार ने बताया कि शिवपुत्र स्कन्द के द्वारा तारकासुर के मारे जाने पर, उसके तीन दैत्यपुत्र तप करने लगे। तारक, विद्युन्माली तथा कमलाक्ष, वे तीनों दैत्य तुल्य बलशाली थे। उन तीनों ने सुमेरु पर्वत की कन्दरा में बड़ा घोर तप किया। उन्होंने सभी भोगों का त्याग किया। तीनों ने विधि :ब्रह्मा: को प्रसन्न करने के लिए तप किया था। इसलिए सुरासुरगुरु ब्रह्माजी उनके समक्ष प्रकट हुए। उनके तप से सन्तुष्ट हो वे :ब्रह्मा: उन्हें वर प्रदान करना चाहते थे। ब्रह्मा बोले- "मैं तुम तीनों के तप से परम प्रसन्न हूं। तुम्हें अभीष्ट वर दूंगा। तुम तीनों वर मांगो"।[2]

१- स्तुतिं कृत्वा यथावाग्भिः पृष्ट्वाऽन्वयुः सुराः।
शरेणैकेन वै रुद्रो जघान तं महासुरम्।।
मायिकं तं त्रिधा भित्त्वा मायायुक्तं शंकरः।
पुनरागात्पुरीमेतामकल्मषसेविताम्" ।। स्क०पु० ५।४३।४७-८

२- -------कथं ददाह भगवन्नगराणि सुरद्रुहाम्।
त्रीण्येकेन बाणेन युगपत्केन च वीर्यवान् ।।३।।
सनत्कुमार उवाच- शिवात्मजेन स्कन्देन निहते तारकासुरे।
तत्पुत्रास्तु त्रयो दैत्याः पर्यतप्यन्मुनीश्वर ।।७।।
तारकाक्षस्तु तज्ज्येष्ठो विद्युन्माली च मध्यम
कमलाक्षः कनीयांश्च सर्वे तुल्यबलास्तदा ।।८।।
ते तु मेरु-गुहां गत्वा तपश्चक्रुर्महदद्भुतम्।
त्यक्त्वा सर्वान्सभोगांश्च विहाय सुमनोहरान् ।।१०।।
तेपुस्त्रयस्ते तत्पुत्रा विधिमुद्दिश्य सत्तमाः ।।१८।।

वरयाचना :

देत्य बोले- "यदि आप प्रसन्न हैं। हमें वर देना चाहते हैं तो हमें सब प्राणियों में अवध्यता प्रदान कीजिए। हम तीनों अजरामर हो जावें। हम अन्य सभी को मार डालेंगे"।

ब्रह्मा ने कहा - "सर्वामरत्व तो है ही नहीं। अतः इस वर को छोड़ दो। कोई दूसरा अभीष्ट वर मांगो"।

दैत्य बोले - "तीन अद्भुत पुरों का निर्माण करके हमें प्रदान कीजिए। वे समृद्धि से पूर्ण तथा देवों से अजेय होवें। तारकाक्ष ने अभेद्य स्वर्णपुर, कमलाक्ष ने राजत तथा विद्युन्माली ने वज्रायसमयपुर की याचना की"। दैत्यों ने पुनः ब्रह्मा से कहा- "जब वह त्रिपुर एकस्थ हों, मध्याह्न में चन्द्रसूर्य के एकत्र स्थित होने पर, अभ्राच्छन्न आकाश में त्रिपुरों के अनुक्रम से दीखने पर, पुष्करावर्तादि काल-मेघ जब वर्षा कर रहे हों और सहस्र वर्षों के अन्त में हमारे मिलने पर ही, जब यह पुर मिल रहे हों, तब सर्वदेव-मय कोई देव एक असम्भव रथ में बैठकर, और वह रथ

----- प्रादुरासीत्ततो ब्रह्मा सुरासुरगुरुर्महान् ।
सन्तुष्टस्तपसा तेषां वरं दातुं महायशाः ॥२५॥

ब्रह्मोवाच- "प्रसन्नोऽस्मि महादैत्या युष्माकं तपसा सुतै ।
सर्वं दास्यामि युष्मभ्यं वरं ब्रूत यदीप्सितम्" ॥२६॥

१- दैत्या ऊचुः- "यदि प्रसन्नो देवेशस्त्वदस्यो वरस्त्वया ।
अवध्यत्वं च सर्वेषां सर्वभूतेषु देहिनः ॥३०॥
अजरास्त्वामराः सर्वे भवाम इतनो महान् ।
वयमत्यव: कारिष्यामस्सर्वानन्यांस्त्रिलोकके" ॥३२॥

ब्रह्मोवाच- "नास्ति सर्वामरत्वं च निवर्तध्वमतो सुराः ।
अन्यं वरं वृणीध्वं वै यादृशं हि वो रोचते" ॥३६॥

दैत्या ऊचुः - पुराणि त्रीणि नो देहि निर्माय त्वद्भुतानि हि ।
सर्वसम्पत्समृद्धान्यप्रधृष्याणि दिवौकसाम् ॥४४॥
तारकाक्षस्ततः प्राह स्वमेव सुरैरपि ।
करोतु विश्वकर्मा तन्मम हेममयं पुरम् ॥
कमलाक्षो कमलाक्षस्तु राजतं सुमहत्पुरम् ।
विद्युन्माली च संहृष्टो वज्रायसमयं महत् ॥

भी सभी उपकरणों से युक्त हो, एक आश्माव्य काण्ड वाले बाण से हमारे नगरों को बींधे। वह हमसे स्पर्धा द्वेष न करने वाला तथा तपस्वी हो। दैत्यों के उन वचनों को सुनकर ब्रह्मा ने ऐसा ही हो, उनसे कहा। मय को भी तीन नगरों के निर्माण करने की आज्ञा दी। मय ने तारकाक्ष के लिए कांचनपुरी, कमलाक्ष के लिए राजत तथा विद्युन्माली के लिए आयसपुरी का निर्माण कर दिया। स्वर्ग-आकाश-भूमि पर वे क्रमशः थीं। उन तीनों को सुखपूर्वक राज्य करते हुए बहुत-सा काल बीत गया।

देवक्षोभ[१] :

त्रिपुरों के तेज से दग्ध इन्द्रादि देव, दुःखी हो, ब्रह्मा के पास गए। साष्टांग प्रणाम करके, देवों ने, यथावसर, स्व-दुःख का निवेदन किया।

पुरेष्वेतेषु भो ब्रह्मन्नेकस्थानस्थितेषु च ।
मध्याह्नाभिजितो काले शीतांशौ पुष्यसंस्थिते ।।
उपर्युपरि दृष्टेषु व्योम्नि लीलाभ्रसंस्थिते ।
वर्षत्सु कालमेघेषु पुष्करावर्तनामसु ।।
तथा वर्षसहस्रान्ते समेष्याम: परस्परम् ।
एकीभावं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि नान्यथा ।।
सर्वदेवमयो देवस्सर्वेषां मे कुलेशया ।
आश्मवे रथेतिष्ठन् सर्वोपकरणान्विते ।।

१- अश्माव्येक काण्डेन भिनत्तु नगराणि न: ।
निर्वैर: कृत्तिवासस्तु योऽस्माकमिति नित्यश: ।।४६-५३।।

सनत्कुमार उवाच- एतच्छ्रुत्वा वचस्तेषां ब्रह्मा लोक पितामह: ।
एवमस्त्विति तान् प्राह सृष्टिकर्ता स्मरन्शिवम् ।।५४।।
आज्ञां ददौ मयस्यापि कुरुष्व नगरत्रयम् ।
कांचनं राजतं चैव आयसं चेति भो मय ।।५५।।
ततोमयश्च तपसा चक्रे धीर: पुराण्यथ ।
कांचनं तारकाक्षस्य कमलाक्षस्य राजतम् ।।५७।।
विद्युन्माल्यायसं चैव त्रिविधं दुर्गमुत्तमम् ।
स्वर्गे व्योम्नि च भूमौ च क्रमाज्ज्ञेयानि तानि वै ।।५८।।

शिव ने कहा- 'यह त्रिपुराधिप धर्मपूर्वक रहता है। धर्मात्मा का हनन बुद्धिमान् को नहीं करना चाहिए। मैं देवों के कष्ट को भी जान रहा हूं। सुरासुरों के द्वारा वे दैत्य अजेय हैं। वे मेरे भक्त भी हैं। मैं उन्हें कैसे मार सकता हूं। धर्मज्ञ आप ही इस बात का विचार करें'।

विष्णु का सहाय :

तब देव शिव जी के यहां से निराश होकर शोभायुक्त स्वर्ग में विष्णु के पास गए। उन्हें श्रद्धा से नमस्कार किया। तदनन्तर पूर्ववत् स्व-दु:ख का निवेदन किया। देवों की विपत्ति, दैत्यों को वरदान तथा उन :दैत्यों: की प्रतिज्ञा जानकर विष्णु ने कहा- 'यह सत्य है कि सत्यधर्म की स्थिति में दु:ख नहीं हो सकता, जैसे कि सूर्य के रहते अन्धकार नहीं रह सकता।' इसपर देव बोले- 'भगवन्। इस सबसे क्या। या तो शीघ्र ही त्रिपुरों के विनाश का उपाय कीजिए अथवा फिर अकाल में ही देवक्षय होगा'। विष्णु ने विचार

देवा ऊचु: - 'नमो हिरण्यगर्भाय सर्वसृष्टिविधायिने।
नम: स्थितिकृते तुभ्यं विष्णवे प्रभविष्णवे ।। २।१०-१३।।
यावन्न क्षीयते दैत्यैर्घोरैस्त्रिपुरवासिभि:।
तावद्विवर्धयितां भीतिर्यया संरक्ष्यतां जगत्' ।। २।६२

शिव उवाच- 'अयं वै त्रिपुराध्यक्ष: पुण्यवान् वर्तते ऽधुना।
यत्र पुण्यं प्रवर्तेत न हन्तव्यो बुधै: क्वचित् ।।
जानामि देवकष्टं विबुधा: सकलं महत्।
दैत्यास्ते प्रबला हन्तुमशक्या सुरासुरै: ।। ३।१-२।।
मम भक्तास्तु ते दैत्या: भयावध्या: कथं सुरा: ?
विचार्यतां भवद्भिश्च धर्मज्ञैरेव धर्मत: ।। ३।६

------ ततो विधिं पुरस्कृत्य सर्वे देवा: सवासवा:।
वैकुण्ठं प्रययु: शीघ्रं सर्वं शोभासमन्वितम् ।।
तत्र गत्वा हरिं दृष्ट्वा प्रणेमुर्नतिसंभ्रमा:।
तुष्टुवुश्च महाभक्त्या कृतांजलिपुटा: सुरा: ।।
स्वदु:खकारणं सर्वं पूर्ववत्तदनन्तरम्।
न्यवेदयन् दु:खं तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ।।

किया कि देवों के सहायक मेरे द्वारा क्या किया जाना चाहिए ? तारकपुत्र वे दैत्य शिवभक्त हैं । यह सब सोचते हुए विष्णु ने तत्काल ही यज्ञों का स्मरण किया । विष्णु के स्मरणमात्र से यज्ञ उनके सम्मुख उपस्थित हो गए । उन यज्ञों को देखकर अच्युत ने इन्द्रादि देवों से कहा- 'इनसे, हे देवों ! सदा, त्रिपुरविनाश तथा विभूतिलाभ के लिए, शिव का यजन किया करो' । सनत्कुमार बोले कि देवों ने, उस यज्ञपुरुष की, स्तुति करके, विधि-विधान पूर्वक पूजा की । तब उस यज्ञकुण्ड से महाकाय प्राणी उत्पन्न हुए, जो शूल-शक्ति-गदायुधधारी थे । तब प्रणाम करके सामने खड़े हुए उन भूतों को त्रिलोकपालक विष्णु ने कहा- 'हे भूतों ! मेरी वाणी सुनो- तुम सब अत्यन्त बलवान हो, तुम्हें देवकार्य करना है । तुम शीघ्र ही त्रिपुरों को जाओ और उन त्रिपुरों को नष्टभ्रष्ट करके लौटो,

---

देवदुःखं ततः श्रुत्वा दर्पं च त्रिपुरालये ।
ज्ञात्वाद्भुतं च तेषां तद्विष्णुर्वचनमब्रवीत् ।।

विष्णुरुवाच - 'इदं सत्यं भवत्येव यज्ञधर्मः सनातनः ।
तद्दुःसंगात्परित्यक्ते यथा तमः' ।। ३।१०-१३।।

देवा ऊचुः - 'किं वा ते त्रिपुरस्थैश्च बध्यश्चैव विधीयताम् ।
नो चेदकालिकी देवसंहतिः क्रियतां ध्रुवम्' ।। ३।१७ ।।

सनत्कुमार उवाच- 'किं कार्यं देवकार्येषु मया देवसहायिना ।
शिवभक्तास्तु ते दैत्यास्तारकस्य सुता इति ।।
इति संचिन्त्य तत्काले विष्णुना प्रभविष्णुना ।
ततो यज्ञाः स्मृतास्तेन देवकार्यार्थमव्ययाः ।।
तद्विष्णुस्मृतिमात्रेण यज्ञास्ते तत्क्षणं द्रुतम् ।
आगतास्तत्र यत्रास्ते श्रीपतिः पुरुषोत्तमः ।। ३।२०-२२।।
भगवानपि तान् दृष्ट्वा यज्ञान्प्राह सनातनान् ।
सनातनस्तदा सेन्द्रान्देवानालोक्य चाच्युतः' ।।

विष्णुरुवाच- 'अनेनैव सदा देवा यजध्वं परमेश्वरम् ।
पुरत्रयं विनाशाय जगत्त्रयविभूतये' ।। ३।२४-२५।।

सनत्कुमार उवाच- 'एवं स्तुत्वा ततो देवा अयजन्यज्ञपुरुषम् ।
यज्ञोक्तेन विधानेन सम्पूर्णविधया मुने ।।
ततस्तस्माद्यज्ञकुण्डात्समुत्पेतुस्सहस्रशः ।
भूतसंघा महाकाया शूलशक्तिगदायुधाः ।। ३।२७-२८ ।।

तब यथास्थान जाना" । सनत्कुमार बोले- "विष्णु के उन वाक्यों को सुनकर वे भूतगण, भगवान् को नमस्कार करके दैत्यत्रिपुरों की ओर चल दिए । वहां पहुंचते ही वे, त्रिपुराधिप के तेज में प्रवेश करके, पावक में शलभवत्, भस्मसात् हो गए । शेष लौटकर, क्रन्दन करते हुए, हरि के निकट पहुंचे । उनको देख तथा सब वृत्तान्त सुनकर विष्णु ने विचार किया कि अब आत्ममाया से दैत्यों के धर्म का विघात करके, देवकार्य के निमित्त, त्रिपुर को क्षणमात्र में हरण करूंगा । उन्होंने उन भूतगणों से कहा कि आप स्व-स्व स्थान को प्रस्थान करें । मैं शीघ्र ही स्वमति से देवकार्य अवश्य करूंगा । मैं यत्न से उन्हें शिवधर्महीन बना दूंगा । शिव, उन्हें स्वधर्महीन जानकर, उनका नाश कर देंगे । सनत्कुमार बोले कि विष्णु की आज्ञा से, आश्वस्त, देवगण स्व-स्व धाम को चल दिए । ब्रह्मा भी, प्रसन्न हो, चले गए । तब विष्णु ने क्या यत्न किया, वह सुनो, वह पुनः सर्वपापों का विनाश करने वाला है ।

विष्णुमाया[१] :

विष्णु ने एक तेजस्वी पुरुष को अपने में से उत्पन्न किया ।

दृष्ट्वा तानब्रवीद्विष्णुः प्रणिपत्य पुरःस्थितान् ।
भूतान् यज्ञपतिः श्रीमान्रुद्राज्ञाप्रतिपालकः ॥
विष्णुरुवाच- भूताः शृणुत मद्वाक्यं देवकार्यार्थमुद्यताः ।
गच्छन्तु त्रिपुरं सर्वे हि बलवत्तराः ॥
गत्वा दग्ध्वा च भित्त्वा च भंक्त्वा दैत्यपुरत्रयम् ।
पुनर्यथागता भूता गन्तुमर्हथ भूतये ॥
१- सनत्कुमार उवाच- तच्छ्रुत्वा भगवद्वाक्यं ततो भूतगणाश्च ते ।
प्रणम्य देवदेवं तं ययुर्दैत्यपुरत्रयम् ॥
गत्वा तत्र प्रविष्टास्ते त्रिपुराधिपतेजसि ।
भस्मसादभवन्सद्यः शलभा इव पावके ॥
अवशिष्टाश्च ये केचित्पलायनपरायणाः ।
निःसृत्य ते समायाता हरेर्निकटमाकुलाः ॥
तान्दृष्ट्वा स हरिः श्रुत्वा तद्वृत्तमशेषतः ।
चिन्तयामास भगवान्मनसा पुरुषोत्तमः ॥ ३।२९-३६ ॥

वह दैत्यों के धर्म का विघात करने वाला था। वह मुण्डी, कमण्डली तथा मलिन वस्त्र था। पुंजिका को हाथ में लिए हुए और उसे पद-पद पर चलाते हुए तथा वस्त्रयुक्त हाथ को बार-बार मुख में देनेवाले एवं विक्लवा वाणी से सदा "धर्म-धर्म" रटने वाले पुरुष को बनाया था। वह विष्णु को नमस्कार करके सम्मुख खड़ा हुआ और बोला- "मैं क्या करूं? मेरा पद या स्थान क्या है? विष्णु बोले- तुम जिस निमित्त से बनाए गए हो, वह मैं कहता हूं, सुनो - तुम मुझसे उत्पन्न हुए हो, बड़े ही बुद्धिमान् हो और तुम मेरे स्वरूप वाले हो। हे माया-मय तुम १६ लक्षवाला मायामय शास्त्र बनाओ, जो श्रौत-स्मार्त धर्मों के विरुद्ध हो, वर्णाश्रमधर्म से भी रहित हो, जो अपभ्रंश भाषामय हो और जिसमें "कर्मवाद" का बाहुल्य हो। तुम प्रयत्न से इस प्रकार के शास्त्र का निर्माण करो। उसका

ततः कृत्वा धर्मविघ्नं तेषामेवात्ममायया।
दैत्यानां देवकार्यार्थं हरिष्ये त्रिपुरं क्षणात्" ॥३।४५

विष्णुरुवाच- "हे देवाः सकला यूयं गच्छत स्वगृहान्ध्रुवम्।
देवकार्यं करिष्यामि यथामति न संशयः॥
तान्रुद्राद्विमुखान् नूनं करिष्यामि सुयत्नतः।
स्वभक्ति-रहितान् ज्ञात्वा तान् करिष्यति भस्मसात्" ॥

सनत्कुमार उवाच- "तदाज्ञां शिरसाधायाश्वासितास्तेऽमरा मुने।
स्व-स्वधामानि विश्वस्ता ययुर्ब्रह्मापि मोदिताः॥
ततश्चैवाकरोद्विष्णुर्देवार्थं हितमुत्तमम्।
तदेव श्रूयतां सम्यक् सर्वपापप्रणाशनम्॥ ३।५१-५४॥
असृजच्च महातेजः पुरुषं स्वात्मसम्भवम्।
एकं मायामयं तेषां धर्म-विघ्नार्थमच्युतः॥
मुण्डिनं म्लानवस्त्रं च गुम्फिकपात्र-समन्वितम्।
दधानं पुंजिकां हस्ते चालयन्तं च पदे पदे॥
वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं क्षीयमाणं मुखे सदा।
धर्मेति व्याहरन्तं हि वाचा विक्लवया मुनिम्॥
स नमस्कृत्य विष्णुं तं तत्पुरः संस्थितोऽथ वै।
उवाच वचनं तत्र हरिं स प्रांजलिस्तदा॥

बड़ा प्रचार-विस्तार होगा । यह सब त्रिपुर में वास करने वाले दैत्य मोहित बना दिए जायं । वे निश्चय ही तुम्हारे द्वारा नवीन धर्म में दीक्षित किए जायें और प्रयत्न से उन्हें यह शास्त्र पढ़ाया जाय । तुम यह सब मेरी आज्ञा से करोगे, अतः तुम्हें पाप न होगा । हे मुण्डिन् । अब तुम त्रिपुरों के विनाशार्थ जाओ । तमोधर्म का प्रचार करके, शीघ्रातिशीघ्र पुरत्रय का विनाश सिद्ध करो ।

मायापुरुष[१] :

सनत्कुमार बोले- तब शिव की आज्ञा का पालन करने वाले उन कृष्ण को नमस्कार करके वह मायावी पुरुष शीघ्र ही त्रिपुरों की ओर चल दिया । विष्णु के द्वारा प्रेरित उस वश्यात्मा ने शीघ्रता से पुर में प्रवेश किया । उस माया-ऋषि ने तब वहां स्वमाया प्रकट की । त्रिपुराधिप बोला- हे निर्मलाशय ऋषि, आप मुझे दीक्षा दीजिए । आपका मैं शिष्य बनूंगा । मुण्डी

उरिरन्नच्युतमुच्य किं करोमि तदादिश ।

कानि नामानि मे देव स्थानं वापि वद प्रभो ।।४।१-५।।

विष्णुरुवाच- यदर्थं निर्मितोऽसि त्वंनिबोध कथयामि ते ।

मदंगज महापात्रः मद्रूपपरत्वं न संशयः ।। ४।७।।

मायिन्मायामयं शास्त्रं तत्षोडशसहस्रकम् ।

श्रौतस्मार्तविरुद्धं च वर्णाश्रम-विवर्जितम् ।।

अपभ्रंशमयं शास्त्रं कर्मवादमयं तथा ।

रचयेति प्रयत्नेन तद्विस्तारो भविष्यति ।। ४।१०-११ ।।

मोहनीया इमे दैत्याः सर्वे त्रिपुरवासिनः ।। ४।१६ ।।

कार्यास्ते दीक्षिता नूनं पाठनीयाः प्रयत्नतः ।

मदाज्ञया न दोषस्ते भविष्यति महामते ।। ४।१६-१७।।

गन्तुमर्हसि नाशार्थं मुण्डिंस्त्रिपुर-वासिनाम् ।

तमोधर्मं सं-प्रकाश्य नाशयस्व पुरत्रयम् ।। ४।१९ ।।

१- सनत्कुमार उवाच- ततः प्रणम्य तं मायी शिष्ययुक्तस्तदा स्वयम् ।

जगाम त्रिपुरं सद्यः शिवेच्छाकारिणं मुदा ।।

प्रविश्य तत्पुरं तूर्णं विष्णुना नोदितो वशी ।

महामायाविना तेन ऋषिमायां तदाकरोत् ।। ४।३७-३८।।

बोला - "हे दैत्येन्द्र ! तुम सर्वधर्मों में उत्तम इस दीक्षा को अवश्य ग्रहण करो। तुम इस दीक्षा के ग्रहण से कृतार्थता प्राप्त करोगे। उस मायावी तथा उसके शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा तब वह त्रिपुर शीघ्र ही व्याप्त कर लिया गया। उनका उपदेश था- १. अहिंसा परम धर्म है, २. स्वात्मा को पीड़ा देना पाप है, ३. अपराधीनता ही मुक्ति है तथा ४. स्वाभिलाषित भोजन करना ही स्वर्ग है। उस मायावी ने त्रिपुर के वेदधर्म, दूर कर दिए। शिव की इच्छा से प्रजाओं सहित त्रिपुरराज भी उस मायावी के प्रति सर्वथा कुण्ठित सामर्थ्य था "।

पुनः शिवदर्शन :

तदनन्तर अन्य देवताओं के साथ हरि उसका चरित्र बताने के लिए शिव जी के पास पहुंचे। विष्णु ने भगवान् शिव की, महेश्वर-रुद्र-नारायण-ब्रह्मरूप को नमस्कार है, आदि बड़ी स्तुति की। तब देवों को देख, हरि पर कृपा करते हुए, शिव बोले- सुरेश्वर ! अब मैं देवकार्य, विष्णु तथा नारद का माया-

---

त्रिपुराधिप उवाच - "दीक्षां देया त्वया मह्यं निर्मलाशय भो मुने ।
अहं शिष्यो भविष्यामि सत्यं सत्यं न संशयः" ।। ५।५५।।

मुण्ड्युवाच- "दीक्षां गृहाण दैत्येन्द्र सर्वधर्मोत्तमोत्तमाम् ।
येन दीक्षाविधानेन प्राप्स्यसि त्वं कृतार्थताम् ।। ५।६१।।
मुनेः शिष्यैः प्रशिष्यैश्च व्याप्तमासीद् द्रुतं तदा ।
महामायाविनस्तस्य त्रिपुरं सकलं मुने ।। ५।६४।।
------ अहिंसा परमो धर्मः पापमात्मप्रपीडनम् ।
अपराधीनता मुक्तिः स्वर्गोऽभिलषिताशनम्" ।। ५।१८।।

सनत्कुमार उवाच- "किं बहुक्तेन विप्रेन्द्र ! त्रिपुरं तेन मायिना ।
वेदधर्माश्च ये केचित्ते सर्वे दूरतः कृताः ।। ५।५४ ।।
आसीत्कुण्ठितसामर्थ्यो दैत्यराजोऽपि मायिने ।
प्रजाभ्यां सहितस्तत्र मयेन च शिवेच्छया ।। ५।६३।।
-------- कृतार्थ इव तदधीशो देवैस्सार्धमुमापतिम् ।
निवेदितुं तच्चरितं कैलासमगमद् हरिः" ।। ६।३ ।।

विष्णुरुवाच- "महेश्वराय देवाय नमस्ते परमात्मने ।
नारायणाय रुद्राय ब्रह्मणे ब्रह्मरूपिणे" ।। ६।६ ।।

रूप में जान लिया । उन अधर्मनिष्ठ दैत्यों तथा त्रिपुरों का मैं विनाश स्वीकार करता हूं, इसमें संशय न करना चाहिए । एक दिव्य सारथी के साथ दिव्यरथ नहीं है और संग्राम में जयकारक बाणादि भी नहीं हैं ।

रथवर्णन[1] :

सनत्कुमार बोले- "अब ब्रह्मा-इन्द्र-उपेन्द्रादि सहित सब देव अत्यन्त प्रसन्न होकर, महेश्वर को नमस्कार करके, बोले कि युद्ध के लिए औचित्य रथ-बाणादि का स्वरूप हम स्वयं धारण करते हैं"। देवों की इस वाणी को सुनकर भक्तवत्सल शिव ने उसे स्वीकार कर लिया । विश्वकर्मा ने शिव के लिए एक दिव्यरथ बनाया । वह सर्वलोकमय था, उसमें सर्वभूत अधिष्ठित थे, वह सर्व-सम्मत सोने का था. चन्द्र-सूर्य उसके वाम-दक्षिण चक्र थे, दक्षिण-वाम चक्र में क्रमशः १२-१६ अरायें थीं, १२ अरायें द्वादशादित्य थे और १६ अराएं चन्द्रमा की

सनत्कुमार उवाच - "अथदेवान्समालोक्य कृपादृष्ट्या हरिं हर: ।
प्राह गम्भीरयावाचा प्रसन्न: पार्वतीपति: " ।।

१- शिवउवाच- "ज्ञातंमयेदमखिलं देवकार्यं सुरेश्वर ।
विष्णोर्मायाबलं चैव नारदस्य च धीमत: ।।
तेषामधर्मनिष्ठानां दैत्यानां देवसत्तमा: ।
पुरत्रयविनाशं च करिष्येऽहं न संशय: ।। ५।३३-३५ ।।
रथो नास्ति महादिव्यस्तादृक् सारथिना सह ।
धनुर्बाणादिकं चापि संग्रामे जयकारकम्" ।। ५।५१ ।।

सनत्कुमारउवाच- "अथ सब्रह्मकादेवास्सेन्द्रोपेन्द्रा: प्रहर्षिता: ।
श्रुत्वा प्रभोस्तदावाक्यं नत्वा प्रोचुर्महेश्वरम्" ।।

देवा ऊचु: - "वयंभवामदेवेश तत्प्रकारा महेश्वर ।
रथादिकास्तव स्वामिन्संनद्धा:संगराय हि" ।। ५।५३-५४ ।।

सनत्कुमारउवाच- "एतच्छ्रुत्वा तु सर्वेषां देवादीनां वचो हर: ।
अंगीचकार सुप्रीत्या शरण्यो भक्तवत्सल: ।। ७।१ ।।
अथदेवस्यरुद्रस्य निर्मितो विश्वकर्मणा ।
सर्वलोकमयो दिव्यो रथो यत्नेन सादरम् ।।
सर्वभूतमयश्चैव सौवर्णस्सर्वसंमत: ।
रथांगं दक्षिणं सूर्यस्तद् वामं चन्द्र एव च ।।

१६ कलाएं। कृत्तिका :नक्षत्र: भी वामचक्र की शोभा बढ़ाते थे, षड्ऋतुएं ६ नेमियां, अन्तरिक्ष रथ का पुष्करप्रदेश और मन्दराचल रथ का नीड-प्रदेश था। संवत्सर उस रथ के वेग थे, चक्रसंगम ही 'अयन' थे, उसके 'बन्धुर' मुहूर्त थे, कलाएं उसकी शम्या थीं, काष्ठाएं घोणा तथा क्षण 'अक्षदण्ड' थे। निमेष 'अनुकर्ष' एवं अनुलव 'ईषा' थे। द्यु रथ का 'वरूथ' था थी, स्वर्ग-मोक्ष दोनों ध्वजाएं थीं, भ्रमकामदुघ उसके युगान्तकोटि थे, 'ईषादण्ड' व्यक्त :महदादि: थी, उसका 'मण्डल' वृद्धि :बुद्धि लिं० पु०: थी, अहंकार ही उसकी कोणा थी, भूतवर्ग उसके बल थे, इन्द्रियां उसका भूषण थीं, उसकी 'गति' श्रद्धा थी, पदभूषण एवं षडंग उपभूषण थे। पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और सुव्रत-वर उसके बलाश्रय थे। मंत्र उनके घण्टे, आश्रम वर्णपाद, सहस्रफणभूषित अनन्तनाग ही

दक्षिणं द्वादशारं हि षोडशारं तथोत्तरम्।
अरेषु तेषु विप्रेन्द्र आदित्या द्वादशैव तु॥
शशिनः षोडशारस्तु कला वामस्य सुव्रत।
ऋक्षाणि तु तथा तस्य वामस्यैव विभूषणम्॥
ऋतवो नेमयः षट् च तयोर्वै विप्रपुंगव।
पुष्करं चान्तरिक्षं वै रथनीडस्तु मन्दरः॥
अस्ताद्रिरुदयाद्रिस्तु तावुभौ कूबरौ स्मृतौ।
अधिष्ठानं महामेरुराश्रयः केसराचलाः॥
वेगः संवत्सरास्तस्य अयनौ चक्रसंगमौ।
मुहूर्ता बन्धुरास्तस्य शम्याश्चैव कलाः स्मृताः॥
तस्य काष्ठाः स्मृताः घोणाश्चाक्षदण्डाः क्षणाश्च वै।
निमेषाश्चानुकर्षश्च ईषाश्चानुलवाः स्मृताः॥
द्यौर्वरूथं रथस्यास्य स्वर्गमोक्षावुभौ ध्वजौ।
युगान्तकोटितौ तस्य भ्रमकामदुघौ स्मृतौ॥
ईषादण्डस्तथा व्यक्तं वृद्धिस्तस्यैव मण्डलः। वृद्धि बु :लिं०पु०:
कोणास्तस्यांऽप्यहंकारो भूतानि च बलं स्मृतम्॥
इन्द्रियाणि च तस्यैव भूषणानि समन्ततः।
श्रद्धा च गतिस्तस्यैव रथस्य मुनिसत्तम॥
पदानि भूषणान्येव षडंगान्युपभूषणम्।
पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि सुव्रताः॥

उसका बन्धन था, दिशोपदिशाएं उसके पद थे, पुष्करावर्तादि मेघ उसकी रत्न-भूषित सौवर्णपताकाएं थीं, चार समुद्र उसके रथकम्बल थे और गंगादि श्रेष्ठ नदियां, स्त्रीरूपशोभिता, छत्राग्र चामरधारिणी थीं, यह सब जहां-तहां स्थान ग्रहण करके उस रथ की शोभा बढ़ा रहे थे। आवह-प्रवहादि सप्तवायु उसके सप्त-स्वर्णसोपान थे। लोकालोकपर्वत उसका चतुर्दिक् उपसोपान था। विषम तथा मानसादि उसके बाह्य सोपान थे। सब वर्ष-पर्वत उस रथ के पाशभूत हो रहे थे। तलतलवासी प्राणी उस रथ के तलभूत थे। ब्रह्मा सारथि थे तथा शेष सभी देव रश्मियों को पकड़ने वाले थे। ब्रह्मदैवत प्रणव ही ब्रह्मा का प्रतोद :चाबुक: था। अकार उसका महाछत्र और मन्दराचल उसके पार्श्व का महादण्ड था। शैलेन्द्रपर्वत शिव का धनुष तथा नागराज वासुकि उसकी प्रत्यंचा थे। श्रुतिरूपिणी सरस्वती

कलाशया वराश्चैव सर्वलक्षणसंयुताः ।
मंत्रा घण्टाः स्मृतास्तेषां वर्णपादास्तदाश्रमाः ॥
अधो बन्धो ह्यनन्तस्तु सहस्रफणभूषितः ।
दिशः पादा रथस्यास्य तथा चोपदिशश्च ॥
पुष्कराद्याः पताकाश्च सौवर्णा रत्नभूषिताः ।
समुद्रास्तस्य चत्वारो रथकम्बलिनस्स्मृताः ॥
गंगाद्याः सरितश्रेष्ठाः सर्वाभरणभूषिताः ।
चामरासक्तहस्ताग्रास्सर्वास्स्त्रीरूपशोभिताः ॥
तत्र तत्र कृतस्थानाः शोभयाञ्चक्रिरे रथम् ।
आवहाद्यास्तथा सप्त सोपानं हैममुत्तमम् ॥
लोकालोकाचलस्तस्योपसोपानस्समन्ततः ।
विषमश्च तथा बाह्यो मानसादिस्तु शोभनः ॥
पाशास्संवर्तकास्तस्य सर्वे वर्षाचलास्स्मृताः ।
तलास्तस्य रथस्याथ सर्वे तलनिवासिनः ॥
सारथिर्भगवान् ब्रह्मा देवा रश्मिधरास्स्मृताः ।
प्रतोदो ब्रह्मणस्तस्य प्रणवो ब्रह्मदैवतम् ॥
अकारश्च महच्छत्रं मन्दरः पार्श्वदण्डकम् ।
शैलेन्द्रः कार्मुकं तस्य ज्या भुजंगाधिपस्स्वयम् ॥

देवी उस धनुष की घण्टा थीं । स्वयं तेजस्वी विष्णु ही उसके बाण थे । तेजस्वी अग्नि उस बाण का शल्य थी । चार वेद ही उसके चार अश्व थे । व्यासादि ऋषि वाह्यवाह थे । संक्षेपत: यही कि विश्व की समस्त वस्तुएं उस रथ में विद्यमान थीं । विष्णु एवं ब्रह्मा की आज्ञा से विश्वकर्मा के द्वारा इस प्रकार का वह दिव्यरथ बनाया गया था । उस ऐसे रथ में वेदरूपी अश्वों को जोत कर शिव के पास ब्रह्मा ले गए । निवेदन करके उस पर शिव को बैठाया । विष्णु आदि से सम्मत था तथा शिव के उस रथ में बैठने पर वेदाश्व गतिशील हुए । रथ के चलते ही भूमि कांपने लगी । सकल महीधर डगमगा उठे । शेषनाग भी कांप उठे । वे जैसे-तैसे, उस समय, बड़ी व्याकुलता से पृथ्वी का भार धारण कर रहे थे ।

घण्टा सरस्वती देवी धनुष: श्रुतिरूपिणी ।
इषुर्विष्णुर्महातेजास्त्वग्नि: शल्यं प्रकीर्तितम् ।।
व्यासस्तस्य तथा प्रोक्ताश्चत्वारो निगमा मुने ।
ज्योतींषि भूषणं तेषामवशिष्टान्यत: परम् ।।
अनीकं विष-सम्भूतं वायवो वाजकास्स्मृता: ।
ऋषयो व्यासमुख्याश्च वाह्यवाहास्तथाभवन् ।।
स्वल्पाक्षरैस्संब्रवीमि किं बहूक्त्या मुनीश्वर ।
ब्रह्माण्डेऽस्ति यत्किंचिद्वस्तु तद्वैरथे स्मृतम् ।।
एवं सम्भृतसंस्तेन धीमता विश्वकर्मणा ।
स रथादिप्रकारो हि ब्रह्मविष्ण्वाज्ञया शुभ:" ।। ७।५-२०।।

सनत्कुमार उवाच- "ईदृग्विधं महादिव्यं नानाश्चर्यमयं रथम् ।
संनह्य निगमाश्वांस्तं ब्रह्मा प्रापयच्छिवम् ।।
शम्भवेऽसौ निवेद्याऽधिरोपयामास शूलिनम् ।
बहुश: प्रार्थितदेवेशं विष्ण्वादिसुर-सम्मतम् ।। ८।१-२।।
तस्मिन्नारोहति रथं कल्पितं लोकसम्भृतम् ।
शिरोभि:पतिता भूमौ तुरगा वेदसम्भवा: ।।
चचाल वसुधा चेलुस्सकलाश्च महीधरा: ।
चकंपे सहसा शेषो सोढा तद्भारमातुर:" ।। ८।६-७।।

अभियान[1] :

इस प्रकार रथस्थ हो शिव जी त्रिपुरों को मारने के लिए चल दिए। तब उनके साथ, देवगण भी हल-शाल-मुसल-भुशुण्डादि आयुधों को धारण किए हुए, चले। पुरत्रय को विनष्ट करने के लिए जाती हुई उस देवसेना की संख्या कौन कर सकता है। जो इस समग्र जगत् को दग्ध कर सकते हैं, वह :पिनाकी: त्रिपुर को दग्ध करने जा रहे थे। उनके लिए रथ, शर, गण तथा देवगणों के होने से भी क्या प्रयोजन है। गणाधिप को पूजकर वे चल दिए।

एवंविधो महेशानो महेशान्यखिलेश्वरः ।
जगाम त्रिपुरं हन्तुं सर्वेषां सुखदायकम् ।। ८।२७।।
हलैश्च शालैर्मुसलैर्भुशुण्डैर्गिरीन्द्रकल्पैर्गिरिसन्निभैश्च ।
नानायुधैस्संयुतवाहनस्तैः तदा नु हृष्टाः प्रययुः सुरेशाः ।।८।२८।।
पुरत्रयं विप्रेन्द्र व्रजन्सर्वे गणेश्वराः ।
तेषां संख्यां च कः कर्तुं समर्थो वच्मि कारयन् ।। ८।३१।।
दग्धुंजगत्सर्वमिदं समर्थः किन्त्वत्र दग्धुं त्रिपुरं पिनाकी ।
रथेन किं चात्र शरेण तस्य गणैश्च किं देवगणैश्च शम्भोः।।८।४१।।
तस्मिंस्थिते महादेवे पूजयित्वा गणाधिपम् ।
पुराणि तत्र कालेन जग्मुरेकत्वमाशु वै ।।
एकीभावं मुने तत्र त्रिपुरे समुपागते ।
बभूव तुमुलो हर्षो देवादीनां महात्मनाम् ।। ९।१४-१५।।
अभिजात्स्य मुहूर्ते तु विकृष्य धनुरुत्तमम् ।
कृत्वा ज्यावलनिर्घोषं नादमत्यन्तदुस्सहम् ।।
आत्मनो नाम विश्राव्य समाभाष्य महासुरान् ।
मार्तण्ड कोटिप्रभं काण्डकृत्तो मुमोच ह ।।
ददाह त्रिपुरस्थांस्तान्दैत्यांस्त्रीन्विमलापहः ।
स बाणो विष्णुमयो वह्निशल्यो महाज्वलन् ।।
ततःपुराणिदग्धानित्रुटितान्यभितस्तदा ।
गतानि युगपद् भूमिं त्रीणि दग्धानि भस्मशः ।। ९।२५-२८ ।।
स्त्रियो वा पुरुषा वापि वाहनानि च तत्र वै ।
सर्वे तेऽग्निना दग्धाः कल्पान्ते तु जगद्यथा ।। ९।३५।।

त्रिपुरवध :

तब शीघ्र ही समय पाकर त्रिपुर भी एकीभाव को प्राप्त हुए । त्रिपुरों के एकीभाव प्राप्त होते ही देवादि-महात्माओं को बड़ा हर्ष हुआ । अभिलाष्यमुहूर्त में धनुष खींच, ज्या-निर्घोष करते हुए, अपना नाम उच्चस्वर से बोलकर, असुरों से सम्भाषण करके शिव जी ने उस विकराल बाण को छोड़ा । उसने त्रिपुरों में स्थित सभी को जला दिया । जैसे कल्पान्त के समय में जगत् के सभी स्थावर-जंगम प्रलयाग्नि में जलकर भस्मसात् हो जाते हैं, वैसे ही विष्णुमय-शर तथा अग्निशल्य-बाण-ज्वाला में त्रिपुर के आबालवृद्धवनिता जलकर भस्म हो गए। वहां जो दैत्य बन्धुओं सहित रुद्र की पूजा करते थे, वे शिवभक्ति के प्रभाव से गणत्व को प्राप्त हुए[1] ।

देवप्रस्थान :

तब ब्रह्मा, हरि, देव, मुनि, गन्धर्व, किन्नर तथा मनुष्य आदि सब शिव की प्रशंसा का गान करते हुए स्वस्व गृहों को गए । घरों में पहुंच कर सब परमानन्द को प्राप्त हुए[1] ।

१- "ये पूजकास्तत्रापि दैत्या रुद्रं सबान्धवाः ।
गाणपत्यं ययुः सर्वे शिव पूजाविशेषतः ।। ५४ ।।
ततो ब्रह्मा हरिर्देवा मुनिगन्धर्वकिन्नराः ।
नागाः सर्पाश्चाप्सरसः संहृष्टाश्चाथ मानुषाः ।।
स्वं-स्वं स्थानं मुदा जग्मुः संस्तवः शांकरं यशः ।
स्वं-स्वं स्थानमनुप्राप्य निर्वृतिं परमां ययुः" ।। १२।३८

शि० पु०, रु० सं० २, पं० अध्या०, खण्ड १ से १२ तक ।

श्रीकण्ठ चरित एक महाकाव्य है

: प्रबन्धकौशल :

श्रीकण्ठ चरित नाम का औचित्य :

महाकाव्य का नाम[१] नायक आदि के नाम पर होता है। 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य का नाम भी मुख्य कथानायक श्री भगवान् श्रीकण्ठ के नाम पर ही रक्खा गया है।

'शिव जी के अनेकानेक नामों में से कवि ने यह 'श्रीकण्ठ' नाम ही क्यों चुना' यह प्रश्न भी विचारणीय है। कवि को इस काव्यविशेष के प्रणयन की प्रेरणा स्वप्न में प्राप्त पितृ-आदेश से मिली है। स्वप्न में कवि ने स्वपिता को शिवत्व प्राप्त 'हरिहर' रूप में देखा था। वह अपने परम इष्टदेव शिव जी के इस हरिहर स्वरूप को विस्मृत नहीं कर पाता। वह इस स्वरूप को ही अपनी चाटूक्तियों से अजरामर बना देना चाहता है। अतः महाकाव्य का 'हरिहरचरित' नाम सम्भवतः कवि ने सोचा होगा। परन्तु 'हरिहर' पद में स्वाभीष्ट 'हर' पद बाद में पड़ता है। कवि की गुरुभक्ति इसे सहन नहीं कर सकी है। अतः दूसरा कोई ऐसा नाम चुनना है जो इस हरिहरस्वरूप का भी द्योतक हो और साथ ही केवल शिव जी का स्मारक हो। 'श्रीकण्ठ' एक ऐसा ही पद है। 'श्री= शोभा :लक्ष्मी च: कण्ठे यस्य सः, शिवः' इसका विग्रह होता है। इस पद में हरित्व स्मारित तो होता है, परन्तु अत्यन्त गौणरूप में। 'त्रिपुर का विनाश' एवं 'हालाहलभक्षण' यह दो कार्य भगवान् शिव जी के लोकोपकारक स्वरूप को अत्यन्त विशद कर देते हैं। हालाहल-पान से ही यह ज्ञात हो सका था कि सब देवताओं में अत्यन्त वीर्यवान् और शिल्पवान् कौन है। ऐसा ही कोई महाशक्तिशाली परमदेव ही इस त्रिपुर का भी विनाश कर सकता है।

१- कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥ सा० द० ६।३२१

इस 'हेतुहेतुमद्भाव' का द्योतन करने के लिए ही कवि ने इस नाम विशेष का चयन किया है।

कवि के इष्टदेव शिव जी 'हरिहरस्वरूप' हैं। उसके पिता ने अपनी परमाराधना से भगवान् के इसी स्वरूप का सायुज्य प्राप्त किया। 'पिता के आदर्श पर पुत्र मंखक (स्तोता, गायक) भी उन्हीं शिव का गुणगान करके उनके इस स्वरूप की प्राप्ति की अभिलाषा रखता है' यह ध्वनि भी कवि को अभिप्रेत-सी लगती है। भगवान् के ही यशोगायन की शोभा कविकण्ठ को सुशोभित कर रही है। यहाँ भी हेतुहेतुमद्भाव की झलक है।

अथवा 'श्रीकण्ठमठ' से सम्बन्ध होने के कारण शिव का श्रीकण्ठ नाम अधिक समीप समझ पड़ा और उसी के आधार पर कवि ने स्वमहाकाव्य का नाम 'श्रीकण्ठ चरित' रक्खा है।

<u>महाकाव्य का लक्षण-समन्वय :</u>

संस्कृत साहित्य में महाकाव्य का एक परम्परा प्राप्त स्वरूप होता है।

१- 'पितुर्विप्राणस्य स्मररिपुपरीवारपदवीं
नियोगेन स्वप्ने पदमुपगतेन श्रवण्योः।
प्रबन्धं सन्धायेत्यधिकविदुषस्तावधिनिरुप-
क्रमं मंखः सौख्यं किमपि हृदये कन्दलयति' ।। श्री०च० २५।१५२

२- 'सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।।
श्रृंगार-वीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।।
आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तु-निर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुण वर्णनम् ।।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।

श्रीकण्ठ चरित में महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं। यह २४+१ =२५ सर्गों का महाकाव्य है। इसके दिव्य नायक सुरश्रेष्ठ श्री शिव जी हैं। वे धीरोदात्त नायक के समस्त गुणों से युक्त हैं। वीर रस इस महाकाव्य में प्रधान रस है। शृंगार एवं अद्भुत रस उसके सहायक होकर आए हैं। मूलकथा वेद तथा पुराण सम्मत है। देवताओं के धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि ही इस त्रिपुर-दहन का लक्ष्य है। ग्रन्थारम्भ में महाकवि मंखक ने भगवान् शिव तथा अन्य देवताओं को नमस्कार किया है। कवि ने कामदेव तथा शंकर भक्ति कथा को भी नमस्कार किया है। दूसरे सर्ग में ही सज्जन प्रशंसा तथा दुर्जन-निन्दा का सुन्दर निबन्धन हुआ है। महाकवि मंखक ने किसी भी सर्ग में ४ से कम छन्दों-भेदों का प्रयोग नहीं किया है। सर्गान्त अधिकतर शार्दूलविक्रीडित या स्रग्धरा जैसे लम्बे वृत्तों में किया है। सबसे छोटा ४४ श्लोकों का २४ वां सर्ग तथा सबसे बड़ा ६७ श्लोकों का १२ वां सर्ग है। सर्गों का विस्तार शास्त्रानुकूल है। चौथे सर्ग में ११ तथा छठे सर्ग में १० वृत्तों का प्रयोग विचित्र है। सर्ग के अन्त में भावि कथा का संसूचन सर्वत्र नहीं है। संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, दिवस, अन्धकार, प्रातःकाल, मध्याह्न, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, सम्भोग-विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, पुर, रण, प्रयाण, मन्त्रणा और विजय आदि का यथाकार सुन्दर वर्णन हुआ है।

अर्थ-प्रकृतियां :

साधारणतया हर महाकाव्य में नाटक की सभी सन्धियों का होना अनिवार्य होता है।[1] नाटक की ही तरह महाकाव्यों के भी विभेदक वस्तु, नेता और रस होते हैं।[2] मुख्य चरित आधिकारिक कहा जाता है। प्रसंगतः आनेवाला

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगया शैलर्तुवनसागराः ।।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।।
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अमी इह । सा०द० ६।३१३-२१।।

१- सर्वे नाटकसन्धयः । सा० द० ६।३१५

२- वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकोवस्तुचद्विधा ।

साधारण चरित्र प्रासंगिक है कहा जाता है।[1] नायक, उपनायक तथा प्रतिनायक की वृत्तशृंखला ही किसी महाकाव्य की प्रकृति (उपादान कारण) कही जाती है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य इसके ५ भेद माने गए हैं।[2]

लक्षणशास्त्र-सम्मत प्रबन्धकला का निर्वाह कवि को स्व-काव्य की उपादेयता के आधार पर ही करना पड़ता है। लक्षण-शास्त्रों का अन्धानुसरण करके स्वकृति को वे उपहासास्पद नहीं बना देते। कवि को पूर्ण अधिकार होता है कि वह सत्य भी अप्रासंगिक घटना या कथानक को स्वकाव्य में न आने दे तथा अवसर पर उपादेय कथानक या घटना को कल्पित करके वृत्त में जोड़ दे।[3]

१- तत्राधिकारिकं मुख्यमंगं प्रासंगिकं विदुः ॥
अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥
प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः" ॥ द० रू० १। ११-१२

२- "बीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणाः ।
अर्थप्रकृतयः पंच ता एताः परिकीर्तिताः" ॥ द० रू० १। १८

३- "विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥
सन्धिसन्ध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमंगिनः ॥
अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यंजकत्वे निबन्धनम्" ॥
ध्व० ३। १०-१४

महाकवि मंखक ने अपने 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य का प्रणयन बड़ी सावधानी से किया है। विभिन्न पुराणों में मतभेद से दी गई त्रिपुरदाह की कथा के उन अंशों को कवि ने सर्वथा त्याग दिया है जो शिवजी की महिमा साक्षात् रूप से नहीं बताते थे। साथ ही वन-विहार, जलक्रीड़ा आदि आवश्यक अंशों की कल्पना कर ली है।

पंचसन्धियां :

पांच अर्थप्रकृतियां[१] तथा पांच अवस्थाओं[२] के संयोग से पांच सन्धियां[३] उत्पन्न

१- 'बीजबिन्दुपताकाख्य प्रकरी कार्यलक्षणाः ।
अर्थप्रकृतयः पंच तास्ता, परिकीर्तिताः ।। द०रू० १।१८
'स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।
अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्' ।। द० रू० १।१७
'सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्' ।। द० रू० १।१३

२- 'अवस्थाः पंच कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः । अवस्था = मनोदशा
आरम्भयत्नप्राप्त्याशा नियताप्तिःफलागमः ।।
औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।
प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ।।
उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।
अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ।।
समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः' ।। द० रू० १।१९-२२

३- 'मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।
मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा' ।। द०रू०१।२४
'लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादंगान्यस्य त्रयोदश' ।। द० रू० १।३०
'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशांग पताकास्यान्नवा स्यात्प्राप्तिसम्भवः' ।। द०रू० १।३६
'क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः' ।। द० रू० १।४३
'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' ।। द० रू० १।४८-४९

होती हैं- बीज एवं आरम्भ के संयोग से मुखसन्धि,

विन्दु एवं प्रयत्न के संयोग से प्रतिमुख सन्धि,

पताका एवं प्राप्त्याशा के संयोग से गर्भसन्धि,

प्रकरी एवं नियताप्ति के संयोग से अवमर्श सन्धि तथा

कार्य एवं फलागम के संयोग से उपसंहृतिसन्धि होती है।

१. मुखसन्धि में वट-बीज के समान किसी घटनाविशेष का अवतारणमात्र होता है। कथानायक को भविष्य में इस घटना से अत्यन्त फललाभ की सम्भावना रहती है। इस एक घटनाविशेष से क्रमशः अनेकों घटनाएं, रस व लाभ उद्भूत होते चलते हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में 'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।

एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा' ।। अभि०शा० प्रस्तावना

इस मुखसन्धि का अच्छा उदाहरण है।

प्रस्तुत 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य की मुखसन्धि ब्रह्मा द्वारा त्रिपुर को वर प्रदान है। वरप्राप्ति के साथ ही शिवजी के द्वारा उन त्रिपुर का विनाश स्वभावतः शृंखलाबद्ध हो जाता है। इस वरप्राप्ति से ही आगामी घटनाएं व रसादि उद्भूत हो चलते हैं। कवि ने इसका संसूचन १७ वें सर्ग के श्लोक ५६ से ५७ तक में किया है।

२. प्रतिमुखसन्धि - भूमि में अवरोपित बीज के अंकुरित हो चुकने की भांति किसी महाफलदायिका घटना का बीजारोपण हो चुकने पर उसे पल्लवित करने के लिए जो कुछ भी संगठन या व्यापारादि वर्णन किए जाते हैं, वे प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत आते हैं। कुछ प्रयत्न फल की प्राप्ति में, यथानिश्चित, सहायक बन जाते हैं, परन्तु, कुछ बाधक भी सिद्ध होते हैं। अभिज्ञान शा० के प्रथम अंक में वैखानस की उक्ति - 'राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ------- रक्षन्ति भोगीविकिंणांक इति' ।। आदि इसका उदाहरण है।

~~'श्रीकण्ठ चरित' में भी २१-२२ सर्ग गर्भसन्धि में आते हैं। त्रिपुर के प्रति अवसरों का प्रयाण तथा देवों को अशुभ-सूचन भी यहां दर्शाए गए हैं। पताका का सर्वथा अभाव है।~~

"श्रीकण्ठ चरित" में प्रतिमुख सन्धि १९।२६ से १९।४५ तक में आई है। इसका विस्तार २०।६५ तक कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत भगवान् शिव ने त्रिपुर-वध की हामी भर ली। अब सफलता में क्या सन्देह। देवगणों ने विविध रणसज्जा भी कर डाली। इन्द्रादि को स्व-दुःख के पूर्ण नाश का विश्वास हो जाता है।

३. गर्भसन्धि - अन्तिम फलप्राप्ति के लिए किए गए कार्यों के परिणाम स्वरूप असफलता-सफलता का द्वन्द्व चल निकलता है। फिर भी सफलता तो प्राप्त करना ही है। पुनः-पुनः लक्ष्यसिद्धि की ओर झुकना ही गर्भसन्धि है। अभिज्ञान शा० में शकुन्तला का राजदरबार से चला जाना, अंगूठी की प्राप्ति तथा चित्र-दर्शनादि गर्भसन्धि के अन्तर्गत आएंगे।

"श्रीकण्ठ चरित" में भी २१-२२ सर्ग गर्भसन्धि में आते हैं। त्रिपुर के प्रति अमरगणों का प्रयाण तथा दैत्येयों का अस्त्र-शस्त्र ही यहां दर्शाए गए हैं। पताका का सर्वथा अभाव है।

४. अवमर्शसन्धि - इस सन्धि में फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। सारा कार्यप्रवाह यहां से उतार की ओर चल देता है। ~~क्रोध~~ ओघ कम हो जाता है। विजयोल्लास की सुनहरी किरणें झांकने लगती हैं। अभिज्ञान शा० में राजा का स्वर्ग से प्रत्यावरोहण, मरीचि-आश्रम में कुमार भरत का सिंहशिशु-क्रीडन आदि इस सन्धि के अन्तर्गत हैं।

"श्रीकण्ठ चरित" का २३ वां सर्ग अर्थात् "युद्धवर्णन" अवमर्शसन्धि है। यहां का युद्ध में ही निर्णय क्या, त्रिपुर का विनाश ही हो जाता है।

५. उपसंहृति या निर्वहण सन्धि : इसमें अद्भुत रस के सफल दर्शन के साथ-साथ अन्तिम फलप्राप्ति तथा तज्जनित उल्लास का वर्णन आता है। यहीं कथा भी समाप्त हो जाती है। अभि० शा० में मरीचि-आश्रम में शकुन्तला-प्राप्ति, महर्षि मरीचि द्वारा सारे सन्देहों का उन्मूलन तथा अन्तिम आशीर्वाद इस सन्धि के अन्तर्गत हैं।

श्रीकण्ठ चरित' के २४ वें सर्ग में दैत्यों की स्त्रियों का त्रास, देवों का उल्लास तथा स्वगृह प्रस्थान आदि इस सन्धि में आते हैं।

<u>हीनांग पूर्ति :</u>

महाकवि मंखक ने वसन्त, दोला, पुष्पावचय, जलक्रीडा, संध्या, चन्द्र, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पानकेलि, 'काम'-क्रीडा तथा प्रभात-वर्णन का एक-एक सर्ग शास्त्रपरम्परा तथा स्व-काव्य-कौशल-प्रदर्शन के लिए लिखा है। कथानायक शिवजी वसन्तवर्णन तथा दोलाक्रीडा में साधारणभाग लेते हैं। शेष वर्णनों में वे अपवाद मात्र आए हैं। १७ वें सर्ग में वन्दीजन प्रभाती गाकर भगवान् शिव को जगा रहे होते हैं कि इसी समय ब्रह्मादि देव भगवान् के दर्शनार्थ उपस्थित होते हैं। ब्रह्मा जी सप्रसंग देव-विपत्ति का वर्णन करते हैं। शिव जी देवों को धैर्य बंधाकर त्रिपुर के नाश को स्वीकार कर लेते हैं। इसके आगे गणाभियोग तथा गणक्षोभ के दो सर्ग अधिकांशत: कवि संयोजित हैं। गण-सेना का विक्षुब्ध होकर शस्त्रास्त्र सज्जित होना नितान्त स्वाभाविक है। कवि ने स्वाभाविक युद्धप्रसंग को इससे सम्पूर्णता प्रदान की है। दोनों सर्गों के वस्तुतत्व साधारणतया ही मूलकथा में अन्तर्हित हैं। तदनन्तर यथावसर 'रथबन्धन' का विस्तृत वर्णन है। सम्पूर्ण वर्णन शिवपुराण के सर्वथा अनुकूल नहीं है। राका, कुहू, सिनीवाली तथा अनुमती का वागडोर होना महाभारत[1] या मत्स्यपुराण[2] से लिया गया है। क्योंकि अन्यत्र कहीं इसका वर्णन नहीं है। पुराण-परम्परा-प्राप्त 'रथबन्धन' के अन्तर्गत विभिन्न देवताओं के द्वारा तत्काल स्वीकृत(रूपों) के फलस्वरूप सम्भावित काल्पनिक चित्रों के द्वारा कवि ने मधुरतम सरसता का सृजन किया है। २१ वें सर्ग में गणसैन्य का 'युद्धप्रस्थान' कल्पित किया गया है। प्रस्थान वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक तथा सजीव है। विदित होता है कि मानों गणों के स्वरूप में वास्तविक काश्मीरी रण-बांकुरे ही तो युद्धयात्रा कर रहे हों। स्वयं विघ्नराज जी ही रथमध्य के पथ को

१- महाभा० कर्णपर्व - ८।२४।७४।

२- म० पु० - १३३।३६

पंक्ति बनाते हुए अन्तरत्व कर रहे थे। "दैत्यपुरी-क्षोभ-वर्णन" भी यद्यपि है तो पुराणागत ही, लेकिन, कवि ने "क्षोभ-वर्णन" एकविशिष्ट साम्य तथा विलोम-तुलना के आधार पर करके, स्व-प्रणीत महाकाव्य को अनुपम बना दिया है। गण और दैत्यों के क्षोभ का कारण, प्रकृति तथा प्रदर्शनादि हैं तो समान ही, पर उभयपक्ष को नितान्त विपरीत फलप्रद। पाठक के सामने स्वतः ही गण-क्षोभ तुलनात्मक रूप से उपस्थित हो जाता है।

<u>युद्ध वर्णन</u> :

तेईसवें सर्ग में कवि ने युद्ध का संक्षिप्त वर्णन किया है। युद्ध का सर्वप्रथम वर्णन मत्स्यपुराण में प्राप्त होता है। म० पु० तथा कविकृत युद्धवर्णन में बड़ा भेद है।

मत्स्यपुराण	श्रीकण्ठ चरित
१- अत्यन्त विस्तृत युद्धवर्णन है।	१- युद्धवर्णन बहुत संक्षिप्त है।
२- प्रधान प्रतिनायक मय है। शम्भुशर से उसका विनाश नहीं होता।	२- प्रधान प्रतिनायक तारकाक्ष है। शराग्नि ही तीनों दैत्यों को भस्म कर डालती है।
३- कमलाक्ष तथा विद्युन्माली को नन्दी मारते हैं।	३- द्रष्टव्य नं० २।
४- अमृतवापी का कथानक आया है।	४- सर्वथा अभाव है।
५- माया तथा कूटयुद्ध का वर्णन है।	५- सर्वथा अभाव है।
६- मय जाकर पश्चिम समुद्र में छिप जाता है। देवगण एक व्यूह-रचना-सी करके त्रिपुर-जय करते हैं।	६- सर्वथा अभाव है।
७- शराग्नि केवल पुरत्रय को भस्मसात करती है। (तमाशा-सा लगता है)।	७- शराग्नि दैत्यत्रय सहित ही त्रिपुरों को भस्म करती है।
८- अन्त में नन्दी शिवाज्ञा से, शराग्नि में भस्म होने से मय की रक्षा करते हैं।	८- सर्वथा अभाव है।
९- पुरत्रय भस्म होकर पश्चिम समुद्र में जा गिरते हैं।	९- दैत्यत्रयसहित पुरत्रय भस्म होकर पश्चिम समुद्र में गिरते हैं।

१- श्रीकण्ठ० - २३।६

१०. विजयोपरान्त साधारणतया ही सब देव स्व-स्व पूर्व-स्वरूप धारण करके अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं।

१०- विजयोपरान्त भी देवों का प्रस्थान-वर्णन उक्ति काव्यमय शैली में है।

काल्पनिक युद्ध का वर्णन करते हुए भी कवि ने पूर्व प्रोक्त :महाभा० तथा शिवपुराण: मर्यादाओं का निर्वाह किया है। गणेश, कुमार तथा नन्दी आदि को स्व-स्व शौर्यप्रदर्शन का अवसर देकर भी कवि ने उनके द्वारा प्रतिनायकों का वध न करवा कर कथानायक के यश को अक्षुण्ण रक्खा है।

कोई परिवर्तन-विशेष बिना किए ही श्रीकण्ठ महाकाव्य को प्रायः पुराणेतिहास परम्परा तथा काव्यशास्त्र की मर्यादाओं के अन्दर-अन्दर समाप्त करके कवि ने अपने अद्भुत कवि-कौशल का परिचय दिया है।

कथानक में परिवर्तन एवं परिवर्धन तथा उसका औचित्य :

त्रिपुरदाह का कथानक शिवपुराण में यथेष्ट विस्तार को प्राप्त हो गया है। तथापि वह एक पद्यबद्ध विस्तृत कथामात्र है। उसमें महाकाव्यांगों का सर्वथा अभाव है। साथ ही शिवभक्ति के प्रचार तथा बौद्ध-जैन मत के साहित्यिक खण्डन से युक्त है। इस प्रकार विशुद्ध कथादृष्टि से भी उसका महत्त्व कम हो जाता है।

(क) महाकवि मंखक ने मूल कथानक में खण्डन-मण्डन की भावना को तो आमूल-चूल समाप्त कर दिया है। उन्होंने प्रारम्भ से ही त्रिपुरों को कहीं भी शिवभक्त स्वीकार नहीं किया है। परिणामतः उन्हें धर्मभ्रष्ट करने के लिए किसी मायावी मुनि के उत्पन्न होने और उसके कथानक में प्रवेश पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे देवत्व पर भी लांछन आता है कि वह :देवत्व: स्वशत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए शिवभक्ति जैसे सद्धर्म का भी विघात कर सकता है। कवि ने कथानक के इस प्रथम परिवर्तन के द्वारा देवत्व की रक्षा के साथ-साथ स्व-काव्य के महाकाव्यत्व की भी रक्षा की है। इससे मंखक की धर्मसहिष्णुता का भी परिचय मिलता है।

(ख) शिवपुराण से तो यह भी ध्वनि निकलती है कि त्रिपुर अत्याचारी

नहीं थे। वे शिव की भक्ति करते हुए सुख से धर्मराज्य करते थे। इन्द्रादि देव उनके तेज से अभिभूत हो गए। अतः उन्होंने छलबल से त्रिपुर के विनाश का षड्यंत्र रचना प्रारम्भ किया। इसके विपरीत महाकवि मंखक ने दिखाया है कि दैत्य स्वभाविक ही आततायी थे। अतः आततायी-अत्याचारी का दमन-नाश धर्मभावना से किया गया।

(ग) त्रिपुरों की स्थिति में भी कवि ने कुछ परिवर्तन किया है। शि०पु० में त्रिपुर स्वर्ग-आकाश-भूमि के निवासी हैं। पर कवि ने उन्हें आकाश-भूमि-पाताल का निवासी बनाया है। इससे उनके हैम-राजत-आयस दुर्गों की संगति सरलता से लग जाती है। साथ ही उनके समरेखा में होने की सम्भावना भी कम हो जाती है। और इस अत्यल्प सम्भावना वाले त्रिपुर-दाह को एक वास्तविक घटना बना देने वाले चरितनायक शिव का माहात्म्य अत्यधिक बढ़ जाता है।

(घ) शिवपुराण में 'रथबन्ध' की कल्पना विस्तृत होते हुए भी अस्पष्ट तथा नीरस है। कवि ने साधारण परिवर्तन-परिवर्धन के द्वारा इस कल्पना में चारुत्व उत्पन्न कर दिया है। कवि की 'रथबन्ध कल्पना' सर्वथा सहृदय-आस्वाद्य है।

(ङ) महाकाव्यांगों की पूर्ति करने के लिए कवि को कथानक में बड़ा परिवर्धन करना पड़ा है। परन्तु कवि ने इस सम्पूर्ण परिवर्धन को, प्रधान घटना के आधार 'देवसम्मेलन' की सुखद भूमिका के निर्माण में काम लेकर, सर्वथा सफल बना दिया है। वसन्त की शोभा देखने से, दोला-जलक्रीडा से तथा लोकानुरंजन से थके हुए शिव जी रात्रि को सुखपूर्वक विश्राम करते हैं। प्रातःकाल होते ही, जबकि शिव जी सर्वथा शान्त-प्रसन्न हैं, देवगण स्व-दुःख-निवेदनार्थ उपस्थित होते हैं। प्रसन्नचित्त शिव, तत्काल द्रवित हो, देवों के निमित्त त्रिपुरवध को स्वीकार कर लेते हैं।

(च) त्रिपुरों के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी और संहारक एकमात्र शिव को ही कवि ने दिखाया है। शेष देवादि सब उनके उपकरण या सहायक मात्र होकर आए हैं।

कवि के द्वारा विहित परिवर्तन-परिवर्धनों से ही मूल कथानक महाकाव्यत्व या प्रबन्धात्मकता को धारण कर सका है। अतः कविकृत परिवर्तन-परिवर्धन सर्वथा सफल एवं उपयुक्त हैं।

पर्यालोचन :

महाकाव्य तथा नाटक की रूपरेखा में साधारणतया भेद होना अनिवार्य है। कथानक के निर्वाह के साथ-साथ लक्षणशास्त्र का अनुसरण भी कवि को करना पड़ता है। संध्या, प्रभात, सूर्य-चन्द्र, क्रीडा-युद्ध आदि का वर्णन कवि को येनकेनप्रकारेण स्वकाव्य में करना ही पड़ता है। पांचों सन्धियों के सभी सन्ध्यंगों का आ पाना सर्वथा असम्भव होता है। माघ-भारवि आदि ने संस्कृत में आदर्श महाकाव्य उपस्थित किए हैं। महाकवि मंखक ने भी अपने श्रीकण्ठ-चरित में स्व-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। मुख्यसन्धि १७ वें सर्ग में आई है। एतावता १६ सर्ग व्यर्थ ही जोड़े हुए से लगते हैं। २५ वां सर्ग तो स्पष्ट ही सुकवि के गले में प्रस्तर-माला-सा है। तथापि पूर्व १६ सर्गों में कवि ने गर्भसन्धि की अपूर्व भूमिका का निर्माण किया है। किसी से कुछ करवाने के लिए उससे मिलने जाना आदि प्राय: प्रात:काल ही किए जाते हैं। उस समय मस्तिष्क शुद्ध होता है। हृदय भी हल्का तथा प्रेममय होता है। अभीष्ट-प्राप्ति की पूर्ण सम्भावना रहती है। देवगण ऐसे ही किसी प्रात:काल शिवजी के पास स्वार्तिनाश की प्रार्थना लेकर पहुंचते हैं। पुण्यों का प्रात:दर्शन स्वभावत: ही विघ्ननाशक होता है। उसपर भी शिवजी पूर्व सर्गों में अर्थात् रात्रि के पूर्व दिनभर आनन्द से पार्वती जी के साथ जल-दोला-क्रीड़ा आदि कर चुके होते हैं। रात्रि भी परम सुखमय बीती है। आशुतोष को और किस प्रसन्नता की सम्भावना की देर है कि सुरों का कार्य सिद्ध होने में नेक भी सन्देह हो पाए। कवि ने पूर्वपीठिका में ही बड़े सुन्दर ढंग से सभी लक्षणशास्त्र सम्मत महाकाव्यांगों का वर्णन कर दिया है। कोई भी वर्णन लादा हुआ प्रतीत नहीं होता। 'त्रिपुरदाह जैसे महाकाव्य में 'पान' तथा 'सुरतकेलि' जैसे अंगों की क्या सम्भावना' जैसे प्रश्न किए जा सकते हैं। इसका समाधान यह है कि विविध क्रीड़ाएं करते-करते शिव-पार्वती अत्यन्त थकित हो प्रगाढ़निद्रा में निमज्जित हो जाते हैं। इस रात्रिकाल में, जबकि सर्वद्रष्टा स्वयं निद्रामग्न हैं, कोई कुछ भी कर सकता है। लोक में सारे जघन्यकृत्य अधिकांशत: रात्रि में ही किए जाते हैं। ऐसे ही रात्रिकालीन स्थल पर रक्खा है महाकवि मंखक ने पानगोष्ठी व सुरतलीला का वर्णन। निश्चय ही कुछ निषिद्ध व अश्लील है, परन्तु है तो इस रात्रि के घने अंधकार में ही वर्णित तथा महाकाव्यांगभूत। २५ वां सर्ग अर्थवाद के रूप में आया है। स्वकृति की सफलता का वर्णन उसकी उपादेयता को निश्चित ही बढ़ा देता है। इस सर्ग में कवि ने अनेकों कवि-विद्वानों का बहुमूल्य परिचय भी प्रदान कर हमें अनुगृहीत किया है।

मौलिकता

"राजामहाराजाओं की धनाविपणि में अपनी अमूल्य वाणियाँ :रचनाओं: को क्रयविक्रयार्थ प्रस्तुत करके अन्य महाकवियों के द्वारा वे :वाणियाँ:, अबतक, सदा ही, दूषित की जाती रही हैं। परन्तु मुझ मंख :कवि का नाम तथा साधारण बन्दि पर्याय: के द्वारा तो देवराज इन्द्र के शिर की मणिमञ्जरियों के द्वारा आलीढ़ चरणरज :इन्द्र के द्वारा चरणानत किए जाने वाले: श्री कैलास-पति शिव का ही स्तवन ही किया जा रहा है। :मं- महाकवि मंख-स्त्रीविक्रयी नहीं बनता, वाणी पर विक्रयारोप:।[१]

"श्रीकण्ठ चरित" महाकाव्य लिखना प्रारम्भ करने के पूर्व ही महाकवि मंखक ने, सर्वप्रथम, यह प्रतिज्ञा की थी कि वे धन कमाने की भावना से किन्हीं राजामहाराजाओं की स्तुति नहीं करेंगे। इसके विपरीत माघ, भारवि तथा कालिदास प्रभृति महाकवियों का एकमात्र उद्देश्य अपनी रचनाओं के द्वारा राजाओं से धन प्राप्त करना ही रहा है। महाकाव्य-प्रणयन के उद्देश्य की इस मौलिकता के कारण महाकवि मंखक अन्य महाकवियों से, सचमुच ही, बहुत ऊपर उठ गए हैं, भले ही उनके महाकाव्य श्रीकण्ठ चरित में, अन्य महाकाव्यों की अपेक्षा, सहृदयाह्लादक रसभावादिगुण अतिन्यून ही क्यों न हों। मंखक की इस महानता की प्रशंसा १२ वीं शती से लेकर आज तक होती रही है --

"श्रीमंख! केवल एक आपकी ही अद्भुत कविता निष्कल्मषा है। आपकी कविता अस्तुत्य राजादि की स्तुतिकीर्तनकल्मषों से स्पृष्टा तक नहीं है। अन्य सब कवि तो भिक्षाकता का ही अभ्यास करते हैं; परन्तु मंखक! केवल एक आपके द्वारा, सबकी भिक्षाकता को दूर करने के लिए ही, वह

१- सर्वैः कैश्चन दूषिताः कविवृषैः प्रस्तीर्य पुण्यभिता-
मास्थानापणवीथिषु विक्रयतिरस्कारावनम्रा गिरः।
देवस्याद्रिभिदुत्तमाङ्गमकरीलीढाङ्घ्रिरेणुव्रजः
कैलासद्रिगमापतेरिति मया मंखेन मंखायते।। श्री०च०, १।५६

:भिक्षाकला: नहीं सीखी गई है। परोपकारमात्र-फला वैदुषी ही सच्ची वैदुषी होती है। अन्य वाङ्मयशिल्पी तो केवल स्ववैदुषी के द्वारा जीवनोपायमात्र सिद्ध किया करते हैं।[1]

वाच्यलक्ष्यव्यंग्यादि अनेकों प्रकार के अर्थों :धर्मों: वाली वाग्देवता-नर्तकी, जिसने द्रव्यविनिमयार्थ कहीं भी स्वांगों का प्रकाशन नहीं किया एवं अलंकार :उपमादि: युक्त पदों (सुबन्त-तिङन्त रूप) की ध्वनि :रसादिरूप: से भूषितमूर्ति को जिन आप :महाकवि मंख: ने भगवान् शम्भु के सम्मुख समर्पित किया, वे आप धन्य हैं।[2]

प्रतीत होता है कि मंख ने दरबारी कविता के विरुद्ध एक महान् आन्दोलन चलाया था। वह, बड़े गर्व के साथ, घोषणा करता है कि उसने भगवान् श्रीकण्ठ के सिवाय किसी अन्य की स्तुति नहीं की है।[3]

१- निष्कल्मषं तवैकस्य श्रीमंख कवितामृतम्।
स्पृष्टो कर्यस्य नास्तुत्यस्तुतिकीर्तनपाप्मभिः ।।
शिक्षन्ते भिक्षितुं सर्वे त्वयैकेन न शिक्षितम्।
भिक्षाकला निराकर्तुमशेषविदुषामपि ।।
सा वैदुषी फलं यस्या न परोपकृतेः परम्।
शिक्षन्ते जीवनोपायमन्ये वाङ्मयशिल्पिनः ।। राजदूत तेजकण्ठ
:श्री०च० २५। ११२-१४-१५:।

२- धन्यस्त्वं विनिवेशितेव तुतिपरैरर्थैः स्थितिं बिभ्रती
न क्वापि स्ववपुः प्रकाशितवती पण्यत्वसंसिद्धये।
सालंकारपदाधिकध्वनिभूषा मूर्त्या नटीनर्तकी
शंभोर्येन पुरोऽर्पिता भगवतो वाग्देवतानर्तकी ।।
आचार्य रुय्यक, :श्री०च०, २५। १३६

३- "Mankha seems to have led a tirade against the court-poetry and announcing with proude that he has not flattered anybody except Shrikantha."

From the "Kashmir's Contribution to ~~XXXX~~ Sanskrit -poetry" in the Poona Orientalist, Vol.XV, p.97.
By- P.N. Pusp.

उद्देश्य की इस मौलिकता के कारण श्रीकण्ठचरित राजाओं के अन्तः-पुरादि के अश्लील वर्णनों से सर्वथा पवित्र है। इसके सिवाय, इसी उद्देश्य के कारण, इस महाकाव्य में विद्यमान जो कुछ भी भला-बुरा है, सब प्रसूत है कवि की 'स्वान्तःसुखाय' की भावना से। इस अन्तःसुखाय-भावना का एक और भी हेतु है - 'कैलासवासी स्वपिता के नियोग से ही मंखक ने इस विबुधश्लाघ्य महाकाव्य का प्रणयन किया था। पिता के आदेशानुसार भगवान् श्रीकण्ठ का स्तवन, एक महाकाव्य के रूप में, करके कवि को एक महान् सन्तोष अनुभव हुआ[1]।

उद्देश्य के अनुरूप मूलकथानक के चुनाव में भी मौलिकता है। शिव संबंधी कथानकों में 'त्रिपुरवध' के अन्तर्गत जो वीररस का परिपाक दिखाया जा सकता है, वह अन्यत्र असम्भव है। त्रिपुरवध के एक प्रसिद्ध पौराणिक कथानक को प्रबन्धकाव्य का स्वरूप प्रदान करने में तो क्रमशः मौलिकताएं विद्यमान हैं। कवि ने मूलकथानक की आत्मा में भी परिवर्तन किया है। पौराणिक कथानक जैन-बौद्धधर्म के खण्डन से युक्त है। त्रिपुरों के विनाशार्थ उनकी सच्ची शिवभक्ति को भी पुराण में, मायावी मुनि के द्वारा, विष्णु ने नाश कराया है। यह दोनों ही विकृतियां कवि ने समाप्त कर दी हैं। कवि ने त्रिपुरों को स्वर्ग-आकाश-भूमि में न बसा कर आकाश-भूमि-पाताल में बसाया है। इससे स्वर्ण-राजत-आयस पुरों की सार्थकता, त्रिपुरों[2] की समरेखता के अभाव में दुर्जेयता तथा शिव का, उन्हें भी एक ही बाण से मार गिराने में, महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाते हैं।

श्रीकण्ठ चरित में वीर तथा शृंगार रसों की प्रधानता है। नायक-

१- पितुर्विप्राणस्य स्मरारिपुरीपारिषद्वीं
नियोगेन स्वप्ने पदमुपगतेन श्रवणयोः।
प्रबन्धं संधायेत्यधिकविबुधश्लाघ्यनिरव-
द्यं मंखः सौख्यं किमपि हृदये कन्दलयति ।। श्री०च०, २५।१५२

:नियोग-: दैराज्यकारि सुमनोनिवहस्य कर्ण-
पूरश्रियः किमपि वाङ्मयमप्यनिष्ठाः।
तात्किं कृताधि न सुत कणवाकृतन्य-
लेखावधूतमहतूर्किमिरूकिदेवीम् ।। वही, ३।७५

प्रतिनायक में कवि ने विशुद्ध युद्धवीररस ही दिखाया है। साधारणतया वीररस प्रधान नायक में तथा शृंगार प्रतिनायक में दिखाया जाता है। कवि ने शृंगार रस का परिपाक जनसाधारण के माध्यम से किया है। वे जनसाधारण भी देवता और अप्सराओं के रूप में हैं।

छन्दों के प्रयोग में कवि ने यथेष्ट मौलिकता का परिचय दिया है। उसने महाकाव्य-परम्परा तथा छन्दों के प्रयोग की कविपरम्परा दोनों को तोड़ा है। परन्तु, फिर भी, कोई नवीन छन्द नहीं गढ़े हैं। कवि का प्रत्येक विषय के अनुकूल अपना छन्दोनिर्वाचन है और वह भी बड़े विचार के साथ। तत्कालीन कवित्व की कसौटी 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द का तो प्रयोग कवि ने प्रत्येक विषय के वर्णन में किया है। सर्गारम्भ किसी भी छन्द में है, परन्तु सर्गान्त अधिकतर शार्दूलविक्रीडित या स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्द में है। अलंकारों के प्रयोग में कवि ने साधारणतया शब्द और अर्थ दोनों प्रकारों के अलंकारों का प्रयोग किया है। परन्तु, शब्दालंकारों में शब्दश्लेष तथा पदयमक एवं अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा-उपमा-समासोक्ति विशेषरूप से कवि के प्रिय अलंकार हैं। प्रदर्शन रूप में दो-चार श्लोक हर अलंकार के कवि ने लिखे हैं।

सबसे अधिक मौलिकता विद्यमान है कवि की <u>परोक्ष-वर्णनात्मक संसूच्य शैली</u> में। नहीं ज्ञात होता कि कवि ने इस शैली को जानबूझकर स्वीकार किया है या आपाततः ही इस शैली का प्रवेश श्रीकण्ठ चरित में हो गया है। जानबूझ कर इस शैली के प्रयोग में केवल एक ही हेतु न्यायसंगत प्रतीत होता है। वह है- देवचरित्रों का, उनके स्वरूप के साथ-साथ, सर्वथा अप्रत्यक्ष होना। देवों की भांति दानव भी मानव के लिए अप्रत्यक्ष ही होते हैं। तिस पर शिव जी के विषय में तो कवि ने इस शैली का विशेष प्रयोग किया है। वे :शिवजी: यदाकदा बस अपनी झलकमात्र देकर अदृश्य हो जाते हैं। वसन्तशोभादर्शन तथा देवसभा में वे कुछ देर तक प्रत्यक्ष उपस्थित रहे हैं। युद्धभूमि में वे हैं तो उपस्थित, पर सर्वथा अज्ञात स्थान तथा अवस्था में। जब त्रिपुर के एकत्र होने पर, देवों का चक्रसंकेत पा, वे प्रकट होते हैं और एक ही बाण में त्रिपुर का विनाश करके वे पुनः परोक्ष हो जाते हैं। प्रतिनायक त्रिपुर तो सर्वत्र ही संसूच्य और

कविनिबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध या कवि प्रौढोक्तिसिद्ध ही मरते-जीते हैं। स्वतः वे एक शब्द भी किसी से नहीं कहते। देवसभा में ब्रह्मा ने उनके दो-एक वाक्यों को अनूदितभर किया है। इस शैली के कारण चरित्रों के गुणों का स्वाभाविक विकास सर्वत्र दब-सा गया है।

काश्मीर प्रान्त, कैलास, सिन्धु-वितस्ता का संगम तथा प्रवरपुर का भौगोलिक वर्णन भी कवि ने मौलिकता के साथ किया है। शिशिरऋतु में लाल-लाल नारंगियों का पकना और उन नारंगियों के छिलकार्धचषक में काश्मीरी विलासियों का मधुपान करना[1] तथा कान्तिका[2], काश्मीर के साथ-साथ, मंखक के भी अपने-सर्वथा मौलिक हैं।

काश्मीर की तत्कालीन राजनीतिक दुर्दशा, बाहरी आक्रमणों का सफल प्रतिरोध[3] तथा वहां के ब्राह्मणों का विद्याविलासादि[4] का वर्णन या संकेत भी कवि की मौलिक देन है। कवि ने अपने वंश एवं परिवार का यथेष्ट परिचय श्रीकण्ठ चरित में दिया है। २५ वें सर्ग में कवि ने अपने अग्रज लंक उपनाम अलंकार की पंडितसभा का रोचक वर्णन किया है। अलंकार की उस पण्डित-सभा में ३२ संस्कृत के धुरन्धर विद्वान्-महाकवि-आचार्य विद्यमान हैं। उनमें दो राजदूत भी हैं। वे सब किस प्रकार मंखक के महाकवित्व की कठिन परीक्षा करते हैं। मंखक कैसे सबको संतुष्ट करते हैं, आदि जीवित पण्डितसभा भी मंखक की अपनी एक मौलिक देन है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन ३२ विद्वानों में से अनेक का तो नाम भी नहीं मिलता है। इस नामावली पर शोध होने पर १२ वीं शती के काश्मीरी संस्कृत साहित्य पर विपुल प्रकाश पड़ेगा।

१- श्री० च०, ३।५

२- "हिमागमे यत्र गृहेषु योषितां ज्वलद्वपुर्भिर्ज्वलती कान्तिका।
बिभर्ति जेतुं मदनेन शूलिनं धृता सतीर्वांछिन्नमयीव वपुष्मताम्॥ वही, ३।२९

३- वही, ३।६२

४- वही, ३।४, २२, ५७, ६०-६१ तथा २५।१५

प्रकृतिचित्रण (Nature Description) में मंखक अत्यधिक मौलिक हैं। इस क्षेत्र में इन्हें अंग्रेजी के कवि शैली तथा हिन्दी के श्री सुमित्रानन्दन पन्त से ही तुलना किया जा सकता है, या फिर यह वाल्मीकि, भवभूति और बाण की कोटि में आयेंगे। इन्होंने प्राकृतिक दृश्यों पर उन्मुक्त हृदय से लिखा है। किसी भी प्रकार का कोई भी संकोच नहीं है। चन्द्र को छोड़कर शेष प्राकृतिक चित्रण आलम्बन प्रधान हैं। उनमें प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन है, वे उद्दीपक भी हो सकते हैं, परन्तु अपनी स्वतन्त्र सत्ता के साथ। शिशिरऋतु है। निकुंजों में लाल-पीली नारंगियां लटक रही हैं। युवक-युवतियां उनके सौन्दर्य से आकर्षित होकर उन निकुंजों में पहुंचते हैं। नारंगियों की रंगदारी उन्हें मतवाला बना देती है। परिणामतः निकुंज मधुपानभूमि[1] में परिवर्तित हो जाते हैं और नारंगियों के छिलकार्ध यदि चषक बना लिए जायं तो क्या कहना। नारंगी-दृश्य यहां आलम्बन भी है और उद्दीपक भी। एक दूसरा दृश्य देखिए- हेमन्त ऋतु में अंगीठी में आग जल रही है। अंगीठी का काश्मीरी नाम हसन्तिका है। इसमें नीचे दीवाल में चतुर्दिक छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। उनसे आंच निकल कर एक विस्तृत क्षेत्र को उष्ण बना देती है। यह इसकी उपयोगिता है। निरूपण आलम्बन प्रधान है। अब कवि उन प्रदीप्त लघु छिद्रों के प्रति उत्प्रेक्षा करता है कि 'यह तो कामदेव की चक्षुसन्तति है, जो उसने शिव से प्रतिशोध के निमित्त धारण कर रक्खी है।[2] कवि की कल्पना ही तो है, वर्ना साधारण-सी लोहे की अंगीठी में क्या उद्दीपकता की गन्ध भी मिल सकती है। कैलास की हिम तथा त्रिपुरों की भस्म की श्वेतिमा वर्ण में समान हैं। कवि ने दोनों का आलम्बन प्रधान चित्रण किया है- असाधारण, विस्तृत, साहित्यिक तथा पूर्ण मौलिक। हिम भूमि पर है और भस्म ऊर्ध्वलोक में, दोनों के प्रति कवि की उत्प्रेक्षाएं सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं और सूक्ष्म भी। कैलास का शिवभुवन तथा भगवान् शिव की देवसभा, यह दोनों प्राकृतिक उपकरणों से ही सम्पन्न

१- श्री० च०, ३।५

२- वही, ३।२६

हुए हैं। पढ़कर ज्ञात होता है कि कवि शुद्ध प्रकृति का एकमात्र पुजारी है। मंखक की प्रकृति सम्बन्धी उत्प्रेक्षाएं हैं तो बड़ी दूर की, पर सब ठोस प्राकृतिक धरा-तल पर निर्मित हैं। कैलाश पर्वत पर तमाल के वृक्ष भी हैं। साधारण-सी बात है। अब कवि की उत्प्रेक्षा देखिए-

कैलास का अन्तर भी शाङ्करनोर-सा ही निर्मल है। उस निर्मल-अन्तर में कोमल तमालतरु संक्रान्त हो रहा है। लगता है कि कैलास ने भी, शिव के कालकूट की भाँति, स्वकिमज्योत्स्ना के सपत्न तम को पी लिया है, जो उसकी कुक्षि में तरंगित है।[1] इसे कवि प्रौढोक्तिसिद्ध कहा जाय या स्वतःसम्भवी ?

श्रीकण्ठ चरित में कुछ छाया श्लोक भी हैं। यह यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। कवि ने इनकी रचना अन्य कवियों की श्लोकच्छाया को लेकर की है। इनकी भी मौलिकता देखते ही बनती है। बात पुरानी है, पर एक नवीन उत्प्रेक्षा के साथ। इसी प्रकार की एक छाया मौलिकता ने महाकवि मंखक को 'कर्णिकार मंख' बना दिया।

महाकवि मंखक की कल्पना अत्यन्त सूक्ष्म, तीक्ष्ण और मौलिक है। थकना तो वह जानती ही नहीं। एक ही विषय पर पुनः-पुनः नई-नई उत्प्रेक्षाएं उठती जाती हैं। कवि उन्हें श्लोकबद्ध करता जाता है। एक ही विषय पर उठी हुई क्रमशः उत्प्रेक्षाएं-समासोक्तियां संगृहीत होकर बस एक सर्ग का निर्माण कर देती हैं। कैलास, वसन्तवर्णन तथा चन्द्रोदयादिवर्णन इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। कुछ प्रयाग :गंगा-यमुना के संगम के पर्याय अर्थ में: जैसी उत्प्रेक्षाएं पूरे महाकाव्य में यत्रतत्र बिखरी हुई हैं। जहां कहीं मेल भी संभावना मिली है कि कवि की कल्पना ने झट प्रयाग उपस्थित कर दिया है। इस प्रकार

१- नैर्मल्यतस्तुलितशाङ्करनाशया यः
संक्रान्तकोमलतमालतरुप्रकाण्डः ।
ज्योत्स्नासपत्नरुचिपीततमस्तरंग-
संदर्भगर्भमिव कुक्षिमभिव्यनक्ति ।। श्री० च०, ४।५८

: प्रतिभा परीक्षण :

रस तथा भाव :क:

महाकाव्य में वीर या शृंगार में से किसी एक रस का परिपाक करना चाहिए । साथ ही अंगरूप से अन्य रस तथा निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का परिपाक आवश्यक होता है ।[1] रसहीन रचना का संस्कृत साहित्य में कोई मूल्य नहीं होता[2] ।

रस का रसनीयत्व ही उसकी परिभाषा है[3] । सहृदय आचार्यों ने इसे ब्रह्मानन्द सहोदर माना है । लोक में यह विभावादि की सहायता से स्वयं आश्रय के हृदय में उद्भूत होता है । महाकाव्य में उन्हीं आश्रयसम्मत विभावादि के सम्यक् निबन्धन से यह श्रोता या पाठक के हृदय में उद्बुद्ध होता है[4] ।

विभिन्न आचार्यों तथा महाकवियों ने रसों की संख्या विभिन्न ही स्वीकार की है । भोज ने केवल एक रस शृंगार ही स्वीकार किया है । इसी प्रकार पंडितराज एवं महाकवि भवभूति केवल एक ही रस-करुण, मानते हैं । नाटक

१- "एकोरसोऽंगीकर्तव्यो वीर शृंगारएव वा ।
अंगमन्येरसा:सर्वे कुर्यान्निर्वहणे द्भुतम् ।।" द० रू० ३।३३-३४

२- "आटोपैः पटीयसा यदपि साधारणी क्वैरामुखे ।
खेलन्ती प्रथते तथापि कुरुते नो सन्मनोरंजनम् ।
तस्याः सावदमन्दसुन्दरगुणालंकारसंकारितः -
सप्रत्ययान्दलसद्रसायनरसासारानुसारी रसः" ।। भ०च० २।४८

३- "रस्यते इति रसः" साहित्यदर्पणकार

४- "कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" ।।का०प्र० ४।२७-२८

में केवल आठ ही रसों का परिपाक सम्भव माना गया है[1]। वैसे शान्त रस को स्वीकार करके ९ रसों की मान्यता सर्वसम्मत है। सा० दर्पणकार विश्वनाथ ने 'वत्सल' भाव वाला दशम 'वात्सल्यरस' भी माना है। श्रीरूपगोस्वामिन् ने माधुर्य या भक्तिरस की कल्पना की है।

महाकवि मंखक ध्वनि सम्प्रदाय के कवि हैं[2] और ९ रसों को मानते हैं। श्रीकण्ठ चरित महाकाव्य में उन्होंने वीररस - युद्धवीर का निबन्धन किया है। अन्य शृंगाराद्भुतादिरस यत्र-तत्र अंग होकर आए हैं। कवि द्वारा उपनिबद्ध वीररस के आश्रय स्वयं पिनाकपाणि भगवान् शिव हैं। त्रिपुर के विनाश का उनका उत्साह ही स्थायीभाव है। आलम्बन हैं आततायी प्रतिनायक त्रिपुर। देवों की विपत्तियां, असुरों की अहम्मन्यताएं, उनकी अवध्यता, तथा स्वर्ण, रजत-लौह-निर्मित तीनों पुरों की अपेक्षा आदि उद्दीपन विभाव हैं। मति, धृति, स्मृति, तर्क, गर्व आदि संचारी भाव हैं।

<u>वीर रस</u> में आश्रय का मानसिक विकास या विस्तार होता है। यह ओज नामक गुण की देन होती है[3]। ओजगुण को अभिव्यंजित करने के लिए-

१- क च ट त प और ख फ छ ठ थ का ज ब ग ड द और भ म घ ढ ध से संयोग हो ;
२- इन सभी व्यंजनों का र् तथा पंचम ञ् म् ङ् ण् न् वर्णों से योग हो ;
३- रचना ट ठ ड ढ णकार बहुल हो ;
४- पुनः पुनः शकार- षकार का योग हो ;
५- दीर्घ समासान्त वृत्ति हो और

१- "शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः" ।। का०प्र० ४।२९

२- श्री० च०, २।३०, २।३८

३- "दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः" ।।
का० प्र० ८।६९

६- उद्धत- आडम्बरपूर्ण रचना होनी चाहिए[1]। ओज: प्रकाशक वर्णों द्वारा रची गई परुषावृत्ति वीर रस में प्रयुक्त की जाती है[2]। सात्वतीवृत्ति इसका प्राण है[3]। इन सबके बिना वीर रस का सुन्दर परिपाक नहीं होता। साथ ही इस प्रकार की औद्धत्यपूर्ण रचना के लिए लम्बे दण्डक छन्द ही अनुकूल हो सकते हैं- जैसे शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा आदि।

श्रीकण्ठ चरित में महाकवि मंखक ने २३ वें सर्ग में युद्ध का वर्णन किया है। स्वभावत: ही इस सर्ग में वीररस का परिपाक होना चाहिए। उपर्युक्त ओजगुण, वर्ण, रचना, वृत्ति एवं छन्द आदि का होना नितान्त आवश्यक है। वीररस प्रधान महाकाव्य का यह सर्ग अत्यन्त विस्तृत होना चाहिए। इसी में हमें सदा योगी शिव का काल-भैरव दर्शन होना चाहिए। वे त्रैलोक्यविनाशक महेश हैं, इसकी परिसमाप्ति इसी सर्ग से होनी चाहिए।

१- "योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो:।
टादि: शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि" ।। का०प्र० ८।७५

२- "माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओज:प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परै:" ।। का० प्र० ९।८०

"रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिन:।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थित:" ।। ध्व० २।१०

रौद्रादयो हि रसा: परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते तत्प्रकाशनपर: शब्दो दीर्घसमासरचनालंकृतं वाक्यम्", वही, वृत्तिभाग।

३- "शृंगारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुन:।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्ति: सर्वत्र भारती" ।। सा० द० ६।४१०

"तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा, तत्र कैशिकी----- प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्ति:" ।। द०रू० २।४७ धनंजय।

"सात्वती बहुला सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवै:।
सहर्षा क्षुद्रशृंगारा विशोका साद्भुता तथा ।।
उत्थापको ऽथ संघात्य: संलाप: परिवर्तक: । -----------
उत्तेजनकरी शत्रोर्वागुत्थापक उच्यते" ।। सा० द० ६।४१६

अत्यन्त दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इस सर्ग में यह सब प्रतिकूल ही प्राप्त होता है। इस सर्ग में केवल ५६ पद्य हैं। :तृतीयसर्ग में ७८ पद्य हैं, जिसमें स्ववंशादि वर्णित है। ग्यारहवें सर्ग में ७५ पद्य हैं, चन्द्र एवं कृष्णाभिसारिकादि का वर्णन है। इसी प्रकार बारहवें सर्ग में भी, जिसमें चन्द्र वर्णन एवं दूती-वाक्यादि आए हैं, ६७ छन्द हैं।: इस पद्यसंख्या से यही व्यंजित होता है कि तरुणकवि युद्धों की विभीषिका से दूर बैठा हुआ वीर रस का महाकाव्य लिख रहा है। वस्तुतः उसकी अभिरुचि वीर रस में नहीं है। उसका मन शृंगार रस में सराबोर है। इस सर्ग में कवि ने पुष्पिताग्रा[1] छन्द का प्रयोग किया है। इसके प्रथम-तृतीय चरणों में दो नगण, एक रगण तथा एक यगण होता है। दूसरे-चौथे चरणों में भी नगण, दो जगण तथा एक रगण गुरु होता है। इस अर्धसमवृत्त में दण्डकता नाम को भी नहीं है। इसमें औद्धत्यपूर्ण रचना हो ही नहीं सकती। यह नहीं कि कवि वीररस के निबन्धन में अक्षम है, अथवा उसे ओजगुणमयी रचनावाली वर्णावलि का ज्ञान ही नहीं है। कवि ने संभवतः जानबूझकर ही अथवा किसी उपरोध के कारण इस सर्ग में इस पुष्पिताग्रा छंद का प्रयोग किया है। कवि का अभिप्राय यही ज्ञात होता है कि दैत्यों की शरवर्षा शिव जी के प्रति वह केवल पुष्पवर्षा के समान थी।

कुछ उदाहरण लिए —

:युद्धरत होने से: "दैत्यगण पसीने में बह चले। उनके शर स्वेद से भींग गए। मानो वे अग्निशर शिव को जीतने के लिए वरुणास्त्र का ग्रहण कर रहे हों।"[2]

१- "अयुजि नयुगरेफतो यकारो।
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" ॥ वृ० र० ४।१३

२- अनुगिरिशमनि:सरजन्मजलसिक्तशरा: सुरद्विष:।
दहनशरं जिगीषवो य पुरिव कल्पितवारुणोपयुताम्" ॥ भी०म०२३।३

"भगवान् शंकर के दोनों सेनाओं के मध्य में पहुंचने पर नमता हुआ धनुष मुक्त हो सका, परन्तु, न नमता हुआ भी बाण मुक्त हुआ"[1] । प्रणत तो तरता ही है, अविनीत भी :रावणादि: गुरु-भगवान् की कृपा से मुक्त हो जाते हैं ।

"शत्रु के मुख में बाण की मोटी अर्गला लगाकर, उसके बाहर गए हुए प्राणों की वापसी भी रोक दी, :वह मर गया[2]:

"गजवदन गणेश के मुख में गड़े हुए असुरसायक को शिवजी अपनी तीनों आंखों से अन्त तक उगता हुआ दूसरा दान्त ही समझते रहे"[3] । :मुख में बाण मारना युद्ध नियमों के विरुद्ध होना चाहिए। :

"असुरों के बाणों को इधर-उधर शीघ्रता से हटाकर कुमार गए उसमें ऐसे निकले मानों वे पुनः "शरवण" से उत्पन्न हो रहे हों"[4] ।

"असिलता के द्वारा कण्ठग्रह करने पर असमशरपीड़ित वीरगण परम रक्तता को प्राप्त हुए । :नायिका के गले में बाहें डाल देने पर वीर रागयुक्त हो गए"[5]। :तलवार के द्वारा सिर कटने और पंचबाणों से बिंधने की संगति ठीक नहीं जंची । :

१- उपगतवति शंकरे ततो मुखमसुरासुरयोरनीकयोः ।
धनुरनमदवाप मुक्ततामथ तु ततोऽविनतोऽपि सायकः ।। श्री०च० २३।६

२- "मुखमुखा तथा परो रिपोर्विपुलविशालिमार्गणार्गलम् ।
स्वसितमरुदवाप नो यथा पुनरपि तत्र किल प्रवेशनम् ।। वही, २३।१०

३- "असुरमुखसायको मुखे गजवदनस्य कृतावरोहणः ।
कुरपररदांकुरोद्गमभ्रममशुषन्मुहुरीशचक्षुषाम् ।। वही, २३।१३

४- असुरशरतया निरस्य तानरिविशिखानखिलानितस्ततः ।
प्रकटितमनुरागिमुखशरवणतः कुमारसम्भवमिव ।। वही, २३।२१

५- "झटिति विरचितेऽसिलेखया मुखकृता कण्ठग्रहे ।
असमशरनिपीडनाकुलः सुभटजनो दृढरक्ततामगात् " ।। वही, २३।२५

"बाणों से बिंधा हुआ कोई वीर यमराज के मुख में गिर कर भी पुनरुज्जीवित हो गया, क्योंकि शरीर में लगे हुए बाणों से यमराज का मुंह :गाल: फट जो गया"[1]। :उत्प्रेक्षा:

"देवों द्वारा प्रयुक्त अग्निबाण अस्थि-मज्जादि पकाने लगा। मानो वह प्रसन्न पिशाचों के रसोईघर की अग्नि का कार्य करने वाला बन गया हो"[2]।

"बाहर निकली हुई बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले किसी असुर ने, युद्ध में प्राण त्याग कर, प्राप्त स्वर्गीति के निमित्त, सूर्यमण्डल का भेदन किया। स्वकबन्धकान्ति को प्राप्तराहु की सम्भावना को उत्पन्न करते हुए वह सूर्य के त्रास का कारण बन गया"[3]।

अब तक के इन श्लोकों में काव्य का कलापक्ष ही प्रभावशाली है। भावपक्ष अत्यन्त नगण्य है। प्राणहारिणी युद्धविभीषिका उपस्थित नहीं हो पाती। वीररस का ओजस्वी प्रस्फुरण होता ही नहीं। यह श्लोक क्रोधान्ध वीरों की तीखी परन्तु सीधी वाणियों-से लगते ही नहीं। कवि की समासोक्तियां तथा उत्प्रेक्षाएं पुनः पुनः अन्तःपुर की चहारदीवारी के चारों ओर मंडराती दीखती हैं। कवि का विशाल अध्ययन इनमें ओज का गम्भीर शंखनाद फूंकने में अत्यन्त असमर्थ है।

<u>शुद्ध वीररस</u> :

महाकवि मंखक ने आगे चलकर उचित छन्द-संघटना में उत्तम वीररस के पद्य

१- "सकलवपुरुपोढसायकव्यतिकरकण्टकभग्नतालुना।
वदनत इव मृत्युनोज्झितः पुनरभजद्रणितोऽपि कोऽप्यसून् ॥
श्री०क०, २३।३३

२- अस्त्रं पलं च सममेव पचंस्थानां
यस्तात्त्वर्णप्रयुक्तं सुकृतात्मनोऽन्यैः।
तृप्यत्पिशाचरजनीचरकामिनीना-
मुरीचकार स महानसवह्निकृत्यम् ॥ वही, २३।३८

३- संग्रामाभिमुखोज्झितासुरसुरो विस्फूर्जद्दंष्ट्राङ्कुर-
क्रूरास्यो दिविनीरसोऽकलयद् यो रुन्दयन्मण्डलम्।
चक्रे तेन दिनाधिपस्य किमपि त्रासाय कृत्वा पुरः
संप्राप्तस्वकबन्धकाधिविधुरस्वर्भानुसम्भावनाम् ॥ वही, २३।४२

भी लिखे हैं। इन्हें पढ़कर भुजाएं फड़क उठती हैं। हृदय में अपार उत्साह एवं साहस तरंगें मारने लगते हैं। पाठक सीधा अपने को युद्धस्थल में खड़ा पाता है। देखिए :–

"शशिभूषण शिव जी की सैन्य के इस प्रकार अत्यधिक शौर्यशालिनी होने पर, वे तीनों दैत्य, जयश्री ने जिनका परिरम्भ कर रखा है, बड़े क्रोध के साथ, शिवजी को जीतने के लिए, एक स्थान पर एकत्रित हुए"[1]।

"अस्त्रों से कटी हुई भुजाएं ही जिसमें चलित कमल हैं, कटार दण्डवाले श्वेत छाते ही जिसमें महाफेन हैं, नाचती हुई असिलताएं ही जिसमें शैवालमाला है, नृत्यत्कबन्ध ही भंवरें तथा वात्याचक्र हैं जिस युद्धस्थलमहासर में, उस ऐसे युद्धकूप में वे तीनों दैत्यराज आलोडन करते हुए गर्जने लगे"[2]।

"शिवजी के द्वारा वेग के साथ छोड़े गए उस आग्नेयास्त्र से अन्य अनेकों आग्नेयास्त्र फूट पड़े। उन आग्नेयास्त्रों ने, यमराज की चंचल-चपल शतशः जिह्वाओं की भांति, उन तीनों दैत्यों को ग्रस लिया"[3]।

"नाचती हुई ज्वालाओं में लपटे हुए, आकाशव्यापिनी भस्म की लहरों

१– "बले दृप्यत्येवं शिशिरमृदुकंशिरसो
जयश्रीविस्रम्भग्रथितपरिरम्भव्यतिकरैः।
वृहत्कोपाटोपप्रकटनाविशेषस्थिरतर-
स्सुरघुकम्बं त्र्यमपि पुराणामवहा"। श्री० च०, २३।४९

२– "अस्त्रैरग्र्युदस्तैः प्रकृतसरसिजं छत्रदण्डैर्विपाण्डु-
च्छत्रैरुच्चण्डफेनं स्फुटमसिभिरभिव्यक्तशैवालवल्लि।
लीलानृत्यत्कबन्धभ्रमरकरकोणैर्विताकाकर्कं
संग्रामौर्वे विरस्तैः दनुजमनुजा लोडयन्तो जगर्जुः॥ वही, २३।५३

३– "निर्मुक्तायाः सपवनजवं व्योम्नि मार्गेण तेनै-
रेकस्या अप्यहह कति नो हैमवत्याः प्रसूः।
याः प्रत्यग्रं विचित्ववलनाः प्रेतराजार्थ्यमाण-
प्रेंखज्जिह्वापटलपटुतामालिलिंगुः पुराणाम्॥ वही, २४।११

वाले स्व-स्व शरीरों से पृथ्वी को ढालते हुए, उन दैत्यों ने भगवान् शिव की ऊंची-ऊंची चोटियों पर प्रज्वलित उन-उन ओषधिविशेषों से युक्त कैलासपर्वत की स्मृति करा दी[1] ।

एक ओर से छोड़े गए आग्नेयास्त्र की प्रचण्डोत्तुंगविकरालतरङ्ग-ज्वालाओं से आश्लिष्टता को प्राप्त होते हुए शत्रुपक्ष के वरुणास्त्र ने उभयसेनाओं को, दिन में भी, निबिडान्धकाराच्छादित कर दिया । प्रतीत होता था कि मानो दोनों पक्षों की वाहिनियों के वीरों की शरासारवर्षा से बहते हुए वरुण-रक्त से ही युद्धभूमि आप्लावित हो उठी हो[2] ।

उड़ती हुई धूलि से दृष्टि को, अस्त्रशस्त्रादि की वर्षा से त्वचा को, दुर्गन्ध एवं उत्कट करिमद से नासिका को, तुमुल तूर्य-निनादों से कानों को तथा अन्योऽन्य शत्रु को कहे जाने वाले तीखे शब्दों के विप्लव से जिह्वा को भी बाधा करने वाला युद्ध वीरों को, फिर भी, उत्सव-सा ही प्रतीत होरहा था[3] ।

नाचते हुए मुखवाली तीव्रभ्रुकुटि के कारण और भी भयंकर तृतीयनेत्र की स्पर्धा करने वाले महाधनुष को आततज्या करके, दैत्यों के अत्याचारों से पीड़ित जगत्त्रय का त्राण करने वाले रुद्र ने, दैत्यों के विनाशार्थ अभ्यावेशित

1- नृत्यत्कीलापटलजटिला व्याप्नुवन्तः समन्ता-
द्दुर्वीमुर्वीतलधरनिभैर्निःस्मशेषैः शरीरैः ।
तत्तौषधिविलसितशिखोत्संगकैलासभूभृ-
च्छृंगश्रेणीस्मरणसरणिं तेऽपुष्णन् शंकरस्य ।। श्रीकण्ठ०, २४।२४

2- आग्नेयास्त्रप्रभाभिर्घटितपरिरम्भमुज्जृम्भमाणं
[illegible] दुर्वारं वारुणास्त्रं व्यधित पिहिताशेषसंग्रामभूमिं ।
तस्य क्रोधातुरोद्यत्कटकयुगान्योन्यनिर्मुच्यमान-
क्रूरक्रूरेषुघातोच्छलरुधिरभरैर्निम्नगाऽऽलाय क्ष्मे ।। वही, २३।५६

3- धूल्या दृष्टिं त्वचमविरतक्षिप्यमाणास्त्रजालै-
र्घ्राणं गन्धोत्कटकरिमदैस्तूर्यनादैः श्रवांसि ।
अन्योन्याक्षेपकपरुषवचो विप्लवैश्चाप्यबाधे
जिह्वां यद्वे तदपि कृतिनामुत्सवायैव युद्धम् ।। वही, २४।३

विष्णुशर को उस धनुष पर चढ़ाया"[1] ।

"त्रिपुरारि के द्वारा बाणरूप में ऊपर फेंके जाकर विष्णु ने तीन पदों में त्रिलोकी को नापने की ख्याति को एकबार पुनः प्राप्त किया । बाण-दण्ड-रूप में आकाश में दूर तक विस्तृत हो विष्णु मानो स्वर्गमन्दिरों में प्रवेशेच्छु तम को स्वदण्डपादरूपी अर्गला से निषिद्ध कर रहे थे"[2] ।

रौद्ररस :

वीररस-युद्धवीर, तथा रौद्ररस में बड़ा सूक्ष्म भेद है । यह इन दोनों के विभावादि के द्वारा ही स्पष्ट हो पाता है, अन्यथा नहीं । वीररस का स्थायीभाव है- उत्साह और रौद्ररस का- क्रोध, वीररस के आलम्बन हैं- द्विषद्, विद्वान् एवं दीनादि, रौद्र का मात्र द्विषद्, वीररस के उद्दीपक विभाव हैं- अपकार-गुण-आपाद, रौद्र का द्विषदपकारादि, वीररस के अनुभाव हैं- प्रतीकारकरण-दानादि, रौद्र का विकत्थनादि, वीररस के संचारीभाव हैं- हर्ष-आवेग-चिन्तादि, रौद्र के गर्वादि हैं । ओजोगुण की स्थिति वीर तथा रौद्ररस दोनों में समान है, परन्तु रौद्र में ओजस् की पराकाष्ठा होती है । वर्ण, समास और वृत्ति की भी साम्यता होती है । रौद्ररस में आरभटी की खड़खड़ाहट ही उसका प्राण होती है । यहां तक कि युद्धवीर का एकमात्र पोषक रौद्ररस ही होता है ।

महाकवि मंखक ने रौद्ररस का निबन्धन 'समुद्र पाने' सर्ग १२

१- नृत्यत्क्रूरभ्रुकुटिघटिताटोपतालाटनेत्र-
स्पर्धावन्ध्यप्रणयि धनुषः कुंचितस्यांकनेन ।
दैत्यध्वान्तानविकलगदंकारवारश्रीभा
सोऽरातिभ्यः समधिक ततो हव्यभुग्भिन्नरुक्तम् ।। श्री०च०, २४।७

२- येनोद्दस्तो नभसि स सौरैर्मन्दिराणि प्रवेष्टुं
तद्दण्डो मन्येऽनपायकामायां दण्डपादः ।
बाणीकृत्य त्रिपुररिपुणा युज्यमानोऽपि दूरं
स त्रैलोक्याक्रमणकणतां भूय एव प्रपेदे ।। वही, २४।१०

"त्रिपुरदाह" :सर्ग २४: तथा "शराग्निवर्णन" :सर्ग२४: में किया है। कुछ उदाहरण देखिए-

"क्षुब्ध लहरों की रगड़ से और भी निर्मल एवं पद्मरागमणियों के प्रकाश से अनुरंजित जलौघ ऐसा लगता था मानो वाडवाग्निज्वालाओं से परिव्याप्त कर लिया गया हो"[1]।

"कोलाहलपूर्ण दिङ्मण्डल तथा आकाश में व्याप्त भास्वर-वह्नि-ज्वाला-दण्ड ऐसे लग रहे थे मानो त्रिपुरों के भावि विनाश से प्रसन्न विश्वलक्ष्मी की उत्सवनृत्योत्क्षिप्त अनेकों भुजायें हों"[2]।

"उन कवचधारी भी त्रिपुरों के रत्न-मंत्र-औषधियों के समूह को विफल बनाकर महेश के बाणाग्रभाग में विद्यमान अग्निदेव ने, दैत्यों की हड्डियों के जलने के चटाचटाशब्दध्वान के व्याज से, मानो भयंकर अट्टहास कर रहे थे"[3]।

"भास्वरवह्निज्वालाओं से भस्मसात किए जाते हुए अपने निर्दग्ध शरीरों के द्वारा त्रिपुर दुर्ग को हार ले रहे थे। उन्होंने अपनी प्रज्वलित अस्थियों से उज्ज्वलौषधियों वाले कैलास का स्मरण शंकर को करा दिया"[4]।

१- "गाम्भीर्यादिक्षुप्रारुणाश्मरश्मिच्छटापाटलितोऽम्बुपूरः ।
सगर्भौर्वाग्निशिखावलीभिरशेषतो लीढ इवाबभासे" ॥ श्री०च०, १२।४

२- ज्वालादण्डाः पुरपरिभवारम्भसंरम्भयोगे
लोलाः कोलाहलितककुभि व्योम्नि भास्वत्कृशानोः ।
नव्योत्साहोत्सवनृत्तप्रक्रान्तनृत्तक्रियाया
दोर्व्यक्ता इव भुजलता बाह्यो विश्वलक्ष्म्याः ॥ वही, २४।१४

३- संदधानामपि परिकरं रत्नमन्त्रौषधीनां
मोघीकृत्य त्रिनयनशराग्रेसरो जातवेदाः ।
गात्रं गात्रं भुजगभुजां निर्दहन्नट्टहास
व्याजेनैव प्रकटितचटत्कारमस्थ्नाम् ॥ वही, २४।१८

४- नत्यर्कीतापटलघटिता व्यापृतः समन्ता-
दुर्वीमुज्ज्वलितकुहरामिमंस्मरोषैः शरीरैः ।
तस्मीप्राशिषधिकलिताभं कैलासभूमि-
कुम्भैणीस्मरणसरणिं तेऽपुषः शंकरस्य ॥ वही, २४।२४ ।

"निशितविशिख-ज्वाला में पृथक्-पृथक् भस्म होते हुए तीनों दैत्यों ने युद्ध-भूमि-वेदिका में हस्तिकर्मचारी, अपणामिजों के द्वारा किए जाने वाले, त्रैलोक्यापत्प्रशमनकारक सम्पालन्तु यज्ञ में अग्निमयकृत्यभाव को प्राप्त किया[1] :जलते हुए दैत्य-त्रय वेदिकास्थ अग्नित्रय-से लगते थे:।

रौद्ररस का यह कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध तटस्थ वर्णन कुछ अधिक चारु नहीं है। ओजोदीप्ति नहीं होती।

"समुद्र के गर्भ से घर्षित अथच और भी स्वच्छ पद्मराग मणियों के निविड़ प्रकाश से आपाटलित जलपूर ऐसा लगता था कि मानो उसे महाप्रवृद्ध और्वाग्नि-ज्वालाओं ने पूर्णरूप से व्याप्त कर रक्खा हो[2]।

"समुद्र अपने तलभाग की गम्भीरता के द्वारा पाताल को तथा अपनी उत्तुंग तरंगों के द्वारा आकाशतल को व्याप्त करते हुए, विश्वम्भरापृथ्वी की रसनाभूत समुद्र लोकत्रय का आत्मयत्व सिद्ध कर रहा था[3]।

"स्वकुक्षिसुप्त विष्णु की नाभि में स्थित ब्रह्मा के वाहन हंसों- समुद्र के जल में पड़ते हुए स्वच्छ चन्द्रबिम्बों- के द्वारा विगाह्यमान तथा अपनी ऊंची-ऊंची तरंगों के दण्डों से, स्व-शत्रु अगस्त्य :ऋषि-तारा: को निवास प्रदान करने :के अपराध: के कारण :अगस्त्य ऋषि ने एक बार समुद्र का पान कर

१- "भिन्नं भिन्नं निशितविशिखज्योतिषा प्रज्वलन्तो
दैत्येन्द्रास्ते समरवसुधावेदिभूमिषु त्रयोऽपि।
त्रैलोक्यापत्प्रशमनमये सम्पालन्तावपणा-
मध्वर्युभिः स्वजितनरोत्तमता वह्निकृत्यम्॥ श्री०च०, २४।२५

२- "गर्भोन्मदिष्णुप्रवणारुणाश्मरश्मिच्छटापाटलिताऽम्बुपूरः।
समर्वमौर्वाग्निशिखावलीभिरशेषतो लीढ इवाबभासे॥ वही, १२।४७

३- "प्रतीन पातालमधो तरंगैराक्रामदाकाशतलं तदम्भः।
विश्वंभरासारसनायमानं पुष्णाति लोकत्रयसामरस्यम्॥ वही, १२।४८

लिया था : ताड़ित करते हुए, चन्द्रकिरणों से बल पाकर, इस प्रकार, नदियों का स्वामी, समुद्र प्रक्षुब्ध हो रहा था "[1]।

इन श्लोकों की भी स्थिति पूर्ववत् ही है। क्षुभित समुद्र : और पाठक : रुद्ररूप धारण नहीं कर पाता।

भयानक रस का परिपाक दैत्यवधोद्यम : सर्ग २२ :, अपशकुन : सर्ग १६ : एवं युद्धवर्णन में हुआ है। इसका आलम्बन भय देने वाला पदार्थ या तत्व और आश्रय भयभीत व्यक्ति हुआ करते हैं। कुछ उदाहरण देखिए --

"उन दैत्यों के द्वारा अपनी-अपनी तलवारें देखी गईं। वे उन्हें साक्षात् यमराज के कालपाश सर्पों जैसी लगीं। उन दैत्यों की ही आंखों से रक्ताभ होती हुई वे तलवारें उन्हें अग्निवर्षा करती हुई-सी दिखाई दीं "[2]। : वे स्वयं अपनी ही तलवारों से भयभीत हो रहे हैं :।

"दिन में भी शृगालियें अशुभ ध्वनि करने लगीं। उनके मुखों से निकलती हुई अग्निज्वालाएं मानों यमराज के लिए कृतहस्तदीप हैं "[3]।

"व्योमपटल में दैत्यसेना के ऊपर उड़ती हुई काक-पंक्तियां यमराज के द्वारा लिए जाने वाले आदेशपत्र की कृष्णाक्षरपंक्तियां-सी लगती थीं "[4]।

१- गर्भस्थवित्रस्वंभरनाभिपद्मसद्मप्रकीर्णस्वसुराननस्य।
तमीकुटुम्बप्रतिबिम्बभंग्या विगाह्यमानो रथराजवंशैः ॥
क्षुभ्यन्निवागस्त्यनिपानदानाद्वयां ताडयन्नुच्चतरंगदण्डैः।
शशांकदम्भादिव भाभिरिन्द्वोरित्थं प्रचुक्षोभ सरित्सुभर्ता:॥ श्री०च०, १२।५४-५५

२- तैः कृतान्तकरपाशपन्नगस्फारितस्फुटफणागणात्मसु।
शोणकान्तिकृतवह्निवृष्ट्यां दृष्ट्या मुमुचिरेऽसियष्टिषु ॥ वही, २२।५

३- वक्त्रनिर्यदनलार्चिषां मिषादन्तकाय कृतहस्तदीपकाः।
अग्रतः पिशुनिताशिवाः शिवा वाशितानि दिवसेऽपि तेनिरे ॥ वही, २२।३२

४- व्योमपट्टतले निरन्तराः पंक्तयो बलिभुजां विरेजिरे।
उपदन्तकनिदेशशासनं कल्पयन्त्य इव वर्णराजयः ॥ वही, २२।३७

'कृष्णचर्मवेष्टन ही कृष्णकमल :तामरस: हैं जिसमें, एवं चंचल-चपल अलि-लतायें कृष्ण शैवलमाला, ऐसी वह दैत्यचमू यमराज की लीलापुष्करिणी-सी विस्तृत हुई [1] । :सेना लीलापुष्करिणी-सी लगती थी: ।

'धनुषधारी देवसेनाओं के कटकों से लड़ने के लिए राक्षसगण अपनी-अपनी पुरियों से निकल पड़े । उन पुरियों ने समझ लिया कि वह अब पुन: लौट कर नहीं आ सकेंगे । अत: अपनी मणिमय प्राचीरों की प्रभा-बाहुओं से प्रगाढालिंगन किया [2] । :नगरियों से निकलती हुई दैत्य सेनाओं पर प्राचीर-प्रभायें पड़ी: ।

'दैत्यस्त्रियों के कानों से शोभाकमल खिसक पड़े, गले से हार भी गिर पड़ा, दोनों मणिकुण्डल दूर जा गिरे । इस प्रकार शिव जी की सेना के तुमुल नाद को सुनकर दैत्यस्त्रियों को त्रास के कारण, भविष्य में होने वाला भी वैधव्य तत्काल प्रारम्भ हो गया [3] ।

<u>बीभत्स रस</u> का परिपाक विस्तृत रूप में किसी वैराग्योपदेशक ग्रन्थ में शोभा पा सकता है । किसी महाकाव्य में इस रस का निबन्धन यत्र-तत्र छुट-पुट रूप में ही हो सकता है । श्री० च० में भी युद्धादि वर्णन में इस रस के अनेक सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं । देखिए—

१- श्यामचर्मकलिकाविनीलवल्याकुलोपदसिशेवलच्छटा ।
सा दधौ शमनकेलिदीर्घिकादीर्घतामसुरलोकवाहिनी ।। श्री०च०, २२।५०

२- यावदुं सार्यमधिज्यकार्मुकगणग्रामाप्यनिकंठा-
आन्मिनन्दमुदंचिकातिपरसन्नाकेशवा वरिण: ।
संभाव्यापुनरागमं परिणतोत्सुक्याज्ज्वलाद्‌गा स्वरैः
स्वा: पुर्य: परिरेभिरे मणिदृषद्भिर्भाबाहुभि: ।। वही, २२।५५

३- सुरसे श्रवणोत्पलं विजघटे कण्ठादधोहावली
श्रोत्राभ्यां मणिकेलिकुण्डलयुगं विभ्रस्य दूरं ययौ ।
इत्थं दानवसुभ्रुवां हरचमूनादश्रुतौ पप्रथे
त्रासेनैव भविष्यदप्यनुकृतवैधव्ययोग्य: क्रम: ।। वही, २२।५० ।

"देवताओं के द्वारा दैत्यों का महानाश करने के लिए जो आग्नेयास्त्र छोड़ा गया, वह पिशाचादि के निमित्त सचमुच ही रसोईघर की अग्नि का कार्य करने वाला बन गया, क्योंकि उसकी तीक्ष्णाग्नि उनके खाने के लिए, उस युद्ध-क्षेत्र में विद्यमान सभी शवों के हड्डी-मांसादि को एक साथ ही पकाने लगी"[1]।

"दोनों सेनाओं के द्वारा मारे जाते हुए हस्तियों के द्वारा निशाचरों का क्या-क्या सिद्ध नहीं हो गया - मृत हस्तियों के चमड़ों से उनके तम्बू बन गए, उनका खून उनके आसव :मदिरापान: का वृद्धिकारक बना, मांस बीच-बीच में आनन्द से खाने का साधन बन गया और उनके मस्तकों से निकली हुई गज-मुक्ताएं निशाचरियों के स्तनों की शोभावर्धक बनी"[2]।

"जिनके मस्तककुम्भों के दारण से निकली हुई मणियों के द्वारा सकल दिङ्मण्डल छा गया, ऐसे उन मत्त-हस्तियों के शिरःकुम्भ यमराज की पाकशाला के बड़े पतीले ज्ञात होते थे"[3]।

"मदमत्त वीरों के संप्रहारों से मर कर गिरे हुए वीरों का रक्तासव भर रहा है जिस में, तथा मृतवीरों की उसमें उतराती हुई अंगुलियां ही इन्दीवर-रेखाचित्र हैं जिसमें, ऐसा वह युद्धस्थल यमराज का पान-चषक-सा शोभित

१- "अस्त्रं फलं च सममेव पचन्नमानां
यस्तत्क्षणं प्रयुयुजे शुचाशनोऽन्यैः ।
कृष्यात्पिशाचरजनीचरभुक्तानां-
भूरीचकार स महानसवह्निकृत्यम्" ।। श्री० च०, २३।३८

२- "वासः कृत्तिभिरासवर्द्धिसृजा लीलावदंशः पलै-
र्मुक्ताभिः कलकुम्भनिश्च दयितालोकस्तनालंकृतिः ।
किं किं नेत्थमसिप्रवृत्तमृधोल्लासे निशाचारिणा-
मन्योन्यप्रतिहस्तिमारासुरसैन्यैर्दार्यमाणैर्गजैः" ।। वही, २३।४५

३- "छिन्नान्निशातशरदारणनिर्गतान-
स्तूयन्मौक्तिककृताखिलदिग्विभागैः ।
उद्भाव्यमानयमराजमहानसाम्भः-
स्थालीविधिः करटिनामुदर्ककुम्भैः" ।। वही, २३।४६

होता था"[1]।

<u>करुण रस</u> :

किसी वीररस के महाकाव्य में <u>करुण</u> रस का अंग बन कर आना भी स्वाभाविक-सा होता है। युद्ध में वीरों का निधन और उनके निधन से प्रभावित उनके सगे-सम्बन्धियों के आलाप-विलाप अत्यन्त साधारण विषय हैं। एक जागरूक कवि इस परिदेवना का सहानुभूति पूर्ण वर्णन करके ही अपना महाकाव्य समाप्त करता है। महाकवि मंखक ने भी देवों की विपत्ति के वर्णन :सर्ग १७:, दैत्यस्त्रियों का विलापवर्णन तथा रति-विलाप :सर्ग १२: में करुण रस का सुन्दर निबन्धन श्री० च० महाकाव्य में किया है। कुछ उदाहरण दीजिए--

"हे प्रिय! वियोगिनियों को छलने के लिए तुम्हारा यह इतना बड़ा घटाटोपमय क्या संरम्भ है। कहीं अबलाओं को छल करके स्वकीर्ति फैलाई जा सकती है"[2]? :यहां विप्रलम्भशृंगार एवं भयानकरस करुण के पोषकरूप अंग हैं।:

"हे काम! तपस्वियों के जीतने का हठ त्याग दो। ऐसा न हो कि शीघ्र ही मुझे :रति: पुनरपि तुम्हारा दुःसह वियोग सहन करना पड़े"[3]।

"तुम यह क्यों समझते हो कि फूलों से ताड़ित किए जाकर लोग भला किस प्रकार घायल हो सकते हैं? मणि तथा मन्त्रों से भी जो नहीं

१- "असृक्स्रोतः प्रतिस्थलगलदसिच्छेदपतितैः
पतिं वीराणामुपविलसन्मीनासवमदम्।
तदा संग्रामोर्वीतलमविरलेन्दीवरदल-
प्रसन्नोपक्रान्तान्तिकवनकथा विभ्रमभिकात्॥ श्री०च०, २३।५४

२- "प्रिय खण्डयितुं वियोगिनीः क्वारम्भोऽयमियान्परिश्रमः।
अबलादलनात्कथं वाध्यते वद वीरव्रतकीर्तिडिण्डिमः"॥ वही, १२।१३

३- विजहीहि मुधा तपोधनाञ्जयहेतुं स्मर चापचापलम्।
पुरतः पुनरप्यहं सहे नहि वैधव्यविषादविक्रियाम्॥ वही, १२।१८

साधे जा सकते, ऐसे इन फूलों के सामने तो विष भी अमृत-सा लगता है"[1]।

"जिन मुरारि के आगे क्रुद्ध वैरियों के सिर केवल मृत्यु के गल्लों आदि पात्रमात्र लगते थे (अपने चक्र से वे उनका विनाश सहज ही, घड़े फोड़ने की तरह, कर डालते थे) उनका सुदर्शनचक्र आज क्षीणरश्मि, प्रभुषा-सा क्यों लगता है"[2]। (यहां करुणरस का आलम्बनदेवसमूह तथा आश्रय शिव जी हैं)।

"वे तीनों लोकों में तीन नगरों का निर्माण करके, उनमें निवास करते हुए, तीनों ही लोकों का उत्पीड़न करते हुए, सहस्रों वर्षों से वहां रह रहे हैं। उनका नाममात्र सुनकर भी देवस्त्रियां कांपती हुई लताओं की शोभा धारण करती है"[3]।

"जो देवस्त्रियों के द्वारा भूषणार्थ धारण की गई सूर्यकान्त मणियों की ऊष्मा को भी (पुष्पावचयन करते समय) सहन नहीं कर पाते थे, वे ही सन्तानकादि देववृक्ष इस समय उसके सैनिकों से विधूनित हो रहे हैं, इस अपमान से तो अच्छी मृत्यु ही है"[4]।

१- "कुसुमैर्निशाताः कथं व्यथामुपयान्तीति वृथैव मन्यसे ।
मणिमन्त्रपथातिवर्तिनां विषमेषां हि पुरोऽमृतायते ।। श्री०च०, १२।२३

२- "यावेगं युधि कलितां द्विषां शिरोभिर्यस्याग्रे समजनि मृत्युभाण्डभंगिः ।
तच्चक्रं प्रशमरसंदराग्निमार्चिःसंचारं किमिति सुरद्विषाऽधिविष्टे ।। वही, १७।३८

३- "ते प्राप्य त्रिपुरप्रथामपृथग्लोकान्रुजन्तः स्थिता
दिव्यान्यब्दशतान्युपनमविश्वापमृत्युश्रियः ।
यन्नाम्नाप्यधिरोहता श्रुतिपदं गीर्वाणवामभ्रुवां
गाहन्ते तनवोऽतिवेपथुमनोवल्ललतासौहृदम् ।। वही, १७।५२

४- "याः क्रीडाविबुधावरोधपरिष्कारार्ककान्तानल-
ज्वालातापलवावलेहमपि नो मध्येदिनं सेहिरे ।
ताः संतानकवीरुधो विधुनितास्तत्सैनिकैः सांप्रतं
दावाग्निर्यदि नाम रक्षति ततो भीमावमानज्वरात् ।।वही, १७।५५

शृंगार रस :

रसराज शृंगार का वर्णन मंखक ने विस्तार से किया है। उचित अवसर के अभाव में खींचतान कर भी अवसर निकाला है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ द्विविध शृंगार का वर्णन किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

"प्रथम-प्रथम मद्यपान करके, मदमस्त हो, कोई तरुणी अपने मुख में मद्य भर, उसे अपने प्रिय को पिला रही है। उसने स्वमुख को ही चषक बना लिया है कि जिसमें नेत्रद्वयरूप कमलद्वय खचित हैं"[1]।

"शृंगारियों का युवतियों के साथ, प्रेमाविष्ट के कारण, मन का अविभाग तो प्रथमतः ही सिद्ध था। उस कालविशेष में तो कामशरों से और भी जटिल कर दिए जाने के कारण शरीरों का विभाग भी दिखाई नहीं देता था"[2]।

"चितचोरों के द्वारा, एकान्त में, कामिनियों के वस्त्र हटाने पर, रसराजकाम के आगरण को जान, कांची कलकलध्वनि करने लगी"[3]।

"सुरतावसान में हरिणेक्षणाएं, 'आंखें बन्द-सी किए हुए, ओष्ठ कुछ-कुछ फड़कते हुए', की दशा में देर तक पड़ी रहीं। विदित होता था कि जैसे वे आंखें बन्द करके ध्यान कर रही हों और ओष्ठ फड़फड़ा कर काममंत्र का

१- "मद्यपानकेलिकिलिकिंचिताञ्चिता भूतमासवेन मुखामत्राञ्चला।
पुष्पनेत्रनीलनलिनं विनिर्ममे मुखमेव कापि दयितस्य कुन्तलम्"।। श्री०च०, १५।४४

२- "शृंगारिणां युवतिभिः सह रागयोगा-
त्प्राक्सिद्ध एव मनसोरविभाग आसीत्।
सुस्यूतयोः स्मरशरैरिव दृश्यते स्म
तस्मिन्क्षणे तु वपुषोरपि नो विभागः।। वही, १५।२१

३- "वस्त्रं हरत्सु विजने[?]थ च चित्तचौर-
लोकेषु तूर्णमबलाजघनस्थलानाम्।
वीक्ष्य प्रबोधममं रसपार्थिवस्य
कांची चिरं कलकलं कलमाततान।। वही, १५।१८।

जप कर रही हों । इस प्रकार ध्यान व जप एक साथ-साथ करके अतिशीघ्रता से कामदेवता को सिद्ध कर लेना चाहती हैं'[1] । :विरोधी शृंगार व शान्त रसों की भावसन्धि 'मान्मथ' पद ने सम्पादित कर दी । गम्य उपमोत्प्रेक्षा भी सराहनीय है: ।

'वह एकतान से तुम्हारा :नायक: ही ध्यान कर रही है । दसों दिशाओं में तुम्हें प्रतिफलित देखती है । और अधिक विरहान्ध हो जाने पर वह तुम्हारे उन प्रतिबिम्बों को ही सत्य समझने लगती है । उसे यह देखकर और भी अधिक जलन होती है कि हमारे प्रियतम का कैसा प्रगाढ़ आलिंगन दिशा-नायिका ने कर रक्खा है'[2] ।

<u>शान्त-रस :</u>

वस्तुत: श्रीकण्ठ चरित एक भक्ति-रस का काव्य है । कवि और उसके पिता परमशैव थे । पिता के द्वारा शिवस्तुति की आज्ञा स्वप्न में दी ही गई थी[3] । यों भी कवि शिवस्तुति को ही अपनी कृतकृत्यता मानता है । यही कारण है कि इस महाकाव्य में अनायास ही शिवभक्तिवर्णन का अजस्र स्रोत फूट पड़ा है । प्रथम, पंचम, सप्तम, षोडश और सप्तदश सर्गों के भरपूर वर्णन के बाद भी अनेकों सर्गों में प्रसंगत: शिवजी का भूरि-भूरि स्तवन आया है । इन सर्गों-श्लोकों के सिवाय भी सम्पूर्ण महाकाव्य में 'शंकरभक्ति-चर्चा'[4] ही तो है।

१- 'मीलद्विलोचनपुटाः स्फुरिताधरोष्ठा-
स्त्वत्सुस्थिरं मृगदृशः सुरतावसाने ।
ध्यानं जपं च युगपत्प्रतिपद्य सम्य-
गाराधयन्त्य इव मान्मथमन्त्रमन्त्यम् ॥' श्री० च०, १५।४०

२- 'अनल्पसंकल्पवशेन मन्यते दिशस्त्वदाकारकृताकुला: ।
ततश्च सा बाहु मुहुर्विमुञ्चती विमुंचती ष्वांकुषे विलोकने ॥' वही, १२।३६

३- वही, ३।७५

४- वही, १।४४ ।

कवि ने शिव-स्तुति अथवा शान्त रस के लिखने में अपूर्वतम कौशल अभिव्यक्त किया है। कवि ने बन्दीजनों के मुख से शिव जी की जो स्तुति कराई है,[1] वह सम्पूर्ण महाकाव्य का प्राण है। सर्वत्र भी, भगवत्स्वरूप वर्णन तो बस पढ़ते ही बनता है।

शान्तरस का स्थायीभाव 'शम' होता है। परमात्मस्वरूप ध्यायन् अथवा निःसारता-चिन्तन् इसके आलम्बन विभाव हैं। पुण्याश्रम, वन तथा महापुरुषों के दर्शन आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। निर्वेद, स्मरण, मति तथा भूतदयादि संचारी तथा रोमांच, कम्प एवं अश्रु आदि व्यभिचारी-भाव होते हैं।[2] उदाहरण --

'भगवान् खट्वांगी (शिव) की तृतीयनेत्राग्नि विजय को प्राप्त करे। इस ही अग्नि ने काम-पतंग को भस्म कर डाला है तथा इसके समक्ष तो भाल-चन्द्र की किरणें रूई के फाहे के जैसी ही लगती हैं'।[3] (नेत्राग्नि की जय शराग्नि की जय का संकेत है)।

'गौरी को प्रसन्न करने के लिए शिव जी ने अपना शिर उनके चरणों में धर दिया। इससे शिरस्थ स्वच्छ गंगाजल में पार्वती-वाहन सिंह की प्रतिच्छाया

१- श्री० च०, १८। १-५६

२- 'शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिमतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्री नारायणदैवतः॥
अनित्यत्वादिना शेषवस्तुनिःसारता तु या
परमात्मस्वरूपं वातस्यालम्बनमिष्यते॥
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।
महापुरुषसंगाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः॥
रोमांचाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः॥
निरहंकाररूपत्वाद्दयावीरादिरेष नो' ॥ सा० द० ३। २३८-२३९

३- 'जीयात्स्मरातंकपतंगदाहः खट्वांगिनो नेत्रशिखिप्रदीपः
यस्यान्तिके तूलदशामिवेशमियं किरीटेन्दुकराः भजन्ते॥ श्री० च०, १।१

की ध्वनि होती है:।

"हे पंचविंशात्म ! सांख्यशास्त्रवेत्ता व्यर्थ ही तुम त्रिलोकपालक को 'उदासीन स्वभाव' कहते हैं। तथापि यह प्रकृति ही जगत्कर्त्री है, तो ज़रा कैवल्य तो करे बिना आपके छायानुग्राहकत्व के"[1]। :यहां कवि ने सांख्यमत की समालोचना की है:।

अद्भुत और हास्यरस भी यत्र-तत्र अंशरूप से आ गए हैं। इनके लिए कवि ने कोई सर्ग-विशेष नहीं रक्खा है। फिर भी आए हुए श्लोक इन-इन रसों के सुन्दरतम उदाहरण-से हैं। देखिए---

"अहा ! भगवान् शिव जी का एक अलौकिक ही तेज, दैत्यों पर चढ़ाई करते समय, विस्तृत हुआ। उनके उस तेज में तो रथचक्रत्व को धारण करने वाले चन्द्र-सूर्य का तेज भी विलीयमान हो गया"[2]।

"जटाभूषण शेष तो ऊपर तथा रथरूपा पृथ्वी :उनके: नीचे हो गई। और उस पृथ्वी के भी नीचे सूर्य-चन्द्र रथचक्ररूप में थे। उस काल तो सचमुच ही विश्वविपर्यय हो गया था"[3]। :साधारण स्थिति में सबसे नीचे शेषनाग, उनके ऊपर पृथ्वी, और पृथ्वी के ऊपर सूर्यचन्द्र स्थित होते हैं। त्रिपुराभियान में पृथ्वी रथ थी, सूर्यचन्द्र उस रथ के दो पहिए थे। उस ऐसे रथ पर शिवजी बैठे थे। उन शिव जी के सिर में सर्पों :शेषनाग: का अधिवास था। इस प्रकार विश्वविपर्यय का दृश्य उपस्थित था:।

१- "विमूढा वितथमुदासनस्वभावं भाषन्ते पुरुष तव त्रिलोकभर्तुः।
कर्त्री चेत्प्रकृतिरियं करोतु किंचित्कैवल्यं भवदधिरोहमन्तरेण" ।।श्री०च०, १७। २०

२- "अहो महो दैत्यजनाभिषेणने तदीश्वरस्यानुपमानि पप्रथे।
रथांगभूमी दिनकृन्निशाकरौ विलुप्तरे यत्प्रसरे महस्वतुः"।। वही, २१। १८

३- ~~"भुजंगमौलेरुपरो वसुन्धरा रथांगताभाजि पतंगमण्डले।~~
~~प्रवृत्य तद्विस्मयिक्रमधारणो प्रपश्चि भायमुपपर्ययं नृत्।। वही, २१।३४~~

"उपर्यहीन्द्रो गिरिशस्य भूषणं बभौ रथात्मा तदधो वसुंधरा।
अधाश्च तत्पादयदेन्दुसूर्ययोरहो तदा विश्वविपर्ययोऽभवत्"।। वही, २१। १९

वर्णित होने के कारण सम्पूर्ण श्री० च० महाकाव्य ही साधारणतया भाव के अन्तर्गत आ जाएगा । भावाभासादि के कुछ उदाहरण देखिए —

"विषमशर के प्रभाव से अत्यन्त तापवती, कांपते हुए अंगों के साथ, रागयुक्त दृष्टि वाली, अम्बर, मुक्ता हो, कान्ता के समान ज्वालामाला ने उन दैत्यत्रय को अत्यन्त व्यामोहित कर दिया [1] :यहां रति-उत्साह-जुगुप्सा का, विरोधी होने के कारण, परिपाक नहीं हो पाता । सहृदय के हृदय में तीनों भाव आभासित मात्र होकर रह जाते हैं:।

"विजयी होकर यदि शीघ्र ही आ जाते हो, तो ठीक ही है, यदि नहीं, तो हमारा देवलोक में मिलन होगा", ऐसा कहकर किसी वल्लभा ने स्व-प्राणेश से कुछ पूछना चाहा [2] ।:उत्साहोदय: ।

"कोई अपने प्राणप्रिय को युद्ध में जाने से रोक रही थी कि उसकी आंखें आंसुओं से पिधीयमान हो गईं । अवसर पाकर वह वीर शीघ्र ही घर से बाहर हो गया [3] । :रतिभाव की शान्ति:

"प्रियतमा के हाथ से स्वांचल को छुड़ाकर भागता हुआ कोई वीर फिर-फिर मुड़कर उसे देखता जाता था [4] । : रति एवं उत्साह की सन्धि: ।

१- 'तापं विभ्रत्यसमविशिखादंगतो वेपमाने-
    र्नै रागव्यतिकरमथाभिदधानेव दृष्टिम् ।
  ज्वालैका दिक्षिलपतिम्बुरमुक्ताम्बराली-
    रालिंगन्ती व्युरमकरोदाकुलाम्भोजनेन' ।। श्री० च०, २३।१२
२- 'विजित्वर: सत्वरमेषि चेत्प्रियं न चेत्पुनर्नौ त्रिदिवेऽस्तु संस्तव: ।
  इतीरयित्वा वरतायितेक्षणा कयाचिदप्रष्टुमियेष वल्लभम्' ।।वही, २१-२३
३- 'रुरोध काचिद्दयितं ततोऽश्रुभि: पिधीयमानाकुलालोचनाभवत् ।
  उपांशु निर्गत्य बभौ स संयुगे तदन्तरे वीररसैककिंकर:' ।। वही, २१।२५
४- 'हठादिनिर्मन्थ कोऽपि मत्सरात्करात्प्रियायाञ्चलपृष्ठोऽञ्चलम् ।
  जवेन गत्वापि मनाग्वतावशो बभूव वीक्षावलितार्धकंधर: ।। वही, २१।२०

'युद्ध में वीरगति प्राप्त करके तुम देवनारी का परिचुम्बन करना चाहते हो, मैं यह सहन नहीं कर सकती', ऐसे ईर्ष्यायुक्त शब्द कहकर किसी ने स्व-प्रिय को रुद्ध कर लिया'[१] । :रति, क्रोध, ईर्ष्या, चिन्ता, मति, तर्क, दैन्य, ग्लानि तथा उत्साह का शबलत्व :।

१- 'प्रथम मार्ग करवा कलत्थंना सुरनारीः परिरब्धुमिच्छसि ।
न तत्सहे तेऽहमिति प्रियोऽन्यया न्यरुध्यतेर्ष्याकलुषाक्षरैः पदैः' ।।

श्री०च०, २१।२४

और भी- 'उपुके गुणवदिव रावकमनव्यक्रीर्णया सुप्रगमे-
निर्मातुं भुवनानुरंजनविधिं देवै वता भास्वति ।
तत्कन्यासु विकृष्य दिक्षु सुचिरं निद्रादरिद्रे दृशा-
मुत्कण्ठां च हर्षं च विस्मयरसोल्लासं च तुल्यं दधौ ।।

वही, ३।७७

:प्रतिभा: कलात्मक सौन्दर्य

गुणालंकारादि

:गुण और रीतियों का निदर्शन अलंकारों के अन्त में है:।

कुण्डलकटकादि कामिनी के शरीर-लावण्य को उद्दीपित कर देते हैं। इससे नवयौवना का परमोत्कर्ष सम्पादित हो जाता है। इसी प्रकार साहित्य में अनुप्रासोपमादि अलंकार शब्दार्थ को सुग्राह्य बना देते हैं। शब्दार्थ की सुग्राह्यता से रस-चर्वणा विशद हो उठती है।[1] अलंकार, साहित्य में, रस के परिपोषक होते हैं। अतः रस की अनुकूलता का ध्यान करते हुए ही अलंकार-निबन्धन करना कवि का परम कर्तव्य है।[2]

वाच्यार्थ से अधिक रमणीय व्यंग्यार्थवाला ध्वनि काव्य सर्वोत्तम माना जाता है।[3] शरीरी व्यंग्य-व्यंजक अलंकार भी ध्वनिरूपता या उत्तम-काव्यत्व धारण कर लेते हैं।[4]

१- "उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः" ।। का०प्र० ८।६७

२- "रसाक्षिप्ततया यस्यबन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः" ।। ध्व० २।१७
विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ।।
निर्व्यूढापि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।
रूपकादिरलंकारवर्गस्यांगत्वसाधनम्" ।। ध्व० २।१८-२०

३- "इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः" ।। का०प्र० १।४

४- "शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम् ।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः" ।। ध्व० २।२९
"ध्वन्यंगता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां <u>व्यंजकत्वेन</u> <u>व्यंग्यत्वेन</u> च" । वृत्ति [illegible]कारिका २।२९

रस के परिपोषक या व्यञ्जकता- व्यंग्यव्यंजकभाव- को प्राप्त अलंकार उत्तम काव्य हो, उत्तम साहित्य के प्रमापक होते हैं। इससे भिन्न मात्र वाच्यालंकारपरक रचना चित्र काव्य के अन्तर्गत आती है[1]। चित्र काव्य निम्नकोटि का माना जाता है।

श्रीकण्ठ चरित अलंकार प्रधान काव्यग्रन्थ है। एक-एक श्लोक स्वयं अपने में पूर्ण-सा लगता है। कवि को स्वयं ही सन्देह-सा है कि उसका यह ग्रन्थ 'सूक्तिसंग्रह' है या एक प्रबन्ध काव्य है। संस्कृत साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने इसे महाकाव्य न मानकर स्तोत्रकाव्य माना है और स्तोत्रकाव्य में तद्देवताविषयक सूक्तरचना ही संगृहीत होती है। फिर भी, इसका महाकाव्यत्व तो सिद्ध ही किया जा चुका है। तात्पर्य केवल इतना ही है कि कहीं-कहीं कवि ने 'भावनिर्वहणोपेक्षिता' का उल्लंघन कर डाला है।

रस के परिपोषक, व्यंजक, व्यंग्य तथा चित्ररूप आदि सभी प्रकारों से इस ग्रन्थ में अलंकारों का सुन्दर निबन्धन हुआ है।

शब्दालंकारों के प्रयोग में कवि ने बड़ी सतर्कता का व्यवहार किया है। महाकवि भारवि-माघ आदि की भाँति मंखक ने यमकालंकार का प्रचुर प्रयोग नहीं किया है। यमकालंकार का प्रयोग श्री० च० में लगभग नगण्य-सा है। और भी वृत्त्यनुप्रासादि शब्दालंकारों का प्रयोग कहीं भी मात्र प्रदर्शन की दृष्टि से नहीं किया गया है। छुटपुट रीति से ही वे जहाँ-तहाँ आ गए हैं।

अर्थालंकारों में श्लेष, उत्प्रेक्षा और समासोक्ति मंखक को विशेष-रूप से प्रिय हैं। कहीं-कहीं लम्बे श्लिष्ट सांग रूपक भी कवि ने बाँधे हैं। उपमा-

---

१- 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्'।
का०प्र०, १।५

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः' ।।
ध्व० वृ० ३, पृ० २७७, का०ध्व० ३५, ११.३५

विलक्षण उत्प्रेक्षाओं से कवि की कल्पना की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। श्लेष तथा अन्य अलंकारों के प्रचुर प्रयोग के कारण श्री० च० कुछ जटिल भी हो गया है। महाकवि मंखक एक प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री भी थे। अलंकारसर्वस्व-वृत्ति उनकी प्रसिद्ध रचना कही गई है। कवि-समाज में वह 'वर्णिकार मंखक'[1] के नाम से प्रसिद्ध थे। यही कारण है कि श्री० च० में अलंकारों का बड़ा ही विशद एवं मनोरम निबन्धन हुआ है। 'अलंकार सर्वस्व' में वर्णित अलंकारों के क्रम से श्री० च० के अलंकार-विन्यास को देखिए--

"निकटस्थ स्वप्रियजनों के आलिंगनवश विह्वल शरीर की शोभा को धारण करनेवाली तथा मद्य के प्रलापों से चंचल चमत्कार-कटाक्षों से शोभित वे स्त्रियां चषक में प्रतिबिम्बित चन्द्र से इस प्रकार बोलीं"[2]। उद्धृत पद्य छेकानुप्रास[3] तथा वृत्त्यनुप्रास[4] का उदाहरण है।

<u>यमक</u>[5] - "काम के अनुकूल शोभा को <u>वसन्त</u> के धारण करने पर, कैलास की शोभा देखने के लिए भगवान् शिव जी पार्वती के साथ निकले"[6]।

<u>अर्थालंकार</u> :

उपमा[7] :श्रौती: - "द्वितीय बड़वाग्नि-सी वह शिव-शराग्नि आपके पापों को भस्मसात करे जो दैत्यस्त्रियों के अश्रुसागर से कभी तृप्त नहीं होती थी"[8]।

१- श्री० च० ५।१२

२- "तास्तन्वंग्य: परिरब्धस्वप्राणनाथाकंपाली-
  लीलालोलाकलितवपुषोऽमुत्कलोल्लसन्त्य: ।
  मध्वावल्गनतरलितापांगभंगच्छटाभि:
  मध्येसीधु प्रतिफलितमिदं व्योममृगाङ्कमूचु: ।। वही, १४।५३

३- ४- "संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रास:" एवं "अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रास:"। अलं०स०, पृ०२४-२५

५- "स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्"। अ० स०, पृ०२६, ~~का०सू०वृ०~~,

६- "इति रतिपरिणीतुरन्तरंगीं कुसुममयी समये वसन्तचिन्ताम् ।
  स्फटिकशिखरिण: श्रियं दिदृक्षुर्निरगमदद्रिसुतासख: स देव: ।।श्री०च०,७।१

७- "उपमानोपमेययो: साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा"। अ० स०, पृ० ३१

८- "स किल्बिषं लुम्पतु व: शराग्निरुमापतेरौर्व इव द्वितीय: ।
  यो दानवस्त्रीदृशां वमाश्रु वान्यावपूरैरपि न तृप्यति स्म ।। श्री०च०,१।६

:श्लिष्टरूपक: 'गरुड़रूपी चन्द्रमा आपकी कठिन-विरह-विष-पीड़ा को [व्यंग्य] दूर करें जो :गरुड़ तथा चन्द्रमा साथ-साथ: कृष्ण-कलंक को धारण करता है, जो दीप्तमार्तण्डमण्डल से जन्म ग्रहण करता है, जो भुजंग-भिलाषियों को कंपकंपा देते हैं और जो पक्ष-क्रम से आकाश में विचरण करते हैं'[1]।

रूपक :शुद्ध: 'कामदेवरूपी मतवाले हाथी के मद-पवन के समान यह मलयानिल, एलासुगन्धि पूरित हो, समस्त लोकों को विशेष रूप से मदमत्त बना रहा है'[2]। :मलयानिल मधुसार से बढ़कर है, रूपक के द्वारा व्यतिरेक-ध्वनि:।

<u>स्मरण</u>[3] - 'भासती हुई उत्तुंगज्वालाओं से पृथ्वी को चारों ओर व्याप्त करते हुए, भस्मावशेषशरीर उन दैत्यचक्र ने शिव जी को, स्थान-विशेषों में शोभित उन-उन ओषधियों वाले कैलास का स्मरण करा दिया'[4]।

:व्यंग्यरूप: 'सम्पूर्ण दिशाओं में चमकती हुई देवों की अंगुलियों में प्रतिबिम्बित कोई दैत्य :स्फुट हो: रावण की दशा को प्राप्त कर, सुर-सैन्य के कम्प का कारण बन गया'[5]। :रावण ने कैलास उठाया था:।

१- 'कृष्णांकं बिभ्रदंकं जननमुरुरणगाढमार्तण्डगर्भं
भित्वा तन्वन्भिलाषिष्वविरलपुलकोत्कम्पमात्रं शरीरम् ।
बध्नन्वर्गाणि पक्षाक्रमणपरिणतैरन्तरिक्षान्तरालं
बध्याद्राजा द्विजानामविरतविरहक्रोडपीडापरं वः'।। श्री०च०, १२।६५

२- 'मधुलवणगन्धनिकुंजपरिमल एष विशेषतो जगन्ति ।
मदयति मलयानिलो द्विर्देमदनमदद्विपकर्णतालवायुः ।। वही, ७।२१

३- 'सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' । अ० स०, ४०

४- 'नृत्यत्कीलापटलघटिता व्याप्नुवन्तः समन्ता-
द्भुविभिन्नांशिखरैरिभस्मशेषैः शरीरैः ।
तद्दीप्त्योषधिकविकाशोत्संगकैलासभूमि-
क्रमेणैः स्मरणसरणिं ते पुष्पकस्य'।। श्री० च०, २४।२४

५- 'सकलदिगनुबद्धोर्मिकस्फुरनशिलांशुप्रतिबिम्बिताननः ।
दशमुखपदवीमवाप्तुरो सुरबलकम्पकृतां परां गमत् ।। वही, २३।३०

<u>सन्देह</u>[1] – “ब्रह्मा के आसनपद्म में रहकर भी (दैत्यों के नाश से प्रसन्न ब्रह्मा के द्वारा पुनः स्वासन ग्रहण करने के कारण (सुगन्धि उत्पन्न हो जाने पर तथा गणेश जी के मदकणों के सूख जाने पर (युद्ध समाप्त हो जाने से उत्साह क्षीण हो जाने के कारण), सुरकानन-लताओं के गुणगायक भ्रमरों का मन, ब्रह्मा के आसनपद्म में गणेशमदगन्ध को खोजते हुए, संशय में पड़ा गया”[2]।

“सूर्यमण्डल से, प्रतिपदा को, चन्द्रमा को प्रदीप्ति प्राप्त करते हुए देखकर समस्त लोक यह सोचने लगा कि क्या यह सूर्य, कौतुकवश से ही उत्पन्न कर दी गई यमुना की भांति, आज गंगा को भी उत्पन्न कर रहा है। ऐसा वह उदय होता हुआ स्वच्छ रजनीश कामकेलि-उत्सवों में आपलोगों की शान्ति का आपादन करे”[3]। (निश्चयान्त)

भ्रान्तिमान्[4] – “विविध रत्नविभूषित शृंगमालाओं में प्रतिबिम्बित हो-होकर शिव जी की नेत्राग्नि जहाँ अपार दावाग्नि का भ्रम उत्पन्न कर देती है”[5]।

१– “विषयस्य संदिह्यमानत्वे सन्देहः”। अ० स०, पृ० ५३

२– “धातुर्विष्टरपद्मे पुनरपि प्रक्रान्तगन्धोद्धतौ

निःष्यन्दे मदविप्रुषां च वदनादुद्दाम विघ्नद्विषः।

भृङ्गाणां सुरकाननान्तरलतावैतालिकानामनु-

त्साहोऽप्यरसान्तरं सुलभतां दोलायितं मनः”।। श्री० च०, २३।४२

३– “गंगामप्येष लीलोज्झितयमुनावान्पुरः किमकों

निर्मुञ्चत्येव यस्मिन्प्रतिपदि विशदं मण्डलादुज्जिहाने।

लोकोऽनल्पान्विकल्पानिति वहति पतिर्यामिनीनां स विघ्नं

नेयाद्वः शान्तिमाविर्भवदसमशरक्रीडितोपक्रमेषु”।। वही, १२।६८

४– “सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्”।। अ० स०, पृ० ५५

५– “यत्र नेत्रानलः शम्भोः प्रतिबिम्बावलम्बनात्।

कल्पतेऽनल्पदावाग्निशिल्पकृत्स्वसानुषु”।। श्री० च०, ३।१६

:ध्वनिरूपता व्यंग्य: "श्वेत विचकिलपुष्पराग में चन्द्र-किरणों की मृग-तृष्णिका का शिकार देखो। यह चकोरशिशु सा मातृरूप से प्राप्त भी किरीट-चन्द्र-किरणों का पान नहीं करता[1]।

उल्लेख[2] - "देवांगनाओं के मुखों का सपत्न, उत्तालोत्पलहरियों के तास्वाचार्य, स्मरमदकर्त्ता के मांत्रिक-सा चन्द्रमण्डल आकाश में व्याप्त होकर लोगों के चक्षु-पीडन को दूर करने लगा[3]।

"बड़े-बड़े कामशास्त्रीय रहस्यों का व्याख्याता, अभिसारिकाओं का कल्याणमित्र, सुन्दरियों की रति का रत्नप्रदीप, अन्धकार को नाश करने के कारण दन्तुरबन्धु, त्रिलोक को आकाश तथा पृथ्वी भागों में विभजित करने वाला देव रात्रिपति :चन्द्र: प्यासे चकोर की पौशाला बन गया[4]।

अपह्नुति[5] - "उदयाद्रि की यह स्फटिक शिलाएं नहीं हैं, प्रत्युत :चन्द्रोदय के कारण: भाविनाश के भय से अन्धकार ही अस्थिशेष बन गया है[6]।

१- "शशिकरमृगतृष्णिकाविकाराविचकिलरेणुषु विप्रलब्धशिशुः।
भरमपि परमार्थचन्द्रिकाया वहति न पश्य चिरं चकोरशावः ॥श्री०च०, ७।२३

२- एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः" ॥ अ०सू०, पृ० ५८

३- "भ्रातृव्यं दिव्यनारीजनवदनरुचां कुमुदाचार्यकार्य-
मम्भोधेः स्थूलमुक्तकमलहरीलास्यलीलारहस्ये।
बिम्बं कौटुम्बदृष्टि स्मरमदकरटिमान्त्रिकप्रधानां
चाक्षुं प्रागेव लीढा म्बरतलमलनाद्विश्वचक्षुर्विषादम्" ॥ श्री०च०, १०।५०

४- "व्याख्याता पृथुमन्मथोपनिषदां कल्याणमित्रं छ-
प्राणेशाभिसृतिव्रते मृगदृशां रत्नप्रदीपो रतेः।
ध्वान्तारुन्तुदकान्तिदन्तुरवपुः श्रीमन्नितस्वर्भुवो
देवो जायत यामिनीप्रियतमस्तृष्यच्चकोरप्रपा ॥ वही, १०।५५

५- ~~व्याख्याता पृथुमन्मथोपनिषदां कल्याणमित्रं छ-~~
"विषयापह्नवे ऽपह्नुतिः" ॥ अ० स०, पृ० ६२

६- "पूर्वपर्वतशिलाशिला यिमिमाविभिः शशिमयूखपाण्डुरैः।
भाविनाशभयतस्तदादेवास्थिशेषमिव विग्रहं तमः" ॥ वही, १०।३४

:ध्वनिरूप: 'सकल विश्व को विजय करने की कामना वाले रतिपति की सेना के अभियान की धूल ही। आकाश में छा गई। है :यह अन्धकार नहीं है:। जीवों ने, डर से, निद्रा के बहाने, भय से, अपनी-अपनी आँखें बन्द कर ली हैं।[1]

उत्प्रेक्षा[2] :वस्तूत्प्रेक्षा: 'अर्धनारीश्वर भगवान् शिव जी का अर्धांग जो गौरीमय शोभित हो ही रहा है, शेषार्ध में केयूर-कंकणादि रूप सर्पों की मणियों की रक्ताभा पड़ रही है। ऐसा लगता है कि मानो- अर्धांग में गौरी का अधिष्ठान होने के कारण- शेषार्ध में उनकी सतत् वल्लभा अरुणाभा सन्ध्या ने हठात् अपना अधिष्ठान बना रक्खा हो[3]।

:हेतूत्प्रेक्षा: 'जिन शिव जी के द्वारा, यज्ञ के नष्ट कर दिए जाने के कारण एवं ऋत्विज-पुरोहितों के भाग जाने के कारण, अन्त में दक्ष-प्रजापति से स्व-नेत्राश्रु में ही अवभृथ-स्नानविधि पूरी कराई गई[4]।

:फलोत्प्रेक्षा: 'नृत्योत्सव में ताण्डव करते समय जिनका एक चरण ऊपर उठता है और गगन-सागर में पुल-सा बन जाता है। उस चरण को तारे

१- 'सैन्यरेणुरुदगाज्जिगीषतो रोदसी रतिपतेर्गुणं तमः।
स्वापकैतवमुपेत्य जन्तुभिर्भयादिव निमीलितादृशः' ।। श्री०च०, १०।३०

२- 'अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा' ।। अ० स०, पृ० ६६

३- 'गौरीमयैकवपुरर्धमुदाहरागं
केयूरकंकणफणीन्द्रमणिप्रभाभिः।
शेषं द्वितीयमपि भागमिवावरुद्धं
यः संध्यया सततवल्लभया बिभर्ति ।। श्री० च०, ५।२०

४- 'येन ऋत्वाशु मखे विलुप्ते कोपा-
न्नष्टास्विक्ष्विनमुनिलोकेषु(?)त्वत्स्वे।
दक्षस्य तत्क्षणविषादभुवा निजेन
बाष्पाम्बुनेव पूर्णतामवभृतो विदधे ।। वही, ५।२७

ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो मार्गश्रान्त चरण के टपके हुए स्वेदबिन्दु हों"[1]।

:उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा: "वितस्ता नदी के द्वारा जिस काश्मीर भूमि में, तटद्रुमों से गिरे हुए फूलों पर सुगन्ध्याधिक्य से चिपटे हुए भ्रमरों के कारण, हठपूर्वक अतिकाल तक मज्जनोत्सव मनाती हुई सुरस्त्रियों की वेणियों का वाहक बना दिया जाता है"[2]। :भ्रमरमाला की वेणी जैसी प्रतीत होने में उत्प्रेक्षा कारण है:।

<u>दीपक</u>[3] :क्रिया: "जिस :कैलास: की कान्तिप्रभा शिव जी की द्वितीय-भूति, मानसजलों की फेनश्री तथा भुजङ्गमों की केंचुललहरी के समान शोभा पाती है"[4]।

:कारकदीपक: "उदय होता हुआ सूर्य चन्द्रकान्तमणियों के शिलाद्रवणों को शान्त करता है, विश्व की चक्षुओं के सामने से :अन्धकार: तिरस्करणी को हरणकर लेता है, समुद्र के क्षोभ को शान्त करनेवाला मन्द्रवेला :ओका: है और इन्द्रदिशा :पूर्व: के अलंकार-भूत उदयपर्वत को अपना सिंहासन बनाता है"[5]।

१- "मृगोत्सवे स्फुरति यस्य स चण्डपादो
यस्मिन्गते गगनसागरसेतुमुद्राम् ।
दूराध्वलंघनघनश्रमवारिबिन्दु-
वृन्दश्रियं विरमुद्गनि बटाकयन्ति ।। श्री० च०, ५।१८

२- "वितस्तया यत्र लुठत्तटद्रुमप्रसूनसौगन्ध्यहृताऽलिसंपदः ।
पुरन्ध्रिवृन्दे हठमज्जनोत्सवप्रमत्तसुरस्त्रीकबरीभ्रमायतः ।। वही, ३।७

३- "प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु दीपकम्" ।। अ० स०, पृ० ६१

४- "द्वितीयविभूतिर्गौरस्य फेनश्रीर्मानसाम्भसाम् ।
भुजङ्गमस्त्रीनिर्मोकशोभा यत्कान्तिसन्ततिः" ।। श्री०च०, ४।३०

५- "तनुते तनुते चन्द्रग्राव्णां शिलाद्रवणार्पणं
झटिति हरते विश्वास्याग्रात्तिरस्करिणीं दृशोः ।
अपि च शिशिरोऽपारापत्पूतिकातिमान्त्रिका
हरिदरिदलंकारं सिंहासनीकुरुते गिरिम्" ।। वही, १६।१६

दृष्टान्त[1]- दोषाविष्करण के द्वारा नीच व्यक्ति चाहे कितना भी कष्ट क्यों न दे, वह अन्ततोगत्वा उपकार ही करता है। सरस्वती का प्रसाद-पात्र बना देता है। काजल आंखों में लगाया जाकर कृष्णाश्रुप्रवाह करवाता है, फिर भी बिना उसके दृष्टि-प्रसाद प्राप्त नहीं होता[2]। :साधर्म्यमूलक:।

:वैधर्म्यमूलक: "उन-उन :सगुणत्व, दोष त्यागत्वादि: विचारों की पराकाष्ठा के साथ रचित काव्य ही निर्दोषत्व को प्राप्त होता है। रत्न शाणोपल पर चढ़ाए बिना शुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर पाया करता है[3]।

:ध्वनिरूप: "आकाश में सैन्यरजस्तम के व्याप्त हो जाने पर तथा चारों ओर गणों-देवताओं के कान्तियुक्त या तेजस्वी हो चुकने पर, उन दैत्यों के वीरभाव को न त्यागने पर, उनका तेज उस शराग्नि में निमज्जित हो गया। अन्धकार के फैलने, तारों के प्रकट होने तथा शिवरच्छाया के प्रवृद्ध हो चुकने पर सूर्य का तेज अग्नि में निहित हो गया[4]। :श्लेषोत्थापित साधर्म्यमूला दृष्टान्तध्वनि:।

१- "तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः" ।। अ० स०, पृ० ६६

२- "नीचस्तनोत्वत्र नितान्तकाव्यं पुष्णातु साधर्म्यमुदंजनेन ।
विना तु जायेत कथं तदीयभावेन सारस्वतदृक्प्रसाद" ।। श्री० च०, २।१८

३- "तद्विचारोपनिषद्विमृष्टं काव्यं कवेः पुष्यति निस्तुषत्वम् ।
न रत्नमायाति हि निर्मलत्वं शाणोपलारोपणमन्तरेण" ।। वही, २।७

४- "सैन्याकुलीतमसि नभसि व्याप्तवत्यप्सिमाति
प्राजिष्णुत्वं भजति च गणे सर्वतः स्वैचराणाम् ।
तेषां शूरस्थितिमजहतां प्रस्तुतान्धकार-
च्छाये तस्मिन्महति हव्या धाम यस्यां ममज्ज" ।। वही, २४।२१

निदर्शना[1] - "केश-सीमान्त में शेफालिकापुष्पस्रज का धारण करने की क्या आवश्यकता है । तुम्हारे इस उन्नत ललाट में प्रतिबिम्बित चन्द्र ही उस :पुष्पस्रज: का काम कर रहा है"[2] । :चन्द्रललाट केशसीमा पर पुष्पस्रज-सा शोभित हो रहा है:।

व्यतिरेक[3] - "जिस पाताल में कमलिनी की कौमार्यकान्ति नहीं होती, जहां चकोरी जनों को कभी अभिलाषा :सूर्यचन्द्राभाववश: नहीं प्राप्त होती, वहां भी सर्पराज के नगर में जिस कैलास की मुक्तस्फाटिकरश्मियों का एक विचित्र प्रकाश फैला रहता है"[4] । :सूर्य-चन्द्र-प्रकाश से भी विशिष्ट स्फाटिक-प्रकाश है:।

:ध्वनिरूप: "पार्वती जी के श्वासों की सुगन्धि के सम्प्रदान के विस्तृत होने पर याचक-भ्रमरों के भार से पुष्पों का भार हलका हो गया"[5] । :मुखश्वास पुष्पों से अधिक सुगन्धित है । पद्मिनीत्व ध्वनि: ।

सहोक्ति[6] - "मानवतियों की किंचिदुष्ण निःश्वासों की वृद्धि के साथ ही साथ दिन बढ़ चला । वियोगियों की जीवनाशा की क्षीणता के साथ-

---

१- "सम्भवतासम्भवता वा वस्तुसम्बन्धे गम्यमानंप्रतिबिम्बकरणं निदर्शना" ।। अ०स०, पृ०९७

२- "कुन्तलव्यतिकरे ननु किं मुधैव
शेफालिकाकुसुमशेखरकल्पनाभिः ।
अस्मिंल्ललाटफलके प्रतिबिम्बितस्ते
तत्कर्म कुरुते हि तमीकुटुम्बः" ।। श्री० च०, ११।२६

३- "भेदप्राधान्येउपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः" ।।अ०स०,पृ०१०१

४- "यस्मिंस्तु न वा क्वाऽप्यनुभवति कौमारकान्ति-
दृष्टौ यत्र न वा कदाचिदभिलाषं चकोरीजनः ।
तस्मिन्नप्यहिपुङ्गवनगरोद्देशोपकण्ठे भुवां
चन्द्रस्फाटिकाश्मरश्मिभिः कोऽपि प्रकाशोदयः" ।। श्री०च०, ४।५७

५- "श्वासितेषु धुवत्सु तत्र तस्याः प्रसरत्सौरभसारसम्प्रदानम् ।
अलिवृन्दविलम्बना कुसुमानां विरराम भारः" ।। वही, ८।२५

६- "उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशे परस्पराकार्यसम्बन्धे सहोक्तिः" ।।
अ० स०, पृ०१०३

:कवि ने ग्रन्थ भर में शब्द-श्लेष का ही प्रचुर प्रयोग किया है: ।

<u>अर्थान्तरन्यास</u>[1] :सामान्य का विशेष से समर्थन: "हे चन्द्र ! कौन कोमल-शरीर तुम्हारी किरणों को सहन कर सकता है । उन किरणों का स्पर्श प्राप्त करके चन्द्रकान्तप्रस्तर तक, सहज ही, द्रवित हो जाते हैं"[2] । :विशेष का सामान्य से समर्थन: ।

"शिव जी ने तीनों लोकों का शोक हरनेवाले अपने उग्र भयानक स्वरूप का पुन: संयमन कर लिया । नैसर्गिक मधुर सज्जन, दुष्टों को रास्ते पर लाने के लिए, तात्कालिक साधारण कठोरता को ही धारण करते हैं"[3] ।

:कारण का कार्य से समर्थन: "रमणियों के उत्तुंगस्तनाग्रों पर निश्चय ही काम निवास करता है । उनके सम्पर्क से तत्काल ही युवजन तीव्रतम स्वेद से भींग जाते हैं"[4] ।

:कार्य का कारण से समर्थन: "युवकों ने हरिणाक्षियों का आतृप्ति अधरपान किया । पूर्णचन्द्रानन में उसी अधरपान के छल से, रतिदेव के पुनरुद्भव

१- "सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः" ।। व० स०, पृ०१३६

२- "रात्रिराजसुकुमारशरीरः कः सहेत तव नाम मयूखान् ।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं चन्द्रकान्तदृषदोऽपि गलन्ति" ।।धी०च०, ११।५८

३- "देवः सोऽथ त्रिभुवनगुरुर्वैकृतं घोरघोरं
संजह्रे त्रिजगदवंकारयारिसङ्कः ।
सन्तो नैसर्गिकमधुरिमापोढ्यावादसुकूलं
सन्ध्याचार्यं क्वलिकृत्यै विक्रियामाश्रियन्ते ।। वही, २४।३८

४- "वामभ्रुवां निबिडतुंगपयोधराग्रे
सत्यं स्वयं वसति पुष्पशरप्रताप: ।
तस्मिन्पुर: परिचिते हि तदा युवानां
चप्रस्विदं वपुरुपाददुरुत्तमाम्य: ।। वही, १४।२६

की भंगिमा को प्राप्त हुई[1]।

असंगति[2] 'किसी नायिका ने स्वप्रियतम के द्वारा परिलाए गए नव-किंशुक कर्णपूर को अभी धारण किया ही था कि उसकी सपत्नी का मुखमण्डल लाल हो उठा'[3]।

विषम[4] 'हे बालायताक्षि ! तुम अपने इस श्वेतांगराग की ही रक्षा करो, प्रियतम का चिन्तन न करो। चिन्ताश्रुओं से क्या यह धुल न जायगा'[5]।

विचित्रालंकार[6] 'गणेश ने स्वपिता के जटाजूट से चन्द्र को उठाकर अपने मुख में टूटे :हस्ति: दन्त के स्थान में लगा लिया। खेद है कि चन्द्र-सम्पर्क को प्राप्त करते ही प्रकृत दन्त भी टूट गया'[7]। :ज्योत्स्नासम्पर्क से हस्तिदन्त टूट जाते हैं:।

अधिकालंकार[8] कामजित् शिव जी के रथ का धुरा बनकर भी

१- 'भंगिलेभे मुकुरमकुटा दिक्षु विस्तार्यमाणै-
गीर्वाणारिप्रवरवपुषामुन्मिषद्धूलिलेशैः।
तत्क्ष्मालोलितधरणिविषमातंकशंका-
संकोचोत्कम्पिकनकुकुचित्यमाणाचलानाम् ।।' श्रीक०च०, २४।३१

२- 'तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः' ।। अ० सू० पृ० १६२

३- 'नवकिंशुककर्णपूरमन्या दयितेन स्वकरार्पितं बभार।
अथ तत्क्षणमेव तत्सपत्न्याः प्रकटापाटलमाननं बभूव ।।' श्रीक०च०, ८।३५

४- 'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम्' ।। अ० सू०, पृ० १६५

५- 'रक्षायताक्षि सितमेव विलेपमेव
चिन्ता प्रियं प्रति न सम्प्रति युज्यते ते।
तज्जन्मभिः नयनवारिभिः क्वाचिदेव
क्षुभ्यत्युदारघनसारमयो अंगरागः ।। श्री० च०, ११।५०

६- 'स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्' ।। अ० सू०, पृ० १६८

७- 'हेरम्बो निजपितुराप्य जूटकूटादेणांकं विनिवपदन्यदन्तधाम्नि।
सम्पर्कादथ पृथुतत्करच्छटानां त्रुट्यन्तं प्रकृतमपि व्यधात दन्तम्' ।। श्रीक०च०, ७।१

८- 'आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्' ।। अ० सू०, पृ० १६६

:तुम उसकी मृत्यु का कारण हो रहे हो:।

अनुमान[1]- "निश्चय ही रात्रि के द्वारा चन्द्ररूप में कामकोषघट ही सम्भाल कर रक्खा गया है। क्योंकि उस कोषघटपर स्थित कलंक-सर्प ने विरहिणियों को डस डाला है"[2]।

यथासंख्या[3]- "हर सुन्दरी के उसके अपने अधममध्यमोत्तम जातीयत्व के अनुसार ही उनकी भूषा-सज्जा किसी के लिए तो नवीनतापादक हुई, किसी का सौन्दर्य अभिव्यक्त हो उठा, किन्हीं का सौन्दर्य बढ़ गया और किन्हीं का तो उनका अकृत्रिम सौन्दर्य दब-सा गया[4]।

विकल्प[5] - "लोक कालकूट की तो निन्दा करता है कि जिससे शम्भु अजरामर हैं। विरहिणियों के यमराज इस सुधांशु की सब प्रशंसा करते हैं। विवेक रहा कहाँ!

"इस प्रकार होने वाले अपशकुनों के द्वारा दैत्यपुरी में मानो आनेवाली विपत्सैन्य का अग्रदूतीत्व पूरा किया जाने लगा और उधर स्वर्ग में विविध मंगलों

१- "साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्" ।। अ० स०, पृ० १८४

२- "अम्भूकृतो रजनिवल्लभबिम्बकुम्भ्या
 रात्र्या तदा प्रसुवमनंगनिधानकुम्भः।
 यत्र मण्डलितविग्रहकालरूपा-
 सर्पश्रुतिर्विरहिणीरदशत्कलंकः ।। श्री० च०, १०।४५

३- "उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम्" ।। अ० स०, पृ० १८७

४- "कासांचित्तवमुन्नवनिकामत्कासांच व्यक्तता-
 मन्यासां ववृधे विनिह्नुतमभूत्कासांचनाकृत्रिमम्।
 जात्यैवाधममध्यमोत्तमतया सौन्दर्यलीलाविधे-
 राकल्पेन शरीरकल्पलतिकासु क्षणैरीदृशाम् ।। श्री० च०, १२।४७

५- "तुल्यबलविरोधो विकल्पः" ।। अ० स०, पृ० १८८

का आलिंगन[1]। :अप्रस्तुत एवं विपक्ष के अमंगल शब्द के लिए समान ही फल के घातक हैं:।

समुच्चय[2] - मुखकमल के निकट अनेकानेक पुष्पसुवासित मदिरा के पहुंचते ही, उस स्त्रीविभा में, परागपायी भ्रमरों के लिए एक भ्रमपरम्परा बन गई[3]।

मीलित[4] - मद्यपान के कारण अत्यन्त आरक्त कपोलों में पद्म-राग-कुण्डलों के परिलक्षित न होने के कारण प्रिय ने प्रिया को स्वर्णकर्णिकायें पहना दीं[5]।

सामान्यालं०[6] - किसी ने शीघ्रता से उठकर मणिकांची को बांध लिया। उसकी रश्मियों से गुह्यस्थानों के छिप जाने के कारण वह :स्त्री: लज्जा का विषय नहीं बन रही थी[7]।

क्रोध के कारण शिवजी की जो लालिमा आयी थी वह भालाग्नि-ज्वालाओं के कारण न दिख सकी। जटाजूट में छिपटे कृष्ण-कुटिल सर्पों के साथ

१- "कालकूटमिह निन्दति लोकोयेनशम्भुरजरामर एव ।
अन्तकं विरहिणीषु सुधांशुं स्तोत्यमुं सुधिरहो न विवेकः" ।। श्री०च० ११।५४

उद्वेल्लिर्निमिर्वोरिति दिविजपुरोपान्तसंचारवन्ती
प्रारेभे प्रस्तुवानैरिव विपुलविपत्सैन्यहृत्प्रयाणम् ।
किं चान्यत्संविकाय त्रिदिव पथजुषां स्वैरमाकाशवीथी
सर्पावार्पिष्णुतरङ्गापिहितवृहन्मालालिंगनानि ।। वही, ११।६६

२- "गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः" ।। अ० सा०, पृ० २००

३- "मुखपंकजस्य सविधेऽधिकाधिकप्रसवासितां किमपि कापिशायनम् ।
स्पृशतामयुक्षदपि पुष्पपायिनां बतलस्मरे भ्रमपरम्परामसौ" ।। श्री०च० १४।२७

४- "वस्तुनावस्त्वन्तरनिगूहनं मीलितम्" ।। अ० स०, पृ० २१०

५- "अतिवारुणीकृतमदेन गण्डयोः प्रतिभुज्यमानपद्मरागकुण्डलम् ।
अकरोच्च लोहितककुण्डलं यथास्थुलः श्रुतौ कनककर्णिकां प्रियः" ।।श्री०च०, १४।

६- "प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्" ।। अ० स०, पृ० २१३

७- "मणिकांचिरंचिकामितोकया रभसादबध्यत तदा परया ।
न यद्गुह्यनिह्नुतनितम्बतया भवति स्त्रिया रतिगृहं त्रपाविषयः" ।।श्री०च०, १३।२४

"कोपात्पाटलिमा कपालिकुले यः प्रादुरासीद्विभोः
स व्यक्तिं न जगाम धामनिकरैर्भालाग्निनेत्रार्चिषाम् ।
उष्णीषाश्रितदन्दशूककुटिलस्फूर्जत्फणारत्नैः
किन्वान्यत्प्रकटीकृताः प्रकृतयः सामान्यमानिन्यिरे" ।।वही, २५ ६५

वक्रोक्ति[1] - "स्वयं विधु :विष्णु: ने बाणता स्वीकार की और दूसरा विधु :चन्द्र: उस बाण के अग्रभाग में लीन हो गया। उन दोनों से अस्त्र होकर वे पुरत्रय भला "विध्वस्त" क्यों न हो जायं"[2]।

"बाणपुष्पों की वर्षा" से पूजित होकर गणेश जी ने दैत्यों के त्रिपुर-प्रवेश की बाधा को दूर कर दिया :मारडाला:"। :विघ्ननाश जो ठहरे:।

स्वभावोक्ति[3] - "झूलने के वेग के साथ सम्पूर्ण आकाश को मुखर बनाते हुए तुम्हारे पदारविन्द कुछ काल के लिए आकाश को प्रत्यक्ष ही "शब्दगुण - वाला" बना देते[4]। :आकाश का शब्द निजगुण है। यह अनुमान से सिद्ध किया जाता है। इस समय पद-नूपुरों के वेगवान होने से, उनके अभाव में, केवल झंकार-रव के ही आकाश में सुनाई देते रहने से, प्रत्यक्ष हो जायगा कि आकाशशब्द-गुणवाला है। अनुमान की आवश्यकता नहीं:।

"शिवजी के गृहद्वार में हठपूर्वक प्रवेश करनेवाले देवों के सतत मना करने से अभ्यस्त स्वयं ही, नन्दी की भौंह नाच उठी :अभी समय नहीं है:

1- "अन्यथोक्तस्यवाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथायोजनं वक्रोक्ति:"।। अ०स०,पृ०२१६

2- "विधुः स्वयं सायकतामियेष विधुश्च तस्याथ पुरोनिलिल्ये।
अस्त्राभिताभ्यां न कथं पुराणि विध्वस्ततासंस्तवमाप्नुवन्तु"।।श्री०च०, २०।४७

"विशिखकुसुमवृष्टिभि:पुर:कलितनतो अंचितवर्णमक्षताम्।
भिदिरखलपुरप्रवेशनं व्यधुतविघ्नहतिंप्रभुष्कताम्"।। वही, २३।६१

3- "सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनंस्वभावोक्ति:"।। अ० स०, पृ० २२२

4- "व्यात्तो दोलनविलोलपदारविन्द-
संदानितो मुखरतामखिलं नयन्ती।
त्वन्नूपुरो रवयतां क्षणमन्तरिक्षं
प्रत्यक्षसिद्धनिजशब्दगुणप्रसिद्धि:।। श्री० च०, ७।५६

"द्वारावतीहठविकृत्यु सुराक्षपात-
मालाभिरेव विधिप्रितवशीकृतेन।
अभ्यस्तमाविरभवत्स्वयमग्र्यमे्गा
भ्रूतास्यकर्मं सहसैव शिलादसूनो:।। वही, १८।५१

शब्दानुसारी (Onomatopoeia) लहराते हुए उत्तरीयांचल, मंजुमंजीर-किंकिणिरव एवं कांचीध्वान के कारण झूलती हुई पार्वती काम की त्रिभुवन जयपताका-सी लगती थीं।[1]

गुण - शील, क्षमा तथा औदार्य प्रभृति आत्मिक गुणों से मण्डित व्यक्ति स्वभावतः ही सबसे सम्मान प्राप्त कर लिया करता है। इसी प्रकार काव्य की आत्मा रस के माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण, अवश्यंभावी रूप से उसमें स्थित हो, उस :रस: के आस्वाद्यत्व में उत्कर्ष का आधान करते हैं।[2] जैसे आत्मा रस की स्थिति शब्दार्थ में होती है वैसे ही माधुर्यादि गुण भी शब्दार्थ में ही रहते हैं।[3]

माधुर्य[4] - यह माधुर्यगुण करुण, विप्रलम्भशृंगार और शान्त रस में क्रमशः आधिक्य से द्रुति - चित्त के प्रद्रवीभाव का कारण होता है। उदाहरण--

परस्पर निबिडालिंगन से अंगराग झड़ गया, अधिकाधिक कल्लोलप्रारम्भ से सब रत्नाभूषण विशीर्ण हो गए और केशपाश भी बिखर गया। स्वपतियों के द्वारा उपभोग से सफल हो, कामिनियों का वेशविन्यासादि, इस प्रकार, कामक्रीडाओं से, विघटित हो गया।[5] :शृंगार:

'त्रिलोक-प्रिय चन्द्र, स्वचन्द्रकान्तमणियों को आर्द्रदशा में छोड़कर, कहां

१- 'वेल्लल्लोलोत्तरीयांचलमुखरणत्कांचिकारितोच्च-
क्वाणं मंजीरमंजुध्वनितमुखरितासम्पदिङ्मण्डलं च।
यातायातानि दोलाविधिभिरधिगमा ऽसंकुलं दर्शयन्ती
सा पुष्पास्त्रस्य लोकत्रयजयपिशुना वैजयन्तीव रेजे॥ श्री०च०, ७।५६

२- 'ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥' का० प्र०, ६६

३- 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता'॥ वही, ७१

४- 'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्'॥ वही, ६८

५- 'ध्वस्तं मैत्रे अंगरागो निबिडतरपरिष्वंगसंगिप्रसंगा-
त्त्रुटिताशेषरत्नाभरणपरिकरो मुक्ता संभ्रमेण।
शीर्णत्वं केशपाशोऽगमदिति सफलीभूय कान्तोपभोगा-
दाकल्पोऽनंगलीलाविधिषु विधुरतामाप सिंहांगनानाम्॥ श्री०च०, १५।४६

व्युत्पत्ति - वेदवेदांग तथा शास्त्रादि :क:

'वैदर्भीरीतिगुम्फ' में प्रौढ़ जो सद्वर्णरत्नहार धीमानों के कण्ठ की शोभा बनता है, क्या वह बिना सरस्वती के कृपाकटाक्ष और निरवधि दीर्घ व्युत्पत्ति-शाणासंघर्षण के ही सम्पन्न होता है ? अर्थात् नहीं।[1] :वैदर्भी रीति में उत्तम काव्य प्रणयन के लिए सरस्वती की पूर्ण कृपादृष्टि और विविध शास्त्रादि के निरवधि दीर्घ अध्ययन से उत्पन्न तीक्ष्ण व्युत्पत्ति की नितान्त आवश्यकता है:

वेद - 'श्रीकण्ठचरित' एक पौराणिक कथानक से सम्बद्ध महाकाव्य है। इसमें वैदिक सिद्धान्तों का अथवा किन्हीं मन्त्रविशेषों के उद्धरणों का न होना कोई आश्चर्यावह न होना चाहिए। कवि वेदत्रयी के अभ्यास,[2] तदभ्यास से ही सम्भाव्य ब्राह्मणत्व[3] तथा अथर्ववेद :आंगिरस: के आभिचारिक राज्यरक्षणमात्र[4] के परिचय भर से सन्तुष्ट है। अधिक से अधिक 'साम्नामृग्भिः सामान्यसाम्यमवा- यवत्सु:,[5] ऋक् व साममन्त्रों, 'यजूंषि' आदि पदों से अभिकाम्य 'वेदचतुष्टयी' अर्थात् ऋग्वेद-यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाममात्र का उल्लेख करता है।

'भ्रातृव्य' पद को कवि ने 'सपत्न' या 'शत्रु' अर्थ में प्रयुक्त किया है।[6] वैदिक परम्परा भी यही है-- 'भ्रातृव्यस्य वधाय'। 'मिहिर' :सूर्य:,[7] अकूपारस्य :समुद्रस्य:, 'ज्मायाम्'[8] :भूमौ:, 'भंग'[9] तथा 'सामि'[10] :किंचित्: आदि शब्दों

१- 'या वैदर्भपथाध्वनिर्मणितिप्रत्यग्रवृत्तान्तर-
प्रौढप्रीतिकृदर्थरत्नघटिता: कण्ठेगुणा धीमताम्।
वाग्देवीनयनांचलांचलचमत्कारं विना दैवि किं
सावर्णीकृतानिरवधिव्युत्पत्तिशाणाश्मनि' ।। श्री० च०, २।४१

२- वही, ३।१६ तथा ८।२५, ३- वही, पूर्ववत्।

४- वही, २०।३३, ५- वही, २०।३५,

६- वही, १०।५०, ७- वही, १०।४२,

८- वही, ६।७४, ९- वही, १०।४२,

१०- वही, ११।७४।

मृत्युपाठ - "आँखें बन्द कर, कदलीदल और दर्भशय्या पर, बैठी हुई वियोगिनियों के लिए विजपुंगव :पक्षिश्रेष्ठ, ब्राह्मणश्रेष्ठ: के द्वारा मृत्युपाठ किया गया है[1] :कोकिल-कूक को श्रवण कर वियोगिनियाँ मृतप्राय हो गई:।

सप्तपदी - "मानियों को भी अनुकूल बना देने में कुशल नव मलय-पवन से साप्तपदीनसख्य :मैत्री: स्थापित करके काम जगद्विजयी बन गया है[2] :मलय-पवन ने सबको काम के वश में कर दिया। विवाह में वरवधू के साथ-साथ, उत्तर की ओर सात पग चलने का विधान है। इससे दोनों में, जीवनभर, एकसाथ रहने का दृढ़ संकल्प कराया जाता है:।

ब्राह्ममुहूर्त - "निश्चय ही यह ब्राह्ममुहूर्त, रवितेज के साथ-साथ सरस्वतीतेज का भी विशेष है। तभी तो प्रातः प्रातिभचक्षु के खुलने से कवीन्द्रजन समस्त विश्व को करबदरवत् देखते हैं[3]।

सोमपीथी - "सोमपीथी ब्राह्मणों के घरों में अग्निव्रतयुक्त विद्यार्थियों के शरीरों से संस्पर्श हो उन्हें कृष्णाजिन-धारण का फल पवित्रता, प्रदान कर रहा था[4]।

१- "अनुन्मिषद्दृष्टि निषेदुषीणामास्थाय रम्भादलदर्भशय्याम् ।
विपयोगिनीनां द्विजपुंगवेन पुंस्कोकिलेनाधिकमन्तकालः" ।। श्री०च०, ६।३२

२- "दाक्षिण्यवद्भिः पवनैर्नवीनमासूत्रयन्साप्तपदीनसख्यम् ।
गन्धद्विपस्ताशेषजगज्जयाय मुद्रे स्वयं कामुकतेवकालः" ।। वही, ६।४४

३- "नियतमयमशेषः तापनस्येव कश्चि-
द्भवति भुवि धाम्नो वामदेवात्मनोऽपि ।
मुहुरिह हि कवीन्द्रा यत्क्षणप्रातिभेक्षा-
करबदरमिवात्रि विश्वमालोकयन्ति ।। वही, १६।१८

४- "तनो ब्रह्मा प्राक्ढत्यमानयन्नव्रतकृष्णाजिनविधानकम् ।
शिखिव्रतीपुनरोऽखिलं रयः प्रावृत्य सोमपीथिनाम् ।। वही,
३।४

मन्मथाहुति - क्रोध के वश विकम्पित होने वाले सिर की गंगा के जल-कणों से पर्यग्निकरण करके तथा भ्रुकुटीकुशासनों से घिरी हुई स्वविलोचनाग्नि में जिन शिव जी ने कामदेव की आहुति दे दी थी[1]।

जैन-बौद्ध-दर्शन - काश्मीर में बारहवीं शताब्दी में ब्राह्मणधर्म या सनातन पौराणिक हिन्दू धर्म का पुनः पूर्ण प्राबल्य था। जैन अथवा बौद्ध धर्मों की कोई विशेष चर्चा उच्च शिक्षित समाज में नहीं होती थी। जन-साधारण जैन तथा बौद्ध साधुओं में कोई भेद नहीं करते थे। दोनों को 'क्षपणक' या 'श्रमण' नाम से सम्बोधित करते थे। महाकवि मंखक ने भी साधारणतया जैनों तथा बौद्धों में भेद नहीं माना है। सनातन धर्म ने भगवान् बुद्ध को अपने चौबीस अवतारों में से एक अवतार स्वीकार कर लिया था। कवि भगवान् के इस बुद्धावतार को 'जिनावतार'[2] तथा 'बोधिसत्त्व'[3] नामों से उल्लिखित करता है। दोनों के धार्मिक सिद्धान्तों में कोई भेद करके नहीं देखा। कवि साधारणतया दोनों धर्मों को सनातन पौराणिक हिन्दू धर्म से भिन्न मात्र करके जानता है। विशेषता यह है कि कवि ने परम सहिष्णुता अथवा उदारता का परिचय देते हुए जहाँ कहीं भी कोई जैन या बौद्धसिद्धान्त का उल्लेख किया है, वहाँ बड़ी शालीनता के साथ, कटुता तो नाम को भी नहीं झलकती।

शशशील[4] - कवि ने सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के चरित्र की एक घटना विशेष का उद्धरण दिया है। एक समय भगवान् बुद्ध शशक रूप में वन में अपने चार मित्रों के साथ निवास करते हुए, शील का संचय कर रहे थे। उसी समय इन्द्र परीक्षा लेने के लिए उनके पास पहुँचे। पूर्णिमा का व्रत था। अन्य तीन साथियों ने तो

१- 'क्रोधोल्लसद्गाङ्गपृषत्किरीटसिन्धु-
पाथःपृषत्पर्युक्षिते दिवक्षे ।
रुद्राग्निके भ्रुकुटिपल्लवकुशस्तरीयै-
र्यो मन्मथाहुतिमदत्त विलोचनाग्नौ' ॥ श्री क०, ५।६

२- 'चरे श्रियां विपत्तुकर्त्तजिनावतारम्' । वही, ५।२२

३-४ - 'शम्भोः शशके लोकबान्धवविचित्रं यं पाकशासनवशंवदरीत्यम् ।
अत्यर्थितान्नक्रमप्रयोगे पुपोष पुण्याङ्कुरबोधिसत्त्वः' ॥ वही, ५।१३

बौद्धमत के अवान्तर सिद्धान्तियों में 'सौत्रान्तिक' जन इस क्षणिकवाद के प्रतिष्ठापक हैं। इनके मत से बाह्य ज्ञेय पदार्थों की सत्ता स्वयंसिद्ध है। इन्द्रियप्रणालिका के द्वारा बाह्य घटपटादिका प्रतिबिम्ब बुद्धि या चित्त पर पड़ता है। ज्ञाता उस प्रतिबिम्बित पदार्थ में 'अर्थक्रियाकारित्व' धर्म के अनुसार संकल्प-विकल्प करके अनुमान करता है कि वह घटपटादि पदार्थ वास्तव में सत्तावान हैं। कल्पनामात्र नहीं। भ्रम भी नहीं। परन्तु इस ज्ञेयमय बाह्य घटपटादि का निर्माण सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं से हुआ है। परमाणुओं की जहां अनेकों सूक्ष्मता-तारतम्य श्रेणियां हैं, वहां वे एक-दूसरे का अतिक्रम भी करते हैं। स्थूल घटपटादि के अन्दर से होकर सूक्ष्मतर परमाणु निरन्तर प्रवाह-प्राप्त रहते हैं। इसी से, वस्तु की जीवनीशक्ति के अनुसार उसकी क्षय-वृद्धि होती रहती हैं। इस परिवर्तनशील घटपटादि में एक गुण यह भी होता है कि वह या तो वर्तमान आकृति को ज्यों का त्यों ही बना रहने देते हैं और या फिर समानाकृति का समुत्पादन करते जाते हैं। इसका फल यह होता है कि जनसाधारण 'प्रत्यभिज्ञा' करने में समर्थ होते हैं। बाह्य पदार्थों की इस परमपरिवर्तनशीलता को ही प्रधानता देने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम 'क्षणिकवाद' पड़ा।[1] इनकी 'सत्' की परिभाषा है— 'उत्पादविनाशध्रौव्ययुक्तं सत्'॥ पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति तथा क्षय त्रिक्षणिकत्वमस्थायं नैयायिकों को भी सम्मत ही हैं।

<u>शून्यवाद</u>- आत्मा शून्य है। मूलप्रकृति शून्यात्मिका है। शून्य संयोग से शून्य-प्रपंच की उत्पत्ति होती है। इस शून्य-प्रपंच का विनाश शून्य के ज्ञान से ही सम्भव है। यह जगत प्रपंच न तो शून्य है, न अशून्य, न उभय, और न उभयेतर। यह केवल प्रज्ञप्तिमात्र के लिए उपदेश किया जाता है।[2]

१- 'सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः बुद्ध्याकारविजृम्भिताः।
इदमित्थं भावास्तेऽप्याकारानुमितास्तथा॥
विषयत्वविरोधस्तु क्षणिकत्वेऽपि नास्ति नः।
विषयत्वं हि हेतुत्वं ज्ञानाकारार्पणक्षमम्'॥ श्रीशंकरा०व्या०, पृ०२०

२- 'प्रपंचोपशमायैव शून्यता वाचि दिश्यते।
तस्मात् प्रपंचोपशमः शून्यताया प्रयोजनम्॥
शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते'॥ चन्द्रकीर्ति।

'धनपुष्पसमूहरूप काषायवस्त्र को धारण करने वाले अशोक वृक्ष ने मानो पथिकों के मन में शून्यत्व का उपदेश धारण कराने के लिए ही :काषायवस्त्र धारी: श्रमणत्वधारण कर लिया था'[1]। :अशोक वृक्ष की पुष्पराशि को देखकर वियोगी पथिक संज्ञाशून्य हो रहे थे। उनकी प्रतिभिज्ञा नष्ट हो गई थी :।

जैन या आर्हत् धर्म के एक सिद्धान्त विशेष का उल्लेख कवि ने बड़े उत्साह से किया है। जैनों का सिद्धान्त है कि आत्मा शरीर में किसी एक स्थान-विशेष में न होकर समस्त शरीर में व्यापक है। आत्मा से यहां जीवात्मा अभिप्रेत है। भेद यह है कि हम शरीर के किसी भी अंग के कटने आदि पर यही कहते हैं कि 'हमें न काटो या मारो' आदि। साथ ही सभी आत्माएं चाहे वे हाथी के शरीर में हों अथवा चींटी, सबकी सत्ता व शक्ति समान है, सबका अनुभव समान होता है। अथवा वैदिक 'अस्मिता' को जैन शास्त्री आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझते हैं। प्रश्न हो सकता है कि फिर जन्मान्तर में हाथी-शरीरी आत्मा भला चींटी आदि शरीरों में किस प्रकार प्रवेश करता होगा? इस प्रश्न का उत्तर जैनशास्त्री यह देते हैं कि जिस प्रकार एक छोटा-सा दीपक जब एक छोटे कमरे में होता है, तो उस छोटे कमरे को प्रकाशित करता है और वही जब किसी बड़े कमरे में रख दिया जाता है तो उस बड़े कमरे को भी वैसे ही प्रकाशित करता है[2]।

कवि भगवान् शिव की स्तुति करते हुए लिखता है कि 'अन्य दर्शन भगवान् को 'नेति-नेति' तो कहते हैं, परन्तु उनका तात्पर्य केवल यही होता

१- 'नीरन्ध्रनिर्यत्कुसुमौघनिकायकाषायपट्टप्रावारशोकः।
कराह निव्रज्यामध्वगानां मनःसु शून्यत्वमिवोपदेष्टुम् ।। श्री० च०, ६।६८

२- असंख्येयभागादिषु जीवानाम्' तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५।१५
प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्' । वही, ५।१६
'एषामेव प्रदेशानां संहारविसर्गाभ्यां जीवो महान्तमणुं वा पंचविधं शरीरस्कन्धं धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशसमुदायं व्याप्नोत्यणायत्व, इत्यर्थः'।।
उमास्वाति तत्त्वा० सूत्र पृ० १२४
यदेको यो पुरुषगुणः सतत कुम्भादिवदनिन्द्यप्रतिपक्षेतद् ।
तथापि वेदान्तविदात्मतत्त्वं तत्त्वाधीपदतामवदन्ति ।।६।। वही, पृ०५८-६८ तक।

कि वे अपने गुणों और करुणादि के कारण इतने अनन्त व अनादि हैं कि उनका यथार्थ बोध नहीं किया जा सकता। इसके विलोम अर्हत् मतावलम्बी श्रेष्ठ हैं कि जो आत्मा को देह-प्रमाण मानते हैं। यह तीनों लोक भगवान् का शरीर है और तब निश्चय ही भगवान् की आत्मा भी एकतः त्रिलोकी में व्याप्त ही सिद्ध होती है। त्रिलोकी में व्याप्त शिव भगवान् परिमितता तथा व्यापकता दोनों ही दृष्टियों से अनन्त सिद्ध हो गए। शिव भगवान् को इस प्रकार अनादि-अनन्त समर्थित करने वाले भला अर्हत् की निन्दा कैसे की जा सकती है[1]।

न्यायशास्त्र-प्रागभाव- 'विघ्नों के प्रागभाव (उत्पद्यमान भी विघ्नों को नष्ट कर देने के कारण) वे गजास्य गणेश आपको सम्पूर्ण समृद्धियुक्त बनावें, जो सिन्दूरमस्तक को धारण करके सुव्यक्त महोत्सव को दर्शाते रहते हैं[2]। (सिन्दूरमस्तक गणेश समस्त विघ्नों का नाश करके सबको समृद्धियुक्त बनावें)। प्रागभाव - उत्पत्ति के पूर्व कार्य का कारण में अभाव प्रागभाव कहलाता है। जैसे तागों में पट का अभाव। वह उत्पत्ति न होने के कारण 'अनादि' तथा कार्य के द्वारा ही विनष्ट हो जाने के कारण 'विनाशी' भी कहा जाता है[3]।

स्वपक्ष - 'काम के मित्र वसन्त के आगमनरूपी हेतु से, शुकों के मान की अपेक्षा, स्वपक्षीय काम की विजय निश्चित जानकर, उसी ही की ओर हो, शुकों के मान-खण्डन में, कोयलों का पाण्डित्य अभिवृद्ध हो रहा था[4]। (वसन्तागम में कोयलों ने स्वकूक से, शुकों का मान खण्डित कर दिया)।

१- 'बोधात्मन्यनवधिकां त्वयीह आनन्त्यमन्यानि त्रिनयन सन्तु दर्शनानि।
आत्मा त्वं वद च वपुस्त्रयोऽपि लोकास्तन्मानं त्वमिति च नार्हतोऽसि गर्ह्यः'॥ श्री०च०, २०।२६

२- 'स प्रागभावो घनविघ्नवार्तेः स्फारैः पदं यच्छतु वो गजास्यः।
सिन्दूरमुद्वाननदानकं यो महोत्सवं मूर्ध्नि व्यनक्ति'॥ वही, १।३८

३- उत्पत्तेःप्राक् कारणे कार्यस्याभावः 'प्रागभावः', यथा तन्तुषु पटाभावः। स चानादिरुत्पत्तेरभावात्, विनाशी च कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात्' तर्कभाषा, ७७

४- 'स्वपक्षलीलालहितैरुपाठैकैर्दां स्मरे दर्शिता विशेषम्।
मानं निराकर्तुमशेषपुंसां पिकस्य पाण्डित्यमखण्डमासीत्'॥ श्री०च०, ६।१६

स्वभोगानुकूल चन्द्रादि लोकों में भ्रमण करके या सीधे ही, स्वसंस्कारों से प्रेरित, अभीष्ट मातृगर्भ में प्रवेश कर जाता है। गर्भ से यथाकाल पुनः पृथ्वी पर जन्म लेता है :।

ईश-स्वरूप - "जिसकी छाया के प्रतिबिम्बमात्र से ही चैतन्यत्व सम्पादित हो जाता है, उस ऐसे सर्वात्मभू को काणाद नैयायिक 'जड़' कहते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते"[1]। :प्राचीन नैयायिक क्रियाशक्ति के अभाव में ईश्वर को जड़ मानते हैं :। कवि के शब्दों में तो भगवान् सर्वचेतन और विश्वरूप हैं, अन्यथा-

":भगवान् की पृथ्वीमूर्ति के अभाव में :लोक कहां रहता ? :तेज मूर्ति के अभाव में :प्रकाश कहां से आता ? :वायुमूर्ति के अभाव में : यह जीवलोक कैसे श्वास-प्रश्वास धारण करता ? सृष्टि के प्रारम्भ से ही यदि भगवान्, दया कर, अपने अष्टमूर्ति स्वरूप को न धारण करते तो यह विश्व कहां से होता"[2]। : यह समस्त जड़-चेतन ब्रह्माण्ड ही परमात्म स्वरूप है :।

वैशेषिक शास्त्र - नव्य नैयायिक न्यायशास्त्र के अन्तर्गत ही वैशेषिक शास्त्र की सत्ता स्वीकार करते हैं। फिर भी, परमाणुओं से पंचभूतों का निर्माण तथा शब्द का आकाश का गुण होना निःसन्देह वैशेषिक शास्त्रीय सिद्धान्त है। कवि ने इनका उल्लेख, देखिए : किस विशदता के साथ किया है--

परमाणु-सृष्टि - "ब्रह्मा के द्वारा निश्चय ही प्रसिद्ध पांचों भूतों को त्यागकर, मैं :कवि: समझता हूं कि जो महाकविनन्दन वाङ्मयपरमाणुओं से ही बनाए गए थे"[3]।

१- "यच्छायापृषदभिषेकतोऽपि सर्वे तात्पर्यादिवश्चितयायता भजन्ते ।
तस्यात्मंस्तस्य जडतामुदीरयन्तः काणादा बत न कथंचन त्रपन्ते" ।।श्री०च०, १७।३१

२- "क्वावत्स्यत्क्वममनिच्यत्क्व प्रकाशं प्राणिष्यत्कथमथवैष जीवलोकः ।
आ सर्गादिह जगद्गरिष्ठ नो चेत्कारुण्यात्प्रभुरभविष्यदष्टमूर्तिः" ।।वही, १७।३२

३- "महाभूतानि पंचापि विरिंचेन विमुंचता ।
योऽवैमि वाङ्मयैरेव निर्मिमे परमाणुभिः" ।। वही, २५।२३

आकाशगुण शब्द - :कोई शब्दकर्ता नहीं है, और शब्दध्वनि हो रही है। व्यापक होने से ध्वनिस्थल में केवल आकाश की सत्ता स्वयंसिद्ध है। अतः शब्दध्वनि अवश्य ही आकाशोत्पन्न ठहरी। इसी से निराधार-निष्कारण भी अधर में शब्दध्वनि सम्भव हो रही है। इस तथ्य को भी०च० में देखिए:-

"झूला के ऊपर-नीचे आने-जाने से गतिमय तुम्हारे चरणों के नूपुर, हे पार्वति! तत्स्थल में चरण-नूपुरों के अभाव में भी, मधुरस्वर-ध्वनि का विस्तार करके अम्बर के लिए आकाश को शब्दगुणवाला प्रत्यक्ष बनावें"[1]। :पृथ्वी प्रभृति चार भूतों का गुण सिद्ध न हो सकने से अन्ततोगत्वा शब्द आकाश का ही गुण ठहरता है:[2]।

सांख्यशास्त्र- "त्रिलोकी का धारण तथा पोषण करने वाले तुम परमात्म पुरुष को मूढ सांख्यानुयायी व्यर्थ ही उदासीन स्वभाववाला कहते हैं। यदि त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही सर्वकर्त्री है, तो, बिना आपके अधिरोहण के, कैवल्य को सिद्ध करे। :दुष्करकारित्व तो बहुत दूर है:"[3]। :"पुरुष साक्षी, केवली, मध्यस्थ, द्रष्टा और अकर्ता है। उदासीन पुरुष, प्रकृति के गुणों के कर्ता होने पर भी, स्वयं कर्तृत्व का अभिमान करता है:"[4]।

१- "यातैः दोलनविलोलपदारविन्द-
संचारितैः मुखरतामखिलं नयन्तौ।
त्वन्नूपुरौ रचयतां गगनम्नारि वः
प्रत्यक्षसिद्धनिजशब्दगुणप्रसिद्धिः" ।। भी० च०, ७।५६

२- "परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य" ।। वै० द०, २।१।२७

३- "मूढा वितथमुदासनस्वभावं भाषन्ते पुरुष तव त्रिलोकभर्तुः।
कर्त्री चेत्प्रकृतिरियं करोतु किंचित्कैवल्यं भवदधिरोहणान्तरेण" ।।भी०च०, १७।२०

४- "तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ।।
तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः" ।। सां० का०, १९, २०

'महदादि विकृतियों में यह लोक 'तत्त्व' पद का प्रयोग क्यों करता है ? हे पच्चीसवें पुरुष ! तुम्हीं एकमात्र वास्तविक तत्त्व हो, जो निश्चय ही सभी उपाधियों से रहित, परन्तु सभी रूपों को धारण करने वाले हो :'साँख्यमत में १ मूलप्रकृति, ७ महदादि प्रकृति-विकृति, ५ तन्मात्राएं, ५ महाभूत, ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन तथा आत्मा = :१+७+५+५+५+१+१ = २५ तत्त्व हैं। मूलप्रकृति से लेकर मनपर्यन्त २४ तत्त्व - प्रकृति-विकृतिमय तथा विकारवान् होते हैं। 'पुरुष' प्रकृति के गुणों से भिन्न होता है। और साथ ही पुरुष की विकृति :कार्य: भी नहीं होती :'।[1]

योगशास्त्र - योगशास्त्र के किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख भी० च० में नहीं हुआ है। दो-एक स्थानों पर मात्र संविद्-समाधि तथा एक तपस्वि-रूपक का कथन मिलता है।

समाधि- 'ताण्डवनृत्य करते समय ब्रह्माण्ड के भी ऊपर तक उठता हुआ भगवतीचण्डिका का चण्डपाद सब श्रेष्ठ-सदाचारी जनों के हृदयों में श्रद्धाभक्ति उत्पन्न करे कि जिस चण्डपाद के नूपुरों की झनकारित ध्वनि का श्रवण करने वाले चंचल वाग्जाल जप में लीन ब्रह्मा को समाधि से चलित बनाते हैं'।[2] :'किसी तत्त्व या पदार्थ का चिन्तन धारणा है। चिन्तित तत्त्व या पदार्थ का चित्त में, विषयान्तर के विक्षेप के बिना ही, तादात्म्यरूप से स्थित होना ध्यान है। इस ध्यान में चिन्तित तत्त्व या पदार्थ के वाचक शब्द, अपने रूप एवं आकार-प्रकार के सहित वाच्य, उनका ज्ञान तथा ज्ञातादि की पृथक्-पृथक् स्थिति होती है। साधक की इस ध्यानभूमिका का नाम 'सवितर्का समापत्ति' है। इस प्रकार के

१- 'किं मिथ्या हर महदादिषु प्रयुङ्क्ते लोकोऽयं विकृतिमयेषु तत्त्वशब्दम्।
एकस्त्वं निरुपधिरप्युदित रूपं तत्त्वं पुरुष बिभर्षि पंचविंशः'।।भी०च०, १७।२१

२- 'ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डादप्युपरि पतितः प्रोद्धतस्ताण्डवेषु
प्रेमोत्कर्षं रचयतु सतां चण्डिकाचण्डपादः।
यन्मञ्जीरध्वननकलयाकृष्यमाणा जपन्तं
ब्रह्माणं प्राग्वलनविधाः संविदस्याजयन्ति'।। वही, १।५६

सवितर्क ध्यान की अन्तिम परिपक्वता में ध्यातव्य से वाच्य, वाचकादि सब छूट जाते हैं। केवल शुद्ध ध्येयमात्र ही के स्वरूपाकारवाला चित्त बन जाता है। चित्त की यह ध्येयस्वरूपानुकारिता ही "समाधि" है। यह समाधि योगी को ईश्वर-प्रणिधान से सरलता से सिद्ध हो जाती है। ईश्वर-प्रणिधान के लिए प्रणव का जप और ईश्वर के सर्वज्ञत्व-सर्वव्यापकत्वादि गुणों का मनन-चिन्तन आवश्यक होता है। जप-चिन्तन-प्रवण चित्त का ईश्वरमयत्व ही परमसमाधि और परमकल्याण है[1]।

<u>तपस्वी वृक्ष</u> :रूपक: - "खिलते-झूलते हुए फलों के नरमुण्डों से शोभित ऊर्ध्वभागवाले, पत्रव्याप्त शिरीष रुद्राक्षमालाधारी और उगती हुई दीर्घ जटाओंवाले जिस कैलासपर्वत के वृक्ष, :रजः: पराग या धूलि को सर्वत्र फैलाते हुए या समाप्त करते हुए अथवा :रजः: राग को बिना प्राणायाम के भी समाप्त करते हुए :तपसि: माघमास में या गम्भीर तपश्चरण में सदा स्थिर रहते हैं"[2]।

<u>मीमांसाशास्त्र</u> के यज्ञकर्म तथा वाक्यविचार का श्री० च० में कोई साक्षात् उल्लेख नहीं हुआ है। "सोमपीथी", "शिलिक्षी" तथा "अवभृथस्नानादि" यज्ञ प्रसंगतः कहीं-कहीं आगए हैं। यज्ञादि पर "वेदांग" के "कल्प" भाग में बारंबार उदाहरण संग्रहीत हैं।

<u>वेदान्त</u> - इस दर्शन के केवल अद्वय :अद्वैत: वादसम्प्रदाय का साहित्यिक उल्लेख कवि ने २-३ स्थलों पर किया है। श्लोक १७।२८ में "माया" का भी संकेत हुआ है।

१- "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा", "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्", :"तत्रशब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः" यो० सू० १।४२:, "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"। यो० सू०, ३।१-३ तथा "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्"। यो० सू०, २।४५, "तस्य वाचकः प्रणवः" - "तज्जपस्तदर्थभावनम्"।। यो० सू०, १।२७-२८

२- "उद्वेलत्फलकम्बुमुण्डशिखरैः शोभिता मूर्धभिः प्रोत्पत्रकरालिताखिलशिरीरुद्राक्षमालाभृतः।
रोहद्दीर्घजटास्तटेषु तपसि स्थेम्नैव यस्य द्रुमा
स्तीविष्वग्रजसो निरोधं एव महतामल्पं भवन्तो रणः" श्री० च०, ३।५६

'गुरूपदेशाञ्जन के सेवन से नष्टाविद्यान्धकार जिन शुद्धदृष्टि विश्ववर्त :कवि के पिता: ने द्वैतभाव को छोड़कर सर्वत्र केवल एक विशुद्ध परमेश्वरीय सत्ता का ही भान किया[1]। :द्वैतभाव - अज्ञानावस्था में घटपटादि की पृथक्-स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञान होना ही द्वैत है। यह द्वैतभाव एकमात्र ईश्वरीय सत्ता की अपेक्षा से माना जाता है। विशुद्ध ज्ञानी पुरुष को स्वात्मा तथा जगत् प्रपंच का भान न होकर केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' भाव का ही भान होता है[2]:।

माया- 'कहीं भी निरोध को न प्राप्त होने वाली माया भी जिन्हें बंधन में नहीं डाल पाती, सो ब्रह्मस्वरूपाञ्जन जिसके विषय में 'नेति-नेति' की 'व्याहृति' का प्रयोग करते हैं, हे विभु! उन आपकी ही महिमा का स्तवन उपनिषद् भी करते हैं[3]। : माया - न सत् है, न असत् और न ही सदसदात्मिका, भिन्न, अभिन्न या भिन्नाभिन्न भी नहीं, सांग, अनंग तथा उभयात्मिका भी नहीं, यह माया तो महा अद्भुत और अनिर्वचनीयस्वरूपा है[4]। आवरण और विक्षेप माया की दो प्रधान शक्तियाँ हैं। माया-समलित ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड का उपादानकारण है। परन्तु फिर भी वह माया से परे, स्वात्मज्योतिस्वरूप है[5]। 'नेति-नेति' :निषेधमुख से ब्रह्म का वर्णन: 'अत यह तात्पर्य है कि वह परब्रह्म न इति :यह पृथ्वी, जल और अग्निरूप: सभी मूर्तद्रव्यों से भिन्न है, न + इति :यह वायु और आकाशरूप: अमूर्त द्रव्यों से भी पर है। यह स्थूल-सूक्ष्म, दृश्यादृश्य

१- 'गलत्यविद्यातिमिरे कृपागलद्गुरूपदेशाञ्जनसेवनेन यः।
विशुद्धदृष्टिः स्वजन पारमेश्वरं वपुर्विमुच्य द्वयमैक्षतात्र ।। श्री०च०, ३।३७

२- 'सुषुप्तिवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः' ।। वेदान्तसार, ३५, विद्या० ग्र० १, द्वि०संस्करण, १९५८

३- 'यं मायाप्यविनिरुद्धमनामरूपा न स्प्रष्टुं प्रभवति नेतिनेतिमन्त्रः।
यस्मिंश्च व्याहृतिमाचरन्ति तं त्वात्मन्युपनिषदो विभो गृणन्ति ।। श्री०च०, १७।२८

४- 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा' ।। वेद०प्र० १०, विद्या० ग्र० १

५- 'निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं विभुं निष्कलमप्रमेयम्।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिः स्वयं किंचिदिदं चकास्ति ।। विवेकचूडामणि

अथवा चराचर पदार्थ परब्रह्म नहीं हैं। वह इनसे पृथक् है। प्राण सत्य है। वह प्राण का प्राण और सत्य का भी सत्य है।[1]

<u>शैवदर्शन</u> - "हे त्रिनेत्र! प्रकाशस्वरूप आप ईश्वर अकेले ही त्रिभुवन को जानने और स्ववश में करने में समर्थ हैं। आपकी स्वस्वरूपा विमर्शशक्ति भेद के होने पर भी आपमें ग्राह्यग्राहकभाव का भेद उत्पन्न नहीं कर पाती, यद्यपि वह आपसे भिन्न है"।[2]

"परमशिव की चितिशक्ति स्वेच्छा से प्रकाशशरीर प्रमातृप्रमेयविश्व को उद्भासित करती है।[3] आणव-मायीय-कार्ममलावृत संसारी आत्मा, स्व-द्विविधपंचकृत्यकारित्व के विस्मरण के कारण, अपनी ही ककारादि चितिशक्तियों के द्वारा व्यामोहित किया जाकर स्वयं को देहप्राणादिस्वरूप समझता है। इस पशुदशा में ककारादि की अधिष्ठात्री ब्राह्मी आदि देवियाँ भेदज्ञानदशा में सृष्टिस्थिति और अभेदज्ञानदशा में संहार को दर्शाती हैं। परन्तु पतिदशा में वही ब्राह्मी आदि देवियाँ भेदज्ञान में संहार तथा अभेदज्ञान में सर्गस्थिति का भान कराती हैं।[4]

परमशिव सदा पतिदशा में रहते हैं। अतः उनकी विश्वात्मिका विमर्शशक्ति, षडध्वात्मक विश्व का निर्माण करके भी, स्वस्वामी के प्रति सर्ग-स्थिति काल में भी अभेद का ही प्रथन करती है।

<u>भक्तिशास्त्र</u> - "ज्ञान के बिना भी अपवर्ग की सीढ़ी, बिना धनव्यय

१- "अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" ॥ बृहदा०, २।३।६

२- "एकस्त्वं त्रिनयन दृश्यसेऽभिसर्तुं ज्ञातुं च त्रिभुवनमीश्वरः प्रकाशः।
तादात्म्यं विदधती विमर्शशक्तिर्भेदेऽपि प्रथयति ते न भेददोषम्" ॥शि०स्तो०, १३।

३- "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" "तथा तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्" ॥
प्रत्यभि०, सू० २-३

४- "तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्" - टीका -
ब्राह्म्यादिदेव्यः पशुदशायां भेदविषये सृष्टिस्थिती अभेदविषये च संहारं प्रथयन्त्यः परिमितविकल्पपात्रतामेव सम्पादयन्ति। पतिदशायां तु भेदे संहारं अभेदे च सर्गस्थिती प्रकटयन्त्यः क्रमात् क्रमं विकल्पनिरासेन श्रीमद्भैरवमुद्रानुप्रवेशमयीं महतीमविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्ति--- "सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता" ॥
प्रत्यभि०, सू० १२

के ही श्रेष्ठ यज्ञ एवं नास्तिकजनों के लिए मधुरदुग्धपान के समान यह शंकरभक्ति-चर्चा ही सर्वोत्कृष्ट है[1]।

भगवत्पूजन - "पार्श्वस्थ वृक्षों से अनन्तपुष्पचय करके, पार्वती के वाहन सिंह के द्वारा हाथियों के मारे जाने से उनके पंजों से गिरे हुए गजमुक्ताओं से अर्घ देकर, नवश्यामल मेघों के द्वारा धूपधूम का अभिव्यंजन करते हुए, चोटियों पर प्रज्वलित सूर्यकान्तमणियों के दीपक जलाकर, शिवभालचन्द्र के सम्पर्क से नित्य ही द्रवित चन्द्रकान्तजलों से अपने इष्टदेव को स्नान कराते हुए, गिरते हुए सगैरिक निर्झर के द्वारा तिलक-दान का सम्भ्रम उत्पन्न करते हुए, वायुप्रवेश से उत्पन्न कन्दरानादों के द्वारा स्तुति करते हुए, उत्पन्न होनेवाले असीम फलों से शुभ बलि की सज्जा करके, प्रान्तस्थ दिव्यचारणों के मधुर संगीत के द्वारा गायन प्रस्तुत करते हुए जो कैलाश पर्वत, श्वेतभस्म :हिम: को धारण कर भक्तभाव से, नित्य-सन्निहित अपने प्रभु शिव की अर्चना किया करता है"[2]। :स्नानादि करके भगवत्पूजक स्वयं भस्म लगाकर शान्तचित्त हो पूजासन पर बैठता है। वह भगवान् को स्नान कराकर उनके तिलक लगाता है। उन्हें माल्यार्पण, दीपदान, धूपदान, फल, बलि, अर्घ, स्तवन तथा गायनादि के द्वारा प्रीणित करता है। कैलाश भी अपने प्रभु की सतत-स्वाभाविक-अनुकूल पूजा करता रहता है:।

१- "ज्ञानामपोर्ह्यपवर्गवीथी यज्ञो विनेवार्थकदर्थनाभि: ।
    पयश्छया नास्तिकपन्नगानां जयत्यसौ शंकरभक्तिचर्चा" ।। श्री०च०, २।४४

२- "ढौकितानन्तकुसुमप्रकर: पार्श्वपादपै: ।
    कीर्णार्घो गिरिजासिंहकरजोन्मुक्तमौक्तिकै: ।।
    धूपधूममभिव्यंजन्नवैर्नवपयोमुचाम् ।
    दत्तदीपालिक: शृंगप्रज्वलत्तपनोपलै: ।।
    स्नानानि यच्छन्नाच्छिन्नमुच्छलद्भिरितस्तत: ।
    नित्यानि: स्यन्दमानेन्दुदृषत् स्तुतिभिरम्बुभि: ।।
    सधातुनिर्झराख्यव्यक्तभालननविभ्रम: ।
    स्वकन्दरीमुखैर्वातलहरीमुखरीकृतै: ।।
    कुर्वोपकल्पितबलिर्नानाविधफलर्द्धिभि: ।
    तटप्रस्तुतसंगीतकैर्गीतौ दिव्यचारणै: ।।
    यो भस्मश्वेतसर्वांगो निभृतां स्थितिमास्थित: ।
    नित्यसंनिहितं देवदेवमभ्यर्चयन्निव ।।" श्री० च०, ४।३७-४२

<u>तन्त्रशास्त्र</u> - "बलिपूजन के पश्चात् कुन्दशोषण के द्वारा हिमान्त करके, मेघ चन्द्रावें को हटाकर, सूर्यबीज के द्वारा वसन्त व्रत को प्राप्त हुआ"[1]। :वसन्त ऋतु में कुन्दपुष्प मुरझा जाते हैं और हिमपात भी बन्द हो जाता है। हिमपात दुःसह होता है। अतः उसे हटाने के लिए वसन्त को यह अभिचार-क्रिया करनी पड़ी कि मन्त्र पढ़कर कुन्दपुष्प सुखा दिए। कुन्दों के सूखते ही हिमपात समाप्त हो गया। कृत्याओं का एक यह भी स्वरूप है कि मन्त्र पढ़कर किसी पुष्प या पौधे को सुखाया जाता है। साथ ही उस पुष्प या पौधे के सूखने की अवधि के अन्दर-अन्दर अभीष्ट व्यक्ति मर जाता है:।

<u>रक्तबलिपूजा</u> - "टपकता हुआ स्वेदजल ही अर्घ्यजल था, चंचलभ्रूपातन ही आरुणपुष्प था और वदन-लालिमा ही रक्तबलि थी। इस प्रकार गण-मुखों ने क्रोधाधिदेव की रक्त-पूजा सम्पादित की"[2]।

<u>उच्चाटनमंत्र</u>- "सुख-श्रान्त युवक, प्रातःप्रहर में, तरुणियों की कोमल बाहुओं का तकिया लगाकर सुख से सो रहे थे कि उसी समय, कामदेव का उच्चाटनमन्त्र-सा, कहीं पर, प्रातःशंख बज उठा"[3]। :प्रातःशंखनाद को सुनकर युवतियां उठ-उठकर चली गईं:।

<u>ज्योतिषशास्त्र</u> - <u>चन्द्रग्रहण</u> - "तुम्हारे वियोग में कृष्णकमलदलों

१- "घनकुन्दकुड्मलविशोषणक्षता तुहिनापचारचरुमाण्ड्यज्वना।
तिमिरद्रुहोऽभ्युदयनिबीजगौरवं मधुना विधाय जगृहे व्रतोरता"।।श्री०च०, ६।७१

२- "उन्मीलदर्धकण विभ्रमधर्मबिन्दु-
दूरोल्लसद्भ्रुकुटि पद्धतिभूमधनम्।
क्रोधाधिदेवमिवा विविधुच्चारिणु-
शोणत्वरक्तबलिभिर्वदनं गणानाम्"।। वही १८।३६

३- "पीनः पुन्यापि विधु विरामं कौलिमाता
निद्रान्ति स्म द्विगुणतरुणीबाहुगण्डोपधानम्।
यै विस्तब्धं मवक जवटे प्रत्युष स्तूर्यघोष-
स्तोषां योषित्कुलगुरुमवोच्चाटनामूलमन्त्रः"।। वही, १५।४८

पर शयन करना भी उस चन्द्रमुखी के लिए राहुग्रस्त :काले कमलदल: से ग्रसित होना है।[1] :कमलदल भी उसे तापित कर रहे हैं:।

हे नारायण ! दया करो ! राहु को फिर भी पूर्ण शरीर कीजिए कि जिससे यह चन्द्र, उसके पेट में जाकर, इन अबलाओं को तापित न कर पावे।[2]

सूर्यग्रहण - "कार्यवश सत्संगति का लाभ करता हुआ भी दुष्टव्यक्ति अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता। राहु, सूर्य का सम्पर्क पाते हुए भी, क्या देवत्व पा सका है"[3]

":चन्द्रग्रहण में पृथ्वी की छाया छादिका होती है, सूर्यग्रहण में चन्द्रमा की छाया छादिका होती है। छाया छादक है, इस कथन में छाया और तमस् पर्याय हैं। तमस् ही राहु कहा जाता है। इसी से ग्रहण राहु के द्वारा किया जाता है," ऐसी प्राचीनों की भ्रान्ति है":[4]।

महाकवि मंखक को चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के इन वैज्ञानिक-गणित सम्बन्धी तथ्यों से यहां कोई प्रयोजन नहीं है। वे शुद्ध साहित्यिक हैं और इनके रसाभिव्यंजक प्रयोग से ही सन्तुष्ट हैं।

नाट्यशास्त्र- नाटक के कई अंगोपांगों के नाम श्री० च० के कई श्लोकों में आए हैं। किसी-किसी श्लोक में तो सीधे रंगमंच का रूपक ही बांधा गया है। इन सबसे कवि का नाट्यशास्त्र के लक्षणों से अच्छा परिचय ज्ञात होता है।

१- "शयनमपि सरोजिनीदलास्तीर्णं सिषेव्यमाणं तितिरातपत्रैः।
अमृतकरतनोस्तनोति तस्या घटितविधुंतुदतांतिप्रतिष्ठाम्"।। श्री०च०, ७।२८

२- "पद्मनाभ करुणां कुरु भूयोविग्रहेण परिपूरय राहुम्।
येन तज्जठरकोटरशायी बाल्यं विधुरयेन्न विधुः"।। वही, ११।६१

३- "सदैव सत्संगमसंगतोऽपि खलः स्वकर्मां न जहाति जातु।
कृत्वापि सूर्याश्रयणं प्रयत्नाद्राहुः किं विबुधत्वयोगम्"।। वही, २।३

४- "चन्द्रग्रहणे भूभा छादिका, सूर्यग्रहणे चन्द्रभाछादिका, उभयत्रछायायाश्छा-
दकत्वे छायातमसी एकार्थे, तथातमस्तु राहुरपिनग्रहणं राहुकृतमिति प्राचीनाभ्रमः"।
सि० श०, पृ० २८७, परिभाषा ७।

स्ववधनाटक - 'मुख-प्रतिमुखादि पांचों सन्धियों के अवसर पर रंगमंच पर प्रवेश के स्थान अपने तापन-शोषणादि पांचों बाणों का प्रयोग करना दिखाते हुए, रौद्ररस-व्यंजक आरभटी वृत्ति को व्यक्त करते हुए और धीरे-धीरे प्रसरणशील स्वकण्ठहारों से एवं अग्निदाह से व्याकुल मीनकेतु, 'स्ववधनाटक' की समस्त क्रियाओं का प्रदर्शन करके जिन शिवजी की नेत्राग्निजवनिका में प्रविष्ट हो गया'।[1]

(मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति पांच सन्धियां होती हैं।[2] अभिनेताओं को दर्शकों से, यथाकाल, ओझल रखने वाला, रंगमंचीय प्रधान पर्दा जवनिका या यवनिका कहा जाता है। ऊपर से इसके गिरने का तीव्रजव (वेग) ही इसके इस नाम का कारण है, यूनानी प्रभाव नहीं।)

क्रोधसंभूष - 'कलयां निपुण-सूत्रधार के द्वारा प्रस्तावनास्वरूप इस प्रकार कथन करने पर मुखों की प्रसन्नता-जवनिका को दूर हटाकर, गणों के मन रंगमंच पर प्रकट होकर, क्रोधसंभूष ने विविध दृष्टिचालन-हस्तविक्षेपादि क्रियाओं को करना प्रारम्भ कर दिया'।[3]

प्रस्तावना - 'नाटक के प्रारम्भ में विदूषक, सूत्रधार का सहायक नट या नटी सूत्रधार के साथ, नाटकीय वस्तु के उपक्षेपक, वाक्यों में वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं। यह उपक्षेपक वार्तालाप ही 'आमुख' या प्रस्तावना कहा

१- 'द्राक्संधिष्वथ पञ्चसु व्यवहृतिं संचारयन्नंघ्रयो
व्यंजन्नारभटीं शरैरुपनमत्तापांगदाहाकुलैः ।
निर्वाह्य स्ववधाख्यनाटकविधिं मीनाकुलो विश-
न्नन्नेत्राग्निशिखावलीजवनिकां तात्पर्यतो न्यायते'।। श्री०च०, ५।४८

२- 'मुखप्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः'।। सा० द०, ६।७५

३- 'इत्थं प्रस्तावनायै निपुणवति वचः पन्नगसूत्रधारे
तूर्णं वक्त्रप्रसादप्रसरजवनिकामग्रतोऽपास्य दूरम् ।
क्रोधाख्यः पार्षदानां विदधदथिमनो रंगपीठप्रवेशं
वैद्युषो दृष्टहस्ताघमविकृतिभिः संनमोचिकार'।। श्री०च०, १८।६०

जाता है। उद्घात्यकादि इसके पांच भेद होते हैं।[1]

सूत्रधार - "सूत्रं धारयति यतस्तस्मात् सूत्रधारः उच्यते", सम्पूर्ण नाटक को एक सूत्र में पिरोये रखने के कारण ही सूत्रधार 'सूत्रधार' कहलाता है। रंगमंच पर पात्रों के प्रवेशक्रम तथा पात्रों के उक्ति-प्रत्युक्तिक्रम का वह पूर्ण ध्यान रखता है। सम्पूर्ण नाटक की सर्वांगीण समाप्ति उसी का उत्तरदायित्व होती है।[2] आजकल यह कार्य 'निर्देशक' करते हैं।

रंगपीठ - 'दर्शकों' के सम्मुख बने हुए अभिनेताओं की कार्यस्थली का अग्रभाग। इस पर नाटकीय पात्र, सामाजिकों के सम्मुख, अपना-अपना अभिनय प्रस्तुत करते हैं। जवनिका के द्वारा यह दर्शकों से ओझल रहती है। उसके उठते ही रंगपीठ या रंगमंच पर पात्र का प्रवेशादि सामाजिकों को दीखता है। पात्रों की सज्जा का कक्ष भी रंगमंच का ही एक भाग माना जाता है। रंगमंच के कई भेद और विभाग होते हैं।

१- 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा' ।। सा० द०, ६।३१-३२

२- 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः' ।। तथा
'चतुरातोद्यनिष्णातो नेकभूषासमावृतः ।
नानाभाषणतत्त्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।।
वेशोपचारचतुरः चौरेषणविचक्षणः ।
नानागतिप्रचारज्ञो रसभावविशारदः ।।
नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः ।
छन्दोविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः ।।
तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः ।
अवधार्यप्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशकः ।
एवं गुणगणोपेतः सूत्रधारोऽभिधीयते' ।। इति

<u>पानकरीतिसिद्धि</u> - "नानाशास्त्रपरिशीलनपारावारकाशला से व्युत्पत्ति का अनुमान हो जाता है काव्यमाधुर्य से इक्षुमधुर रस का ज्ञान हो जाता है। ~~काव्यमाधुर्य से~~- यदि इन दोनों - "रस एवं व्युत्पत्ति" - की घटना सम्पन्न हो जाय तो निश्चय ही कवि के नाटक-काव्यादि में "पानकरसन्याय" सिद्ध हो जाता है।[1] :काश्मीरनिवासी शर्करा, द्राक्षा, मरिच, अदरक तथा अन्य पौष्टिक-सुगन्धित द्रव्य डालकर और पुनःपुनः उबाल-छान एक पानक बनाते हैं। इसमें मधुराम्लकटु-प्रभृति अनेक रस मिश्रभाव से आस्वादित होते हैं। किसी एक द्रव्य के रस का प्राधान्य नहीं रहता। इस पानकरस के समान ही नाटक तथा काव्यादि में भी विभावानुभावसंचारीभावों के सर्वथा सम्मिश्रित अवधारण से चित्त में एक अनिर्वचनीय आह्लाद फूट पड़ता है।[2] यह परमाह्लाद ही, साहित्यिक भाषा में, "रस" कहलाता है। नाटक-काव्यों में रस के साथ-साथ शास्त्र-परिशीलन के पुट का होना सोने में सुगन्ध के समान होता है।

पानकरसन्याय का, साधारणतया, प्रयोग केवल रस-निरूपण में किया जाता है, परन्तु, महाकवि मंखक ने रस के साथ व्युत्पत्ति के सम्मिश्रण को पानकरीतिसिद्धि स्वीकार किया है। यही उचित ज्ञात होता है। क्योंकि, साधारणतया, विभावादि में सब माधुर्यगुण सम्पन्न तो हैं, पर कटुत्वोत्पादक कोई भी नहीं। नाटकादि की व्युत्पत्ति निश्चय ही उन्हें कटु-आस्वाद्य बना देती है। और तभी मधुरकटुसंयोग से पानकरीति की सिद्धि सम्भव होती है। श्री० च० इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

<u>वैद्यकशास्त्र</u> - महाकवि मंखक के पिता राजानक विश्ववर्त काश्मीर नरेश के राजवैद्य थे। कवि ने भी निश्चय ही वैद्यक शास्त्र का अच्छा ज्ञान विरासत

१- "व्युत्पत्तिभूषणमवेहि नितान्तहृद्या-
न्माधुर्यतो रसमयोन्मिषदिक्षुदीकाम् ।
एका तयोर्यदि भिदो घटना कवीनां
वाक्ये तदुच्यति पानकरीतिसिद्धिः" ॥ श्री० च०, २।३८

२- "विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः", भरतसूत्र

में प्राप्त किया था । इसका पता हमें श्रीकण्ठ चरित में प्राप्त विपुल उदाहरणों से लगता है । कवि ने विविध रोगे, उनके निदान तथा अन्य अनेक रसायनादि का उल्लेख काव्य में यत्र-तत्र किया है ।

तीनों लोकों के एकमात्र वैद्य भगवान् शिवजी ने जब कौलिका रूप करवालयष्टि से दर्पपटल को नष्ट कर दिया, तभी अन्धकासुर परमभीति-रहस्य साक्षात् शिव जी को देख सका, जो उसके भय के मुख्य कारण थे[1]।

१- लोकत्रयैकभिषजा भिषजन्धकारै-
कैरावलम्ब्यनिबिडां करवालयष्टिम् ।
कुर्वादर्पपटले शमितं प्रयोगा-
दन्धासुरः सकलमैक्षत भीतितत्त्वम् ।। श्री० च०, ५।१६ ।।

पटलरोग— "दृष्ट्यां च चत्वारि पटलानि । स्वरकाश्रयं बाह्यं, द्वितीयं मांसाश्रयं, तृतीयं मेदःश्रयं, चतुर्थं कालकास्थ्याश्रितम्" —
तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत्पिशिताश्रितम् ।
मेदस्तृतीयपटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम् ।।
पंचमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते ।। सु० उ० तं० अ० १ ।।
प्रथमेपटले दोषा यस्य दृष्ट्यां व्यवस्थिताः ।
अव्यक्तानि स रूपाणि कदाचिदथ पश्यति ।। सु० उ० अ० ७
दृष्टिर्भृशं विह्वलयति द्वितीयं पटलं गते । ———
————दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते समीपतः ।
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ।। ३२
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ।। सु० उ० अ० ७
ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तु तृतीयं पटलं गते ।
————— कर्णनासाक्षियुक्तानि विकृतानीव पश्यति ।।३४
दोषे दृष्ट्याश्रिते तिर्यक् स एकं मन्यते द्विधा ।
तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गतः ।। ३८
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशः सकः परम् ।।

रागपीतिमा चुरा कर जल, भयभीत-सा, शीघ्रता से गम्भीरनाभिगुहा में प्रविष्ट हो गया"[1]।

"शुभागमन" - "सम्पूर्णकार्यपथ्यं/पन्नगमशिथिलचरण सूर्य ने, अस्ताचल पर्वत के मधुरनिर्झरस्वनों से स्वागत किया जाकर, उसपर विश्राम करने के लिए पदार्पण किया"[2]।

"लक्ष्मी की लालसा" - "अपने पिता समुद्र के पास जाने की इच्छा से श्री ने पल्लवपट्टद्वारों को लगाकर स्वारविन्दमन्दिर को, जाते हुए सूर्य के साथ जाने के लिए, त्याग दिया"[3]। :सायंकाल कमलश्री सूर्य के साथ चली गई:।

"पैर दबाना" - "सम्पूर्णभूमण्डलयात्रा के उपभोग से तृप्त, अस्ताचलतल्पशायी सूर्य-चरणों :किरणों: का लालन, उसके प्रिय कमलों ने किया"[4]।

"कालगणक का मषिपात्र" - "सम्भवतः कालगणनापति की यह सूर्यरूपी स्वर्ण-दावात थी, कि जिसके उलट जाने से बही हुई कालिमा :रात्रि: समस्त-पृथ्वी को लीप रही थी"[5]।

"न्यासीकरण" - "चन्द्रदेव ने उदय होते ही कैरवकुलों को क्या नहीं खिला दिया। प्रातःकाल सूर्य के भय से उनके पास धरोहररूप से रक्खे गए निज प्रकाश को वापस लेने के लिए ही उसने उन्हें खिलाया था"[6]। :कैरवदल ज्योत्स्ना-व्याप्त थे:।

१- "अपहृत्य पीतिमशेषममस्तुदृशां शरीरतः।
भीत इव गगननाभिगुहां प्रकाश्य तूर्णमविशत्पयोधरः"।।श्री०च०, ९।३४

२- "भानुमानथ नभोध्वलंघनक्लान्तिकुण्ठितपादपल्लवः।
मन्द्रनिर्झररवैरुदीरितस्वागतं चरमशैलमभ्यगात्"।। वही, १०।१

३- "प्रस्थितेन रविणा समं पितुर्गन्तुमिच्छुरिव पार्श्वमम्बुधेः।
पल्लवाररपिधानबन्धुरं श्रीरमुंचदरविन्दमन्दिरम्"।। वही, १०।३

४- "भूमिमण्डलरसोपभुक्तिभिस्तिग्मगोः हृषितास्तु मंयुषः।
तल्पकल्पचरमाद्रिशायिनः पादलालनमकारि वारिजैः"।। वही, १०।४

५- "किं नु कालगणनापतेर्मषीभाण्डमर्यमवपुर्हिरण्मयम्।
तत्र यद्विपरिवर्तितानने लिम्पति स्म धरणीं तमोमषी"।। वही, १०।११

६- "उन्मुक्तानुदयनक्षण एव देवः
सारं कैतलयत्स्व न कैरवाणि।
न्यासीकृतानुषसि भानुभिया स्वभासं
तत्कुड्मलेभ्य इव मोक्तुं पुनर्हिमांशुः"।। वही, १०।४२

"<u>मछलीमारना</u>" - "जिस चन्द्र की प्रथम कला, कुछ काल पूर्व, मारकाम - मछुए के मछली मारने की बंसी थी, अब वह धीरे-धीरे पूर्ण होकर शृंगार के रथ का पहिया-सा बन गया"[1]।

"<u>दया-याचना</u>" - "हे ब्रह्म जी। कृपया दया कर राहु के शरीर को फिर से पूर्ण कर दीजिए कि जिससे उसके पेट में जाकर, यह चन्द्र पुनः हम विरहियों को न सताए"[2]।

"<u>सती पतिव्रता</u>" - "जिसका कोई अन्य हाथ पकड़ने वाला नहीं है, जो राहु के द्वारा भी ग्रासत्व को प्राप्त नहीं होती, शशा~~श~~वक के चुम्बन से भी जो दूषित नहीं है ऐसी उस सती इन्दुलेखा को जो शिर पर धारण किए रहते हैं"[3]।

"<u>रसवती-त्रिलोकी</u>" - "ब्रह्मायाचक के द्वारा बड़े प्रयत्न से, अतिदीर्घकाल में, बनाई गई और महाबल विष्णु के द्वारा रक्षित समस्त लोकत्रयीरसवती :भोज्यसामिग्री: को जो प्रलयोत्सव में लीला से, एकाकी ही कवलित कर लेता है"[4]।

"<u>मुकुन्दवृत्ति</u> - " दक्षिण दिशा :नायिका स्थानीया: सूर्य को त्याग सकने में समर्थ न थी और सूर्य :नायकस्थानीय: भी उसके सम्पर्क से सदा अल्पताप

१- "यत्पक्ता चिर कर्षकांकुलिन्दस्पन्दमानबडिशत्वमायातू ।
मण्डलाऽभूवरूपाऽनिन क्रमेण रसराजरथस्य" ॥ श्री०च०, ११।२

२- "पद्मनाभ करुणां कुरु भूयोविग्रहेण परिपूरय राहुम् ।
येन तत्कठरकोटरशायी वात्ययं विसृजेन्न विधुः" ॥ वही, ११।६१

३- "यस्याः परो न करपीडककृन्न नीता
या राहुणा विषयतां दशनव्रजानाम् ।
या दूषिता न शशकचुम्बनेन
यस्तां सतीमधिशिरो वहतीन्दुलेखाम्" ॥ वही, ५।२८

४- "सिद्धां चिरेण विधिसूदकप्रयत्ना-
त्संरक्षितामथ मुकुन्दपुरोगमेन ।
यः केवलोऽश्नुते निखिलां सलीलं
लोकत्रयीरसवतीं प्रलयोत्सवेषु" ॥ वही, ५।१२

:दुखी: था । परन्तु वसन्त ऋतु में न मालूम किसने उन दोनों में पंशुन्यभाव :चुगलखोरी: धारण किया[१] ।

'राजसम्मान' - "शैलराज चन्दनादि से उत्पन्न मलयपवन, जो कामदेव का सर्वप्रधान शरीररक्षक है, वियोगिनियों की निःश्वासवायु के द्वारा आगमन-स्वागत किया जाकर, गौरव को प्राप्त हुआ"[२]। :राजपुरुष के आगमन पर उठकर और कुछ आगे बढ़कर उसका स्वागत किया जाता है। व्यंग्यार्थ यह है कि मलयानिल के आगमन के पूर्व ही वियोगिनियों की मृत्यु की सूचक उनकी दीर्घ निःश्वासें चलने लगीं। अर्थात् वसन्त में मलयपवन अत्यन्त उद्दीपक था:।

'समशीतातपयोग' (Air Conditioned) - भुवनगुरु भगवान् शिव ने अपने भालचन्द्र की शीतल ज्योत्स्ना तथा नेत्राग्नि की अग्निज्वालाओं के समन्वय से वसन्त को समशीतातपयोग (Air Conditioned) की शिक्षा दी। :साधारणतया भी भगवान् शिव सर्वविद्योपदेष्टा माने जाते हैं:।

'खञ्जरीट' - "कविताङ्गना में खञ्जरीटों के द्वारा तुच्छ पंकान्वेषण सदा ही व्यर्थ सिद्ध हुआ करता है"[४]।

'कर्णजापक' - "कामदेव के समक्ष चुगलखोरी के कार्य में मधुपों ने सचमुच ही बड़ी पटुता प्राप्त कर ली है। देखो न, स्वतः सुमनों :श्रेष्ठों: के कोष :मकरन्द, धन: को लूटकर पुनः :काम से झूठी चुगली खाकर: निरपराध

१- "दिग्दक्षिणार्कैर्न शशाक सोढुं तत्संगतः सोऽपि सदाल्पतापः।
परस्परं किं तु तयोस्तदानीं न वेद्मि कः पैशुनमाचचार" ।।श्री०च०, ६।६

२- "समीरणश्चन्दनशैलराजजन्मा स्मरस्य प्रथमोऽङ्गरक्षः।
वियोगिनीनिःश्वसितानिलैन प्रत्युद्गतो गौरवमाससाद"।। वही, ६।४२

३- "समुदितमुकुटाग्रभालनेत्रज्वलनमयूखभरेण माधवस्य।
अतनुत समशीततापयोगं भुवनगुरुर्भगवानिवोपदेशम्" ।। वही, ७।८

४- "अपथ्यपङ्कान्वेषणाय द्रुतायमानां खञ्जरीटानाम्।
कवीन्द्रवाणीनिर्झरिणी संजायते व्यर्थसंचारत्वम्"।। वही, २।१०

तुम्हारा ही प्रभाव मैं अनुमान करता हूं"।[1]

<u>भेंटपूजा</u> "- उन सुरस्त्रियों ने, कुसुमार्पण-रूप भेंट को पाकर, प्रत्युपकार के विचार से, नदुओं में कुसुमरज पड़ने से निकलने वाले आंसुओं से आम्रवृक्ष को सींचा"।[2]

<u>गुलेलबाजी</u>" - "कामदेव के वज्रगोले शशिमण्डल के द्वारा आकाश में स्थित होकर, वहां से स्वदीर्घकिरणदण्डों को विस्तृत करके वधूजनों का मान शीघ्र ही भंग कर दिया गया"।[3] :कामदेव शिकारी है। किरणें ही लम्बी छड़ है एवं स्वयं चन्द्र ही वज्रगोला है। आकाश में छिपकर कामदेव गुलेलबाजी कर रहा है। वधूजनों के मानरूपी शिरसंग होरहे हैं:।

<u>लाठियों से मारना</u>" - "तट के भूषणस्वरूप हंसों की गति को चुरानेवाली सुरस्त्रियों को अत्यन्त क्षुभित हो, सरोवर ने लहररूपी लाठियों से पीटा"।[4]

रेंठिया स्त्रा <u>नकलीमूंछें</u> - "किसी नायिका के कपोलों पर, मुखारंभ से लक्षांकित हो रही थी। ऐसा लगता कि उसने मानो "पुरुषायित" में नैपुण्य दिखाने के लिए नकलीमूंछें लगा ली हों"।[5]

<u>घूंघट निकालना</u>"- "सकलद्विजराज :चन्द्र, ब्राह्मण: के सम्मुख हो, उसकी मुखकान्ति को छलपूर्वक हरने के कारण, लज्जा से, कृष्णकेशों की रचनाविशेष" के छल के द्वारा किसी नववधुका ने लम्बा-सा घूंघट निकाल लिया"।[6]

१- "अर्धनारीश्वरमूर्तिरीशः सदैव गौरीविरहानभिज्ञः ।
शृंगारजन्मा भवतः त्रिरोऽग्रे शशांक सोऽयं स तव प्रभावः" ॥श्री०च०, ११।६५

२- "स पुरंध्रिजनः कृतोपकारं सत्कारं कुसुमार्पणादिभिः ।
रभसा वनितेक्षणाम्बुपूरैरसिचत्प्रत्युपकर्तुमिच्छयेव" ॥ वही, ८।४६

३- "मण्डलेन शशिनो विनिविश्य व्योम्नि दीर्घकरदण्डबलेन ।
मारचक्रगुलिकाकृतिनेन प्रागभज्यत वधूजनमानः" ॥ वही, ११।१

४- "निर्जरीरजेवरमरालकुलातिविलासतस्करीः ।
क्षुम्यावकृत लहरीलगुडैर्मिहिट्टटात्रिदिवसुन्दरीः सरः" ॥ वही, ६।३७

५- "मुक्तादर्शारम्भप्रतिष्ठितोऽप्यस्याति कपोलतलम् ।
पुरुषायितेषु पाटवमस्याः कूर्चकमिव कामयतु" ॥ वही, १३।२०

६- "तटमालललाटफलकं सकलद्विजराजकान्तिावगुण्ठनकृत् ।
पुरतः प्रलम्बकुरलव्याजलम्ब्याकरोन्मुखपटग्रहणम्" ॥ वही, १३।२५

व्युत्पत्ति - पुराणादि :ख:

श्रुतिपरम्परा अथवा अध्ययन से ज्ञात पौराणिक उद्धरणों की श्रीकण्ठचरित में अत्यधिक प्रचुरता है। विशेषकर शिवसम्बन्धी असंख्य कथानक, पुनरुक्ति के साथ भी, भरे पड़े हैं। समस्त उद्धरणों का एकमात्र उद्देश्य शिव जी का उत्कर्ष दिखाना है। प्रसंगान्तर से आए विभिन्न उद्धरण भी साहित्यिक चारुता से सर्वथा पूर्ण हैं। साथ ही, यह सभी उद्धरण कवि के बहुश्रुत्पाण्डित्य के भी द्योतक हैं। इनसे कवि के अध्ययनशीलत्व, अध्यवसाय तथा शिवभक्त होने का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।

भगवान् अष्टमूर्ति - "जिस :सूर्य: की किरणें कैरवकुल की सतत विरोधिनी हैं, मृगनयनियों के मुखों के उपमानरूप से जो :चन्द्र: जाना जाता है, यज्ञों में जो :अग्नि: मन्त्रपूर्वक दी गई आहुति का उपभोग करता है, जो :वायु: विकसित कुसुमों की सुगन्धि का वाहक है, जो :पृथ्वी: शेषनाग के सहस्रफणों के लिए भी पर्याप्त महातपत्र है, पिपासित मयूर :?: जिस :जल: को मेघ से मांगता है, दीक्षा में प्रविष्ट होने के कारण जिस :यजमान: को कृश शरीर होना शोभा देता है और जो :आकाश: असंख्य भी तारकुल का असम्बाध राजपथ है। इन सूर्यचन्द्र-अग्निवायु-पृथ्वी जल-यजमान-आकाशमयी मूर्तियों के विवर्तभाव को प्राप्त होकर जो समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रहा है और जो परमेश्वर जन्मजरामरणादि से सर्वथा मुक्त है, उसे ही मतिमान् शास्त्रकारों ने "अनष्टमूर्ति" :आठमूर्तियों के स्वरूप से व्याप्त: विरोध, कभी नाश को न प्राप्त होनेवाला, विरोधपरिहार: वर्णित किया है"[1]।

१- यस्यांशवः कुवलकैरववैरकारा
  वक्त्रेषु यो मृगदृशामुपमानबन्धुः।
 होत्रे मखेष्वसमसन्त्रहुतं च यो यो
  यः प्रोद्भवत्कुसुमसौरभसार्थवाहः॥
 शेषस्य यत्फणभृतो वह्वातपत्रं
  यमार्थते जलधरं चिपुरो मयूरः।
 दीक्षाप्रवेशकृशमर्हति यः शरीरं
  यः सर्वतारकनिरर्गलराजमार्गः॥
 यस्तन्मयीभिरपि मूर्तिविवर्तनाभि-
  र्व्याप्नुवन्प्रथम भुवनमशेषमरत्ययम्।
 मुक्तम्पदं जनिजरामरणादिभिस्तं
  शास्त्रेष्वनादि मतिमद्भिरनष्टमूर्तिः॥ श्री०च०, ५।४३-४५

"कहां रहती :पृथ्वी: ; कैसे प्रकाश उत्पन्न होता :सूर्यचन्द्र: ; अथवा यह जीवलोक श्वास-प्रश्वास कैसे धारण करते :पवन: ; यदि सर्वमहान् प्रभु दया करके अष्टमूर्तिस्वरूप को न प्राप्त हो गए होते"[1]।

"सती पार्वती ने बालक्रीड़ा से अत्यन्त थक कर, चंचलवस्त्रों सहित, पृषदश्व :पवन: का उन्मुक्त परिरम्भ किया- क्योंकि वह भगवान् अष्टमूर्ति शिव ही की एक मूर्ति है[2]। :पृषदश्व एक शिवभक्त ऋषि भी थे। 'ऋषि' अर्थों में विरोध और 'पवन' अर्थ में उस विरोध का परिहार है:।

अन्यत्र भी कवि ने भगवान् शिव को ४-५ बार 'अष्टमूर्ति' पद से अभिहित किया है। पर उनमें साहित्यिकता की मात्रा अपेक्षाकृत न्यून है[3]।

महाकवि कालिदास ने भी अपने प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की नान्दी में अष्टमूर्ति का साहित्यिक निबन्धन किया है[4]। सम्भव है कि महाकवि मंखक ने अपने अष्टमूर्तिनिबन्धन में उक्त नान्दीपाठ से प्रेरणा ग्रहण की हो, पर दोनों महाकवियों की उक्तियों में स्वतन्त्र उद्भावनाएं विद्यमान हैं। मंखक को, शिवचरितवर्णन के नाते, अष्टमूर्ति का वर्णन करना स्वभावतः भी प्राप्त है। प्रेरणा और छायाग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता।
:पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और यजमान को भगवान की आठ मूर्तियां बताया गया है[5]:।

१- "क्वास्त्यत्क्वभ्यनिष्यत प्रकाशं प्राणिष्यत्क्वमथो च जीवलोकः।
 वा अगोपित्वलमद्गरिष्ठ नो चेत्करुण्यात्प्रभुरमविष्यष्टमूर्तिः"।।श्री०च० ८०। ३२

२- "बालक्रीडाभिरंगकैः सती सा परिरेभे सुमा चलदुकूला।
 बहुशः पृषदश्वमष्टमूर्तिप्रियमर्त्यन्तरमित्यमास्त्वशंकम्"।। वही, ८।३

३- द्रष्टव्य वा० पु०, ८८।२६।

४- "या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
 ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
 यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
 प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः"।।अ०शा०, १।१

५- "क्षितिरापोऽनलो वायुराकाशः सूर्यचन्द्रमसौ।
 यजमान इत्यष्टौ मूर्तयः परिकीर्तिताः"।। शि० पु०, १।२२।४६

अर्धनारीश्वरशिव - "सायंप्रात: एकान्त में सन्ध्याराधन करते समय शिव जी स्वयं ही भयभीत हो उठते हैं कि कहीं सन्ध्या से बातचीत करते सुनकर अर्धांगस्थित पार्वतीजी अप्रसन्न न हो जाएं। साथ ही पार्वतीजी भी स्वसखियों से उन्मुक्त हृदय से विस्रम्भालाप नहीं कर पातीं, उन्हें भय है कि कहीं अर्धांगस्वरूप शिवजी सुन न लें। फिर भी चुगलखोरों को चुगली का अवसर नहीं मिलता। शिव-शिवा का यह एकीभूतस्वरूप आपके कल्याण का करने वाला होवे"[1]।

"भगवान का शरीरार्ध तो गौरीमय है ही, शेषार्ध भाग भी, कंकणादिभूतफणीन्द्रों की मणियों के अनुराग से रंजित, ऐसा भासित होता कि मानो भगवान्, सततवल्लभासन्ध्या के द्वारा ईर्ष्या के साथ अरुणरूप में, धारण कर रहे हैं"[2]। :पूर्वार्ध में गौरी और उत्तरार्ध में सन्ध्यास्वरूप ही भगवान् हैं:।

"भगवान् शिव जी संसार की प्रीति व कुशल का पोषण करें कि जिनके वामार्ध में स्वभावत: ही विराजमान पार्वतीजी साक्षात् उत्सवस्वरूप बनती हैं+ :पार्वतीजी के सान्निध्य से वे सदा ही अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं:। शरीरैक्य के साथ ही नन्दी-सिंह का भी ऐक्य सुतराम् सम्पन्न हो जाता है। तब, सिंह के पैरों से गजमुक्ताएं बिखरती जाती हैं और नन्दी के खुरन्यासमात्र से पृथ्वी स्वर्णमयी होती जाती है। इस प्रकार समस्त पृथ्वी ही विविध-मणिजटित स्वर्णालंकारविभूषिता हो उठती है"[3]। :सिंह ने मुक्तायुक्त गजों का कुम्भदारण

१- "संध्यास्तोत्रविधौ भवत्युचितमीर्ष्येश्वरो यत्र च
 त्रस्यत्यद्रिसुता सखी: प्रति रहो विस्रम्भसंभाषणे।
 आस्ते यत्र च चित्रभेदविदुषां नो पैशुनोक्तिक्षण-
 स्तद्भूयाच्छिवयो: शिवाय भवतादेकीभवद्वपु:"॥ श्री०क०, १।४८

२- "गौरीमयैकपुरार्धमपरार्धं
 केयूरकंकणफणीन्द्रमणिप्रभाभि:।
 शेषं त्रिधामपि भागमिवारुणं
 य: संध्यया सततवल्लभया बिभर्ति"॥ वही, ५।२०

३- "स प्रीतिं च कुशलं च जगतां पुष्णातु यस्य स्वयं
 वामार्धग्रहणोत्सवो गिरिजया यत्र क्षणं जायते।
 संभिन्नाम्बयवाहनाग्रिमखुरन्यासक्रियानि:सर-
 न्मुक्तादन्तुरकाञ्चनविभ्रमालंकारवत्युर्वरा"॥ वही, ५।५०

किया था। उसके नखों में गुंथे हुए मोती बिखरते जाते हैं। तथा नन्दी के खुर-न्यासमात्र से, वरदान के कारण, भूमि स्वर्णमयी होती जाती है। इस प्रकार पृथ्वी की मुक्ताखचितस्वर्णाभूषणता हो उठती है:।

"शिवजी के शरीरार्ध में सतत विद्यमान पार्वती जी ही कामदेव की महिमा का घोतन करती हैं। :शिव जी भी कामदेव के अनुशासन का पालन करते हैं, तभी तो पार्वती जी को सातत्येन वामार्ध में धारण कर रक्खा है:। उन्नत वामकुच, दक्षिणार्ध में स्थित सर्पकीमणि में प्रतिबिम्बित होकर, दक्षिणकुच की भी वास्तविकता को सिद्ध कर रहा है"[१]।

"शोणीधर की कन्या :पार्वती: के शरीर के साथ स्वशरीर का एकीभाव स्थापित करके, प्रतिरात्रि को जो नाट्यलीलारहस्य शिव जी उपस्थित करते हैं वह अत्यन्त रूचिकर है। दक्षिणार्ध में स्थित आभरणभूत सर्प, थकने से क्षुब्ध होने पर, वामार्ध में स्थित पार्वती की सुगन्धित मुखवायु का यथेच्छ गोष्ठीपान करते हैं"[२]। :थकित पार्वती जी दीर्घदीर्घतर निःश्वासें छोड़ती हैं। श्यामानायिका पार्वती के मुखमारुत के आस्वादन का आनन्द सर्पों को, उस क्लान्तिदशा में भी, अनायास ही प्राप्त हो जाता है:।

अन्यत्र भी कवि ने भगवान् के अर्धनारीश्वरस्वरूप का उल्लेख किया है।

१- "बिभ्रत्या प्रभुशक्तितां रतिपतेरेकत्र भागे कृत-
    प्रत्यादेशमगाधिराजसुतया यस्तद्वपुः पुष्यति।
वामो यत्र कुचो भ्यविस्फुरदुरःशेषाहिरत्नान्तरे
    संक्रान्तो नयतीव दक्षिणमपि प्रत्यक्षसंलक्ष्यताम्" ।।श्रीकं०च०, ५।५५

२- "देहद्वन्द्वैक्येन समभवभिभृतः कन्यया निर्मिमाणो
    यस्तं कल्पं प्रयुंक्ते प्रतिरजनिमुखं नाट्यलीलारहस्यम्।
श्राम्यन्तो दक्षिणाभरणफणभृतो यत्र कुल्लत्फणाग्रं
    वाम्यद्वामार्धनिर्यत्सुरभिमुखमरुत्पानगोष्ठीं कुर्वन्ति" ।।वही, ५।५७

:मैथुनीसृष्टि करने की अभिलाषा से ब्रह्मा ने शिव जी की अर्धनारी-रूप में भावना की । शंकर जी शीघ्र ही प्रसन्न हो गए । उन्होंने अपने ही शरीर से शिवा को उत्सृष्ट किया । भगवती शिवा ब्रह्मा को मैथुनीसृष्टि की शक्ति प्रदान करके पुनः शिवशरीर में लीन हो गईं[1]: ।

<u>एकादशरुद्र</u> - "हे त्रिनयन शिव । देखिए इधर यह एकादशरुद्र सब एक साथ ही आपको साष्टांग प्रणाम कर रहे हैं । हठप्रयत्न के कारण खुली हुई उनकी जटाओं के मध्य से विकसित होती हुई उनके भालचन्द्रों की किरणों को मृणालांकुर समझकर ब्रह्मा के वाहनहंस उनपर चंचुपात कर रहे हैं"[2]।

"हे शिव । यह रुद्रगण अपने भालचन्द्ररूपी पुष्पों को आपकी चरण-पादुका पर विकीर्ण करके अब ऊर्ध्वमुख स्वनेत्राग्निज्वालाओं से उस :अंघ्रि-पीठः की नीराजना कर रहे हैं"[3]। :एकादशरुद्र एकसाथ अपने-अपने शिर आपकी चरणपादुका पर रख रहे हैं:।

१-
अनुत्तमस्य ब्रह्मा प्रजाविधिकामप्रवृद्धकम् । अर्धनारीनराकारं हि शिवरूपमनुत्तमम्" ।। शि०पु०३।३।१
शिवया परया शक्त्या संयुक्तं परमेश्वरम् । संचिन्त्य हृदये प्रीत्या तताप परमं तपः ।।
तीव्रेण तपसा तस्य संयुक्तस्य स्वयंभुवः । अचिरेणैव कालेन तुतोष स शिवो द्रुतम् ।।
ततः पूर्णचिदीशस्य मूर्तिमाविश्य कामदाम् । अर्धनारीनरो भूत्वा ततौ ब्रह्मान्तिकं हरः ।। वही, ३।३।५-
इत्युक्त्वा परमोदारं स्वभावमधुरं वचः । पृथक्चकार वपुषो भागाद्देवीं शिवां शिवः ।। वही ३।३।१३
दत्त्वैवमतुलां शक्तिं ब्रह्मणे सः शिवा मुने । विवेश देहं शम्भोर्हि शम्भुस्त्वान्तर्दधे प्रभुः ।। वही, ३।३।२८

२- "एतो रुद्राः पश्य त्रिनयन भवन्तं सममभी
नमस्यन्ति क्षोणीतलवलनपारिप्लवजटाः ।
हठन्यंचन्मुक्तस्खलितशशिलेखासु बदनं
विधत्ते यैषां नियमति मृणालांकुरधिया" ।। श्री०च०, १६।४८

३- "रुद्रा भिन्नत्रिलयाप्य नम्रकूट-
विश्लथ्य विन्दुशकलार्चितपुष्पकृत्याः ।
वाधीदग्ध्वंसनाग्निशिखाभिरेते
नीराजयन्ति तव देव पुरोऽङ्घ्रिपीठम्" ।। वही, १६।४६

'इन एकादशरुद्रों के भालचन्द्रों की सहायता पाकर आपका भालचन्द्र ताराें का सूर्यतेज को भी ठुकराती हुई रहा है। ज्योत्स्ना के द्वारा आकाश के भर जाने से, देखिए। प्रातःकाल के समय ही यह दिन का अपह्नव-सा हुआ जा रहा है'।[1]

अनेकों स्थानों पर कवि ने साक्षात् शिव को रुद्र भव तथा मृड प्रभृति नामों से उल्लेख किया है।

: 'देवों की रक्षा के लिए एकादशरुद्रों का जन्म हुआ था। उनके नाम क्रमशः - १- कपाली, २- पिंगल, ३- भीम, ४- विरूपाक्ष, ५- विलोहित, ६- शास्ता, ७- अजपाद, ८- अहिर्बुध्न्य, ९- शम्भु और १०- भव हैं।[2] देवों की रक्षा के लिए वे आज भी द्युलोक में विद्यमान रहते हैं:।[3]

यह सभी नाम शिव के नामों के पर्याय भी हैं।

गरलपान - 'स्वर्ग की अप्सराओं के नयनकमलों में प्रकाश के अवरोध करने में सर्वथा समर्थ, उस समय हठपूर्वक मथे गए बड़वानल के द्वारा उद्गीर्यमाण धूमपुंज के समान, समुद्रमन्थन के समय मन्थनदण्डभूत मन्थाद्रि के संघर्षण के भय से पाताल से पलायित तमोराशि के सदृश, समुद्र से उत्थित होती हुई लक्ष्मी के निवासभूत विकसित कमल के सम्मुख मंडराते हुए भंवरों की श्यामताभी के

१- 'रुद्राणां मौलिमृगाङ्कसहायकं संप्राप्य साहायकं
त्वच्चूडामणिरश्मिरर्ककिरणान्न्यक्कारमारब्धवान्।
ज्योत्स्नैव स्नपयत्यशेषभुवनाभोगान्तरालं ततः
प्रत्यूषेऽपि दिनस्य पश्य सहसा संजायतेऽपह्नवः'॥भी०च०, १६।५०

२- 'कपाली पिंगलोभीमो विरूपाक्षो विलोहितः।
शास्ताजपादहिर्बुध्न्यश्शम्भुश्चण्डोभवास्तथा॥
एकादशरुद्रास्तु सुरभीतनयाः स्मृताः।
देवकार्यार्थमुत्पन्नाश्शिवरूपाःसुखास्पदम्'॥ शि०पु०, ३।१८।२६-२७

३- 'अद्यापि ते महारुद्रास्सर्वे शिवस्वरूपकाः
देवानां रक्षणार्थायविराजन्तेऽत्र दिवि'॥ वही, ३।१८।३०

लुटेरे तथा त्रैलोक्य को दु:ख देने में अपनी समुद्रोत्थित कालकूटगरल को जिन शिवजी ने स्वकण्ठरूपी उपयुक्त कारागृह में हारसर्पमयी शृंखलाओं में जकड़ कर बांध दिया[1]। :चोर, लुटेरा और आततायी क्योंकि जेल में कैद कर दिया जाता है :।

कैटभारि विष्णु के साथ ऐक्यशरीरी होने पर जिनका विशाल वक्षस्थल कुछ विशेष उन्नत हो जाता है। उस उन्नतवक्षस्थल पर महाविषकालकूट अपनी सहोदरा कौस्तुभमणि के दर्शनसुख को प्राप्त करता है[2]। :हरिहरस्वरूप में कौस्तुभमणि तथा कालकूट, सन्निकट होने के कारण, सौहार्दलाभ करते हैं। दोनों ही रत्न समुद्रमन्थन से निकले थे:।

: देवता और दानवों के द्वारा मिलकर समुद्रमन्थन करने पर, उसमें से १४ रत्न निकले। उन रत्नों में कालकूट विषय भी एक रत्न था। कालकूटविष इतना भयंकरदाहक था कि उसकी उष्णता से सब चराचर भस्म होने लगे। उसकी इस भयंकरता को देखकर देवताओं ने शिवजी से उसे पान कर लेने की प्रार्थना की। शिवजी ने छायास्थानक में स्थित हो उसे पान कर लिया[3]:

१- बालोक्यमानमुपरोद्धुमनन्यसारं
स्वर्लोकमप्यहृदयं नयनोत्पलेषु।
तत्कालमप्रमथरूपमितेन पुम-
मुद्गीर्यमाणमिव वाडवपावकेन ॥
मन्थाद्रिघट्टनभियेव पलायमानं
पातालत: सुचिरसंभृतमन्धकारम्।
कुण्ठाकुलं जितविपक्षलतानिवास-
व्याकोशकम्बुर:सरसंगरीव: ॥
योऽस्मिन्निवेरु पितमाक्षिपाम्नि हार-
कालोरगेन्द्रनिविडायसशृंखलाभि:।
त्रैलोक्यतापनदुर्ललितं स्वकण्ठ-
कारागृहे गरलमुग्रतरं बबन्ध ॥ श्री० च०, ५।३४-३६
२- यस्यच कैटभजिता घटितैक्यमूर्ते-
र्वक्ष: कटाक्षपदवि कंचन तुंगिमानम्।
यस्मिन्पुरस्परसमाजमवाप्यमान-
देवोदरेण मणिना सह कालकूट: ॥ वही, ५।३७
३- ततोदेवोमहादेवो विलोक्य विषमं विषम्।
छायास्थानकमास्थाय सोऽपिबद्भाममपाम्नि ॥ शि० पु०, २५२।५६

<u>भालचन्द्र</u> - 'जिन शिव जी के चूड़ाशशी की वे कुन्दकुसुमाभा-सी शुभ्रकिरणें प्रतिक्षण विकसित होती रहती हैं। उन चन्द्रकिरणों के सामने भगवान् को प्रणामांजलि बांधने वाले देवों के हस्तकमल मुकुलित हो जाते हैं'[1]। :ज्योत्स्ना से कमल और आतप से कुन्द मुकुलित होते हैं:।

'किसी दूसरे ने जिसका कभी हाथ नहीं पकड़ा, जो राहु के द्वारा कभी दशनघात :ग्रहण: का विषय नहीं बनाई गई और जो शशशावक के चुम्बन के द्वारा भी कभी दूषित नहीं की गई ऐसी उस सती चन्द्रकला को जो शिव जी सदा शिर पर धारण किए रहते हैं'[2]। :सती पतिव्रता का सम्मान किया ही जाता है:।

'जो चन्द्र ताम्रता :कलाभाव: को कभी नहीं छोड़ता और दिन-पर-दिन पीला होता जाता है, क्योंकि हृदय में स्थित कलंकशशी से उसका वियोग जो हो गया है। शिवजी का वह भालचन्द्र शिर पर गिरती हुई गंगा की तरंगों से शीतल जटाजूट में ही सदैव निवास करता है'[3]। :विरही-कृश और पीला हो जाता है तथा स्वविरहताप को शीतल स्थानों-पदार्थों के सेवन से शान्त करता है। भालचन्द्र में कलंककालिमा का अभाव है। इसी श्यामा-

---

१- 'ते कुन्दकुंमलनिभरुचो मयूखा
यस्याब्जलक्ष्मिनो निरन्तमुल्लसन्ति।
आसीदतां त्रिदिवसदां मुकुलीभवन्ति
पद्मप्रभादिव पुरः करपुष्कराणि'।। श्री० च०, ५।२६

२- 'यस्याः परो न करपीडनकृन्न नीता
या राहुणा विषयतां दशनक्षतानाम्।
या दूषिता न शशशावकचुम्बनेन
यस्तां सतीमधिशिरो वहतीन्दुलेखाम्'।। वही, ५।२८

३- 'न ताम्रतां त्यजति पुष्यति पाण्डिमानं
हृद्वया परिणमद्विरहोकलंकवन्ध्या।
यस्यापगाकुलतरलत्तरंग-
शीतोपचारमिव जटाटे शशाङ्कः'।। वही, ५।३०

भाव का वियोग उसे तापित कर रहा है:।

"स्वमित्र मकरकेतन के नवकेतु के निमित्त शिरस्थगंगा के एक मकर को चुपके-- से पकड़ने के विचार से ही, जिन शिव जी के जटाजूट में सिकुड़कर एकाभाव से चन्द्रमा विद्यमान है। वह पार्वती के मुख की द्युतिका अपहर्ता भी है"[1]।

"जो यह अर्धनारीश्वरस्वरूप शिव जी सदा ही गौरी के विरह से शून्य रहते हैं :सदा गौरीसंयुक्त रहते हैं:सो, हे शृंगारमित्र भालचन्द्र। अनुमान है कि यह तुम्हारा ही प्रभाव होगा"[2]।

:"देवदानवों के द्वारा क्षीरसागर के मथे जाने पर उसमें से १४ रत्न निकले। उन रत्नों में सकान्तिपूर्ण महातेज चन्द्र, हे देवि। मेरे द्वारा शिर पर धारण किया गया, क्योंकि मैंने प्रभासक्षेत्र में कालकूट विष को पी लिया था। पहले देवों ने इस चन्द्र को मेरी विषज्वाला की शान्ति के लिए मेरे शिर पर भूषण-स्वरूप स्वीकार किया था"[3]:।

<u>श्वेतमुनि</u> - "कैलासपर्वत हिमाच्छादित है, ऊंची-ऊंची चोटियां भी श्वेत ही हैं। मानो उसकी सेवा से तुष्ट होकर शिवजी के भस्माच्छादित शरीरैक्यभाव को प्राप्त हो गया है- हिमश्वेतता भस्मश्वेतता के समान है।

१- "वस्तु: स्मरस्य नवकेतुकृते कीरीट-
 स्थ:सिन्धुराजमकरं सहसैव धर्तुम्।
 यस्यां जटाभुवि कुंचितमूर्तिरिन्दु-
 रास्ते नगेन्द्रतनयाननवर्णचोर:" ।। श्री० च०, ५।४१

२- "यदर्धनारीश्वरमूर्तिरीश: सदैव गौरीविरहानभिज्ञ:।
 शृंगारबन्धो भवत: शिरोग्रे शशांक शंके स तव प्रभाव:"।। वही, ११।६५

३- "क्षीरोदे मथ्यमाने तु दैत्यदानवैरपि।
 रत्नानिनिर्जज्ञिरे तत्र चतुर्दशमितानि वै।।
 तेषां मध्ये महातेजश्चन्द्रमास्त्वमृतप्रभवा।
 सो मया धृतो देवि अथापि शिरसि प्रिये।।
 विषे पीते महादेवि प्रभासस्थस्य मे सदा।
 भूषणं मुकुटे देवैर्मम चन्द्र: कृत:पुरा"।।स्क०पु०, ७।१८।१४-१६

गजासुरवध - 'चूडाचन्द्र की ज्योत्स्ना के सम्पर्क से गजासुर के दन्त-मुसल टूट गए, नेत्राग्निज्वाला से उसका दानाम्बु सूख गया और हारभूत सर्पों के द्वारा कर्णतालवायु पी ली गई, शिवजी के सम्मुख गजासुर के द्वारा किसी प्रकार खड़ा ही न हुआ जा सका'[1]। :तब प्रहार-प्रतिप्रहार का प्रश्न ही क्या :? और भी--

'भूषासर्प लोहे की जंजीरों के समान, किरीटचन्द्रखण्ड अंकुश के समान तथा शिवजी की प्रलम्ब बाहुओं को आलानदण्ड के समान देखकर ही गजासुर कातर हो गया'[2] :उसे लड़ने का साहस ही न हुआ :।

:'गजासुर को ब्रह्मा जी का वरदान था कि उसकी मृत्यु किसी विशिष्ट व्यक्ति के हाथ से न हो सकेगी। पार्वती जी ने महादेव जी से 'कृत्तिवासेश्वर लिंग' का माहात्म्य सुना। उसी समय गजासुर ने शिवजी पर प्रहार किया। शिव जी ने उसे स्वत्रिशूल में छेदकर टांग दिया। अन्त में उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उससे वरदान मांगने को कहा। उसने भगवान् से यह वर मांगा कि वे :भगवान्: सदा उसकी कृत्ति :चर्म: धारण किए रहा करें। तभी से शिवजी का एक नाम 'कृत्तिवास:' भी पड़ गया'[3]:।

मदनदहन - 'त्रिशूलधारी भगवान् शिव जी की नेत्राग्नि आपकी सुख-समृद्धि को बढ़ावे तथा पापों को भस्म करे। यद्यपि उस नेत्राग्नि में धूम का लेशमात्र भी नहीं है, तथापि वह :नेत्राग्नि: रति की अश्रुधारा का सूत्रधार है'[4]।

१- 'पुस्फोट दन्तमुसलं मुकुटेन्दुभासा
दानाम्बु दीप्तनयनाग्निरुचा शुशोष।
हाराहिभिः श्रवणतालमरुत्पपे च
यस्याग्रतः क्षमवति न गजासुरेण'।।

२- 'भूषोरगेषु शृंखलायमानेषु
व्यक्तांकुशाभिव किरीटशशांकखण्डे।
आलानदण्डक इवोरुणि च यस्य बाहु:
चिन्त्यैव कातरतरः स गजासुरोऽभूत्' ।। श्री०च०, ५।१४-१५

३- महापु०, का० ख०, अध्याय ६८

४- 'भूतिमातनोतु वधतादघानि स शूलिनो नेत्रपावको वः।
धूमानभिज्ञोऽपि रतिलोचनयोरश्रुकारः' ।। श्री०च०, १।२

:भगनेत्रहविर्भुज के द्वारा स्वपति काम के भस्म कर दिए जाने पर रति करुण अनु-वर्षा करने लगी :।

:"पार्वती-परिणय के अवसर पर क्रुद्ध होकर शिवजी के द्वारा तृतीय नेत्र से देखा जाकर काम क्षणमात्र में ही भस्म हो गया था"[1]:।

गजमुखगणेश जी - "विविध विघ्नों के प्रागभावस्वरूप श्री गजमुख गणेशजी आपको परम समृद्धि प्रदान करें। सिन्दूर से अवलिप्त तथा निःसृत-दानवारि से उनका मुख मानो साक्षात् महोत्सव ही है"[2]।

"जिनका एक दान्त सिन्दूरावलिप्त होकर संध्याचन्द्र की शोभा को धारण करता है, मानो वह मोहतम को दूर करने के लिए उद्यत हो रहा हो, ऐसे वे एकदन्त गजानन आपको सुख दें"[3]।

":क्रोध के कारण: गण्डस्थल से चतुर्दिक् विकीरित होते हुए स्वेदबिन्दु, बिना स्नानकालिक जलप्रक्षेप के भी, शुण्डोत्क्षिप्त जलबिन्दु-से लगते थे"[4]।

"स्वसैन्य के अग्रणी विघ्ननाशक गणेश तो और भी विघ्नकारक हो गए, क्योंकि उनके दानवारिपंक में फिसल-फिसल कर अनेकों सैनिक गिर-गिर पड़ते थे"[5]।

१- "निरीक्षितस्तृतीयेन चक्षुषा परमेष्ठिना ।
मदनस्तत्क्षणादेवज्वालामालाकुलोऽभवत्" ।। स्क० पु०, १।२१।७३

२- "स प्रागभावो घनविघ्नजातैः स्फातैः परं यच्छतु वो गजास्यः ।
सिन्दूरमुद्दामदानमाननं यो महोत्सवं मूर्तमिव व्यनक्ति" ।। श्री०च०, १।३८

३- "यः कुम्भसिन्दूरविलिप्तदन्तच्छटा रुचां मोहतमोऽपहर्तुम् ।
बिभर्ति संध्यारुणचन्द्रलेखां सुखाय भूयात्स गजाननो वः" ।। वही, ३।३९

४- "निर्मुच्य भालफलकात्किरतो हरित्सु
स्वेदाम्भसां सरभसं कणकूटजालम् ।
नागाननस्य घटते सलिलावगाहे
केलिं विनापि करशीकरणमार्गः" ।। वही, १८।४५

५- "कृतप्राणोऽग्रग एव गच्छतामभूदनपायि मतंगजाननः ।
प्रयत्स्खलत्स्वपि पदे पदे गलद्दीर्घदानहृदपंकिले पथि" ।। वही, २१।६

स्वयं ही सिन्दूर लगाकर तथा नाच-नाच कर विविधोत्सव मना रहा हो"[1]।

"जिन-जिन शत्रुधानुष्कों ने गणेश जी पर बाणपुष्पों की वर्षा की, उन-उनके अनुसार के विघ्नों का नाश गणेशजी ने कर दिया :उन्हें मार डाला:।"[2]

"महागर्वधारी दैत्यगण गणेश को जीतने की इच्छा से उनकी ओर बढ़ने पर गजानन की सुण्डा के आतंक में सहसा ही घिर गए"[3]।

"कटकर गिरे हुए हस्तिमुण्ड से युक्त किसी दैत्य का कबन्ध अपर गणेश का भ्रम उत्पन्न कर रहा था"[4]।

"श्रवणतालवृन्तोत्थ वायु से परिस्फुरित श्रवणरन्ध्र अनायास ही शंख-जयध्वनि कर रहे थे"[5]।

"शत्रु के द्वारा मारे गए बाणों का, शीघ्रता से स्थानादि परिवर्तन करके, स्वकर्णों से वारण करते हुए गणेश जी खेटक :गोलरक्षक: का-सा उपम दिखा रहे थे"[6]।

१- "उपनतसमरोत्सवक्रिया इव वक्त्र: पटुचीनपिष्टताम्।
विघ्नानि विहताण्डव: करे परशुरशोभत विघ्नविद्विष:"॥श्री०च०, २३।१५

२- "विशिखकुसुमवृष्टिभि: पुर: करिवदनाय किरन्त्यर्चकाम्।
भिदिस्फुटपुरप्रवेशनं व्यतनुत विघ्नहतिं प्रभुष्यताम्"॥ वही, २३।१६

३- "द्विरदवदने जिगीषया विषमतमा कृतान्तदोर्गमा:।
उपरिकरघटाकटान्ता दितिजभटा: सहसैव जज्ञिरे"॥ वही, २३।१७

४- "पतितमपि कबन्धमुच्चलत्करितदन्तिकनुङ्गवं शिर:।
अपि दितिजकलं भ्रमैरपरगणाधिपसंशयं दधौ"॥ वही, २३।२२

५- "श्रवणपुटविवर्तनानिलप्रसृतसुषिरकुहराभिन्नत:।
द्विरदवदनस्य पप्रथे स्वयमशङ्खनिनादनम्"॥ वही, २३।२३

६- "मुहुररिविशिखान्यरीक्षया प्रसभागतकेलिशालिना।
श्रवणपुटयुगेन खेटकक्रममुख्यवदने विनायक:"॥ वही, २३।३१

पड़ा था । उसी समय भगवान् ने स्वमहिमा को प्रकट करते हुए उस पतित लिङ्ग को विस्तार दिया । जो सर्वथा आश्चर्यजनक था"[1]।

<u>कुमार स्कन्द</u> - असुरराज तारक के वधकर्ता कुमार स्कन्द का जन्म अग्नि, शर, गंगा तथा षण्मातृकाओं आदि कई दिव्ययोनियों में वास करके हुआ था । श्री० च० में कुमार का जन्म इन विविध योनियों से होता हुआ, प्रसंगानुकूल यत्रतत्र, दिखाया गया है । सर्वप्रथम अग्नि से जन्म होने का वर्णन देखिए-

:<u>शिखिभू</u>: - "अग्नि से उत्पन्न होने वाले कुमार स्कन्द का मुख-मण्डल, क्रोध के कारण, लाल हो उठा, धुएं-सी काली उनकी भौहें ऊपर आकाश में फैल गईं, मानो अग्नि से उत्पन्न होने के कारण ही उनमें विद्यमान अग्नि के गुण-ज्वाला तथा धूम का विसर्पण, स्वभावतः ही प्रकट हो रहे हों"[2]।

"समित् :युद्ध: की प्राप्ति से प्रसन्न, अत्यन्त क्रोध से पूर्ण तथा रक्त-रंजित तलवार की आभातरंगों से शोभित 'अग्निभू' ने स्वोत्पादक अग्नि की ही तुलना को प्राप्त किया । अग्नि भी समित् :ईंधन: की प्राप्ति से प्रदीप्त, दाहयुक्त तथा रक्तज्वालाओं से युक्त होती है"[3]।

: "मनोवांछा की तृप्ति के पश्चात् शिव जी ने स्ववीर्य को पृथ्वी पर

१- "भूमिप्राप्तं च तल्लिङ्गं ववृधे तरसा महत्" ।। स्क० पु०, १।६।२५

"विष्णुर्गतो हि पातालं ब्रह्मा स्वर्जगाम ह" । वही, १।६।३४

---- "यस्मात्लीनं जगत्सर्वं तस्मिंल्लिङ्गे महात्मनः" ।।

"तस्माल्लिङ्गमित्येवं प्रवदन्ति मनीषिणः" ।। वही, १।६।२९-३०

२- "ताम्रीभवन्मुखततिर्विततोज्ज्वलान-

धूम्रभ्रूलहरीनिकरालिताशः ।

तापं किमप्यनुरनिशरिपुर्बभार

तत्र स्वकारणगुणानुगुणामवस्थाम्" ।।श्री०च०, १८।४८

३- "सम्मित्प्रलम्भमुदितोऽत्यन्तविधूतो भस्मरः स्ववर्णाणि ।

निस्त्रिंशभित्तिरासीदग्निर्भूरक्तलोचनैरिवारुणा" ।। वही, २३।२८

गिरा दिया। देवों के उपरोध से अग्नि ने कपोती के रूप में होकर वह वीर्य खा लिया। अन्ततोगत्वा वह वीर्य षड्मातृकाओं को प्राप्त हुआ[1]।

:शरभ्र: - "शक्ति के एकमात्र अधिष्ठान, सर्पवैरी स्वमयूर पर सवार मुकुन्द की उपमावाले कुमार स्कन्द आप :शिवजी: की सेवा के लिए द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं। देवसेना के द्वारा उन्होंने तारकासुर की राज्यसीमाओं का उल्लंघन किया था। उस समय वे रणोल्लास से अत्यन्त प्रचण्ड दीखते थे। :कृष्णपक्ष: - स्वचरण से देवगंगा को प्रकट करके तारकस्थल में प्रवाहित करने वाले और भुजंगवैरी गरुड पर सवार कृष्ण (के समान---------- स्कन्द)[2]।

"तुमुल मेघध्वनि के समान भेरीनाद को सुनकर स्ववाहन मयूर के नाच उठने पर 'शरभ्र' ने आसनस्थैर्य के कौशलविशेष को व्यक्त किया"[3]।

"शत्रुओं के चलाए हुए स्वाच्छादक बाणव्रात को छिन्नभिन्न करके प्रकट होते हुए 'शरभ्र' ऐसे प्रतीत हुए कि मानो वे पुनरपि शरवण से उद्भूत हो रहे हों"[4]।

१- "यज्जातं तज्जातमेव प्रस्तुतं शृणुतामरा: ।
शिरनतस्खलितं वीर्यं को गृहीष्यति मे:पुना ।
तद्गृह्णीयादिति क्षिप्राच्यपातयामास तद्भुवि ।
अग्निर्भूत्वा कपोती तु प्रेरितस्सर्वनिर्जरै: ।।
अभक्षयच्चाम्ववीर्यंच्चात्तु निखिलं तदा ।
एतस्मिन्नन्तरे तत्रागगाम गिरजा मुने" ।। शिवपु०, २।४।२।६-११
तथा "कृत्तिका ददौ प्रीत्यामभाशंकितस्कनवे", वही, २।४।५।४५

२- "यः प्रोल्लंघयति स्म तारकपुरं स्वर्वाहिनीनिर्मि-
प्राचण्डेन निरन्तरेन च रणोल्लासेन शक्त्येकभू: ।
आरूढ: स भुजंगवैरिणमयं त्वद्वारि पारिप्लव:
सेवावाप्तिधिया स्थितिं वितनुते स्कन्दो मुकुन्दो यथा" ।।श्री०च०, १६।३५

३- "प्रायेण भेरीप्रभवेन ध्वनिः स्फुटोर्मिभिर्नृत्यति वाहबर्हिणि ।
उपाददाहार्य: शरभ्रराजोऽप्यस्मासनस्थैर्यविशेषकौशलम्" ।। वही, २१।५

४- "चतुरस्रतया निरस्य तानरिनिक्षिप्तबाणनिवहान् ।
प्रकटीभवन्नुरग्निभ्रराजशरवणतः पुनरुद्भवन्निव" ।। वही, २३।२१

:शरोत्पत्ति: - "शिव का वह वीर्य गंगा के लिए भी दु:सह्या । अत: गंगातरंगों के द्वारा वह :वीर्य: शरस्तम्भों में फेंक दिया गया । वहां पर गिरा हुआ वह वीर्य शीघ्र ही बालक रूप हो गया । वह बालक शुभसुन्दर, श्रीमान् तेजस्वी और प्रीति को बढ़ाने वाला था"[१] ।

:सेनानी: - "जिन देवसेनानी कुमार ने दैत्यों की स्त्रियों के अश्रुओं की वर्षा मानो स्ववाहन मयूर की प्रसन्नता-मात्र के विचार से ही कराई हो और मल्लयुद्ध में जो परशुराम को भी विजय करने वाले हैं, वे शंकरसुतस्कन्द प्रजा का सुख-संवर्धन करें"[२] ।

"कुमारावस्था में जो :वयसि: दीर्घायु की स्थिति को प्राप्त कर रहे हैं :विरोध:, कुमार जो मयूर :वयसि: पक्षी पर स्थिति- आरूढ़त्व को प्राप्त हैं :विरोधशान्ति: वे ऐसे विशाख, कल्पवृक्ष के समान, आपको शताशरद आयुष्य प्रदान करें :विशाख शताशरद आयुष्य दें, विरोध:, विशाख- कुमार स्कन्द आपको शतायु करें"[३] :विरोधशान्ति: ।

: तारकासुर की इच्छा थी कि उसे एकमात्र शिव का पुत्र ही मार सके, अन्य कोई नहीं[४] । उसकी यह इच्छा शिवकुमार स्कन्द ने, उसे मार कर, पूरी की थी"[५]

१- "गंगायामपि च तद्वीर्यं दु:सहं परमात्मन: ।
निक्षिप्तं हि शरस्तम्भे तरंगैर्गिरिजे स्वरा ।
पतितं तत्क्षणात्तु बालोऽभवद् ।
सुन्दरस्सुभग: श्रीमांस्तेजस्वी प्रतिवर्द्धन: " ।। शि०पु०, २।४।३।६६-६७

२- "यो दैत्ययोषिज्जनवाष्पवर्षं स्ववाहिनस्येव मुदे चकार ।
स ज्येष्ठमल्लो भृगुनन्दनस्य स्कन्द: सुखं वर्धयतु प्रजानाम् "।। श्री०च०, १।४१

२- "कुमारभावेऽपि जगत्प्रतीतो य: संप्रयातो वयसि प्रतिष्ठाम् ।
स वांछितार्थं/कल्पवृक्षो दिश्याद्विशाख: शताशरमायु: "।।वही, १।४२

३- "शिववीर्यसमुत्पन्न: पुत्र: सेनापतिर्यदा-
भूत्वाशस्त्रं विपेन्मह्यं तदा मे मरणंभवेत्" ।। शि० पु०, २।३।१६।४१

४- "कुमारेणाधुनासौऽपि विक्षिप्तस्तु तारक: ।
तयं यथा च तथैव सर्वेषां पश्यतो मुने" ।। वही, २।५।१०।३२

नन्दी :वाहन: - "साधारणतया भी मात्र स्वखुरन्यास से विश्व को स्वर्ण-मय बनानेवाला उनका अपना वाहन वृषभ भी बड़े क्लेश के साथ भी जो मात्र ७ दिन तक ही मरुत के प्रति स्वर्णवर्षा कर सके थे, ऐसे जिन शिव जी का अति-क्रमण कर जाता है, वे---- शिव जी ----। :शिवजी की कृपा से उनका वृषभ भी पृथ्वी को स्वर्णमयी बना देता है:।

"अपने दान्तों की प्रभा से कान्त को केतकपुष्परज:प्रकरमय बनाते हुए, भगवान् के सम्मुख, शिलादनन्दन नन्दी के द्वारा वस्तुत स्पष्ट रूप से कहा गया"।[2]

"सर्वप्रथम सूर्य ने दक्षिण दिशा का आश्रयण किया और मरुत ने उत्तरदिशा की प्रणयिता स्वीकार की। लेकिन अब खिलते कुन्दों की सुगन्धिवाला यह वसन्त उन दोनों- सूर्यपवन-की दिशाओं :नायिकाओं: का विनिमय करवा देता है।[3] :वसन्त में सूर्य उत्तरायण का हो चलता है और दक्षिण का मलयपवन बहने लगता है:।

"निश्चलभाव से अपने झुके हुए शिरों के द्वारा स्वविनम्रता व्यंजित करते हुए प्रवेशेच्छुदेवगण, बड़ी अवज्ञा के साथ, शिलादनन्दन के द्वारा सूचित किए गए"।[4]

१- "शश्वत्सुमेरुचरणार्पणमात्रकेण
कुर्वञ्जगज्ज्वलितनिर्मलजातरूपम् ।
क्लेशेन सप्तदिवसानि सुवर्णवर्षं
यं कुर्वन्तमपि वाहवृषोऽतिशेते" ।। श्री० च०, ५।३३।

२- "मकुलनयना रदांशुकान्तैरभिनवकेतकधूलिधूसरेणाम् ।
भगवदभिमुखं स्फुरयेत्थं विकस्वराणि शिलादनन्दनेन ।। वही, ।७।४५

३- "प्राग्दक्षिणां दिशमशिश्रियदुष्णरश्मि-
रभ्यग्रहीत्प्रणयितां मरुदुत्तरस्याः ।
उन्निद्रकुन्दसुरभिश्च तयोरिदानी-
मन्योन्यदिग्विनिमयं समयः करोति" ।। वही ७।५०

४- "प्राविशन्नथ सकैरवैकतैर्व्यञ्जितां विनयविनम्रतां शिरोभिः ।
सर्वेऽपि त्रिदिवसदो निवेद्यमानाः सावज्ञं किमपि शिलादनन्दनेन" ।।वही, १७।१४

:नन्दी ने, अवज्ञा के साथ, देवों के आगमन की सूचना शिवजी को दी :।

'शिलादमुनि के पुत्र नन्दी वाहन वृषभ थे। उन्हें अनेकों वर प्राप्त थे। वे गणों के अग्रणी थे।[1] परन्तु, द्वारपाल नन्दी शिराजमाण्टि के पुत्र थे।[2] पर, कवि ने दोनों नन्दियों के व्यक्तित्व को एकाकार कर दिया है। शिलाद-नन्दन वृषभ ही वाहन, पर्यटन में नर्मसचिव, ताण्डनृत्य में मृदंगवादक, शयन-कालमें द्वारपाल तथा अन्यत्र गणाग्रणी आदि के रूपों में, कवि के द्वारा, यत्र-तत्र उल्लिखित हुए हैं :।

<u>सखा कुबेर</u> - 'जिन कुबेर ने पृथ्वी के अन्दर असंख्य स्वर्णघट रख छोड़े हैं, वे, उन घटों की रक्षा के निमित्त, क्रीड़ा के लिए विचरण करते हुए, उन पर स्वरक्तपादों के चरणन्यास के व्याज से सिन्दूरमुद्रा का न्यास करते हैं। ऐसे वे कुबेर, हे रुद्र! देखिए, नीचा मुंह करके आपकी स्तुति कर रहे हैं'।[3]

पृथ्वी ही नहीं, आकाश में भी क्रमशः स्वर्णकलश स्थापित कर रक्खे हैं--

'प्रतिदिन स्वर्ग में आना-जाना करते समय पुष्पक विमान के बहुत ऊंचा उड़ने पर, उसमें लगी हुई बड़ी भारी सुवर्णघटिका की लालिमा के व्याज से जो

1- 'ततः प्रसन्नो भगवान्देवैः परिवृतो हरः। वरदोऽस्मीति तं प्राह शिलादं मुनिपुंगवम्'।। शि०पु० ३।६।२८

'महेशाद्विसृष्टोऽपि दिव्यदिवाकरदर्शने। उवाचामित्र त्वद्दृश्यं सुतं त्वद्दीनमस्मान्निजम्'।। वही, ३।६।३१

'तवपुत्रो भविष्यामि नन्दीनाम्ना यो निजः। पिता भविष्यसि मम पितुर्वै जगतां मुने'।। वही, ३।६।३४

'नन्दीश्वरोऽयं पुत्रोऽयं वैकामी स्वरेश्वरः। प्रियो गणाग्रणीस्सर्वैः क्रियतां वचनं मम'।

'सर्वेप्रीत्याभिषेचनं गणानां गणपतिं। अद्यप्रभृति युष्माकमयं नन्दीश्वरः प्रभुः'।। वही ३।७।३१-३२

2- '---------- वाराणस्यां प्राह शंकरः।
माऽस्थेयमत्र वार्यो मा स्मदूता परान्क्रमः।
वंशस्य तस्य वंशस्य समुद्भवो भविष्यति'।। स्कन्द पु०, १।२।४०।६
'त्वं नन्दी द्वितीयो मे प्रतीहारी भविष्यसि'।। वही, १।२।४०।१२८

3- 'योऽन्तर्न्यस्तानवनिनिधिकुम्भान्धनाढ्यः
क्रोडे क्रीडाविहरणकणः शोणपादाङ्कुशैः।
रक्षाहेतोरिव रचयति न्यस्तसिन्दूरमुद्रां
स द्रागद्राक्षकवदनस्त्वां कुबेरः स्तवीति'।। श्री०च०, १६।६०

और, पाताल की भाँति ही, आकाश में भी, निधानघटों की परम्परा-सी दिखा देते हैं, हे शेष का शरधारण करने वाले। आपके वे सखा कुबेर आपकी सेवा की प्रतीक्षा कर रहे हैं[1]।

'किंपुरुषाधिराज कुबेर, शिव जी के पृथ्वीरथ के वाहन घोड़ों में से एक घोड़े का स्वरूप धारण करने पर, अपनी अश्वमुखियों के द्वारा, आंखों को यथेच्छ विस्तार देकर, देखे गए[2]। :अश्वमुखी स्त्रियों ने अश्वमुख कुबेर को बड़े कौतूहल के साथ देखा':।

:'भगवान् शिव ने कुबेर की तपस्या से प्रसन्न होकर उनको निधियों का स्वामित्व, गुह्यकों का आधिपत्य, यक्ष-किन्नरों का राजराजेश्वरत्व, पुण्यात्माओं को धनदातृत्व, स्वयं भगवान् आशुतोष से नित्य मित्रत्व और कुबेरपुरी अलका के निकट, प्रीति के अभिवृद्ध्यर्थ, भगवान् का नित्य निवास प्रभृति वरदान दिए थे[3]:।

ब्रह्मा - 'भगवान् विष्णु की नाभि में, प्रलयकाल में, स्थित, समस्त सृष्टि का निर्माण रहस्य अवगत करके जो ब्रह्माजी, क्रीडारूप में ही,

---

१- 'स्वर्लोकाक्रमणक्रियास्वनुदिनं दूरोत्पतत्पुष्पक-
प्रान्तप्रोतवृहत्सुवर्णघटिकासांकट्यमुट्टंकयन् ।
यः पातालवदम्बरेऽपि तनुते कुम्भैर्निधीनामिव
श्रेणीं शेषविलासधार स पुरः सेवोन्मुखस्ते सखा'।।श्री०क०, १६।४१

२- 'दृष्टांशकूलैश्रवणान्तगैस्तैर्विलोचनैरश्वमुखीजनेन ।
महेश्वरस्यन्दनधुर्यतायै हयाकृतिः किंपुरुषाधिराजः'।। वही, २०।२१

३- 'वरान्ददामि ते वत्स तपसानेन तोषितः ।
निधीनामथनाथत्वं गुह्यकानां महेश्वरः ।।
यक्षाणां किन्नराणां च राजांराजा च सुव्रत ।
पतिः पुण्यजनानां च सर्वेषां धनदोभव ।।
मया सख्यं च ते नित्यं वत्स्यामि चतवान्तिके ।
अलकां निकषा मित्रं तथा प्रीतिविवृद्धये ।। शि० पु०, २।२०।२४-२६

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण कर डालते हैं, वे पद्मभू आपकी रक्षा करें[1]। :ब्रह्मा जी का जन्म विष्णु के नाभिकमल से हुआ है। प्रलयकाल में समस्त सृष्टि कारणरूप में, विष्णु के उदर में लीन रहती है। वहीं पर, पूर्व से ही स्थित, ब्रह्मा जी समस्त सृष्टि-रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और फिर नाभिकमल से उत्पन्न होकर, सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण अनायास ही कर डालते हैं :।

"वे शिव जी आपकी रक्षा करें कि जिनके शिर पर सुरसरिता की शुभ्र फेनमाला शोभा पाती है। ज्ञात होता है कि मानों ब्रह्मा के पंचम शिर की सेवा के निमित्त यह :फेनमाला: आई हुई बालचन्द्रमाला है"[2]। :भगवान् रुद्र ने ब्रह्मा का शिर काट कर स्वमुण्डमाला में धारण कर लिया था :।

"हे शिव। देखिए यह, भक्तियुक्त और हाथ जोड़े हुए, यशस्वी त्रयी-कवि ब्रह्मा जी आपकी स्तुति कर रहे हैं। :पार्वती के वाहन सिंह की केश-विभूति से आकर्षित: मेघों की गर्जनध्वनि से चंचल उनके वाहनहंस उन्हें विक्षुब्ध बना रहे हैं[3]।

"शेखरचन्द्र की निकली हुई सुधोर्मियों के सेवन से प्राप्तचेतना-सा होकर, देखिए। यह ब्रह्मा का पांचवां शिर अपने :ब्रह्मा के: अन्य चार शिरों से कुछ :वार्तादि: पूछ-सा रहा है"[4]।

१- "मुकुन्दकुक्षेः कुहराभिमृष्टसमस्तभूतान्तरवान्तमात्रम्।
यो वेदयैवाखिलविश्वसृष्टिमुन्मीलयत्यब्जभवः स वोऽव्यात्" ।।भी०च०, १।२५

२- "स वोऽवताद्धर्जटिर्मूर्ध्नि सुसिन्धुडिण्डीरपिण्डावलिराचकास्ति।
प्राप्तेव वैरिंचकपालमुच्चैर्निषेवितुं बालचन्द्रपंक्तिः" ।। वही, १।१४

३- "भक्त्यांचितं च घटिताञ्जलिसंपुटं च
त्वां स्तौति स त्रयकविर्भगवन्यशोभिः।
वाचा त्रयीकविरयं विरमन्तुहंसां
जीमूतगर्जितजिता रथराजहंसान्" ।। वही १४।३१

४- "निःष्यन्दमानमुकुटेन्दुसुधोर्मिसिक्त-
लब्धप्रबोधमिव पश्य पुरोऽधुना ते।
पञ्चाननस्य भव पश्य किरीटवर्ति
पृच्छत्परं कमपि पंचमुखाग्रमेतत्" ।। वही, १४।३२

त्रिपुर को वर प्रदान करने वाले ब्रह्म ने भगवान् से, स्वयं ही, दैत्यत्रय को मारने के लिए इस प्रकार प्रार्थना की --

"शरीरताप, खाने-पीने की रुचि का नष्ट हो जाना तथा अन्य शारीरिक पीड़ाएं, कुपित होकर वे तीनों दैत्य, दुःसह सन्निपात की प्रकुपित धातुत्रय :कफवातपित्त: की भाँति, समस्त ब्रह्माण्ड को दे रहे हैं। उनका एकमात्र उपाय, हे शिव! केवल आपकी दयादृष्टि ही हो सकती है[1]। :त्रिधसन्निपात ज्वर में ताप, रुचिक्लान्ति तथा विविध शारीरिक पीड़ाएं होती हैं। सन्निपाताक्रान्त रोगी कठिनता से अच्छा होता है:।

"त्रिपुरारि के उस रथ ने भला किसके मन में कौतूहल उत्पन्न नहीं किया कि जिसके सारथी चतुर्मुख ब्रह्मा जी भी, चारघोड़ोंवाले उस रथ का सारथीत्व वहन करने का गर्व धारण कर रहे थे[2]। :प्रत्येक अश्व का नियन्त्रण अपने एक-एक शिर से कर रहे थे:।

अब्जम् - "भगवान् विष्णु ने एक नाभिकमल उत्पन्न किया। उसमें से ब्रह्मा को उत्पन्न किया[3]।

१- "तापं रुचिक्लान्तिमथो विविधाश्च पीडा
 विश्वस्य धातव इवोत्कुपितास्त्रयस्ते।
 आतन्वते सपदि दुःसहसंनिपाते
 तस्मिन्भिषक् यदि परं भवत्प्रसादः" ॥ श्री० च०, १७।६३

२- "कौतूहलं मनसि कस्य न स व्यधत
 यस्मिन्पुरो भगवतः पुरशासनस्य।
 गर्व चतुर्वदनताफ्रिमेष धुर्य-
 धातीव सारथिरपि प्रथमांचकार" ॥ वही, २०।६२

३- "पद्मनाभमुखमंबैक समुत्पादितवांस्तथा।
 सप्तपर्णं विश्वनाभ्याकारं हिरण्मयम्" ॥ शिवपु०, १६८।१५
 "अथ्यानुष्ठां मेष्ठमनुवद् गुरि तेजसं।
 स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम्" ॥ वही, १६९।१

श्रुतिप्रवर्तित्व - "ब्रह्मा अपने प्रथम मुख से सामवेद, द्वितीय से ऋग्वेद, तृतीय से यजुर्वेद, चतुर्थ से अथर्ववेद तथा पंचम से वेदांगेतिहास तथा उपनिषदादि का प्रवर्तन-धारण करते हैं"[1]।

शिरःकर्तन - "ब्रह्मा-विष्णु में श्रेष्ठत्व की प्रतिस्पर्धा हो गई। वेदों ने साक्ष्य दिया कि सर्वश्रेष्ठ तो शिव हैं। शिव के प्रकट होने पर ब्रह्मा ने उन्हें 'पुत्र' कहकर सम्बोधित किया। इस पर शिव जी ने उनका पांचवां शिर काट लिया"[2]।

कपालधारण - "ब्रह्मा का शिर काट कर तत्कपाल के धारण करने के कारण ही शिव जी 'कपाली' कहे जाते हैं"[3]।

विष्णु - "५२ अंगुल की आकृति, श्याम वर्ण तथा कौमोदकी गदा को धारण किए हुए विष्णु सदा ही स्तुत्य हैं। वे स्वपरायण भक्तों को मुक्त करके अपने में लीन कर लिया करते हैं। :श्लेषार्थ: बौना शरीर, कालावर्ण और विविध रोग या कुविचारों को धारण करने वाले दैत्य की आकृति वाले विष्णु सदा स्तुत्य हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयं सदा स्मरण :भय के कारण:

१- "एवं मूढः स पंचास्यो विरंचोऽभवद् दर्पितः।
प्राग्वक्त्रं सुस्वरं तस्य सामवेद प्रवर्तकम् ॥
द्वितीयं वदनं तस्य ऋग्वेदस्य प्रवर्तकम्।
यजुर्वेदपरं चान्यदथर्वास्यं चतुर्थकम् ॥
सांगोपांगेतिहासांश्च सरहस्यान्ससंग्रहान्।
वेदानधीतेवक्त्रेण पंचमेनोर्ध्वसुखा" ॥ स्क०पु०, ५।१।२।३७-३९

२- "एवं विप्रवृत्तो मोहात्परस्परजयैषिणो।
प्रोचतुः निगमांस्तत्र प्रमाणे सर्वथा तनौ" ॥शि०पु०, ३।८।१९
"यदन्तःस्थानि भूतानि यतः सर्वं प्रवर्तते।
यदाहुः परमं तत्त्वं स रुद्रस्त्वेक हि" ॥ वही, ३।८।२५
—— "मामेव शरणं याहि पुत्र रक्षां करोमि ते" ॥ वही, ३।८।४३
"ततोऽन्यदान्यदुत्थाय तत्क्षणात् कालभैरवः।
वामांगुलिनखाग्रेण चकर्त्त विधेः शिरः" ॥
"यदंगमपराध्नोति कार्यं तस्यैव शासनम्।
अतो येन कृता निन्दा तच्छिन्नं पंचमं शिरः" ॥वही, ३।८।५२-५३

३- "छिन्नब्रह्मशिरो यस्मात्कपालं च बिभर्षि यत्।
तेन देव कपाली त्वं स्तुतोऽस्माभिः प्रसीद नः" ॥ स्क० पु०, ५।१।२।७४

करने वाले दैत्यलोक को युद्ध में मार कर अपने में लीन कर लिया'[1]।

'कनमेघविद्युत्प्रभाओं के समान आभावाली कौस्तुभरश्मियों को धारण करने वाले तथा पांचजन्यशंख के सुखदायक विष्णु आपको सुधाकणों से सिंचित करें'[2]। :मेघ में विद्युत्प्रकाश के बाद वर्षा होती है। उससे शरीरादि भीग जाया करते हैं:।

:कवि ने 'हरिकेशपादपयोगाद्' 'कनमेघविद्युत्' तथा 'कैशाभिताड्च्युत-विद्युदोघ' आदि प्रयोग कई बार किए हैं। आधुनिक विज्ञान भी यही तथ्य बालों पर कंघा केसों से चिनगारियां उठाकर करता है। पर 'पयोद' या 'मेघ' का बालों से सम्बन्ध कवि कल्पना प्रतीत होता है:।

'भगवान् श्रीकृष्ण की श्यामा- रात्रि के समान श्यामवर्णवाली आकृति, कि जो चक्रपटला- चक्राकमिथुन के समान सुदर्शनचक्र से युक्त है, मधु- वसन्त की अभिवृद्धि के समान मधुदैत्य के घातित युद्ध में भी हीनता को प्राप्त नहीं होती, द्विजराज- चन्द्र की आयासता के समान स्वनाम गरुड की गतिमयता का हेतु है, त्रिजगती को सुखज्ञान देनेवाली है, कैरव- कुमुदों :कौरवों: की संकोचकर्त्री के समान कैरव अवसाद: किसी के द्वारा दु:स्वप्नावस्था में नहीं देखी गई और जो परम अद्भुत है। वह आपके मुख-कमलों के उल्लास का हेतु होवे'[3]।

१- 'स्तुत्यो हरिर्वामिककपशोभं श्यामं वपुर्निगदं दधान: ।
येनान्धकध्वान्तहर: सशोभमानाऽपि सायुज्यमिवारितोक:' ।।श्री०च०, १।२८

२- 'कैशाभिताड्च्युतविद्युदोघसदीप्तकौस्तुभरश्मिरेखा: ।
सशङ्ख: सिंचतु पांचजन्यनादिनो व: पृषती: सुधाया:' ।। वही, १।३१

३- 'या नित्यं क्रममाणचक्रपटला या शिशिरपवनाम्बरा
न क्वापि मधोरयोग विकरी पत्युर्द्विजानां च या ।
दृष्टा कैरवसादकृत्किमता वापि विशान्त्यद्भुत-
श्यामा सा तनुरच्युतस्य कमलोल्लासाय वो जायताम्' ।। वही, १।४५

"स्वांगों में जलधार को धारण करने वाले विष्णु के द्वारा मत्स्यावतार ग्रहण किया गया, उन्होंने ही क्रमभाव से कूर्मावतार भी धारण किया। हे चन्द्रचूड़ ! देखिए वे आनन्ददाता नारायण, आरातिकुल का नाश करके, आपकी चरणानति कर रहे हैं"[1]।

"नाभिकुहर में प्रतिबिम्बित पूर्णचन्द्र के द्वारा तो तुम भगवान् विष्णु की मोहिनी आकृति की समता करती हो। मोहिनीस्वरूप में उन्होंने स्वनाभिकमल को संकुचित कर लिया था : और तुम्हारी नाभि में प्रतिबिम्बित चन्द्र ही सिताम्भोज है :"[2]।

"गौरी को मनाने के लिए उनके चरणों में गिरे हुए शिव जी की शिरस्थ गंगा के जल में पार्वती के पादनखसिंह का प्रतिबिंब पड़ने से प्रतिबिम्बित मूर्धसिंह के द्वारा, लगता है कि, शिव जी विष्णु का गर्व दूर करने के लिए, क्रीडापूर्वक 'नरसिंह' स्वरूप को धारण कर रहे हैं"[3]।

"दैत्यस्त्रियों की आंखों के अंजनांश से ही मानो जिसने श्यामलिमा प्राप्त कर रखी है तथा जो शेष की नीलोत्पलकण्ठमाला में इन्द्रनीलमणि-सा शोभा पाता है वह कौस्तुभधारी आपकी रक्षा करे"[4]।

१- येनांगेषु जलधरं कृतवता नीत्वा श्रियं मत्स्यता
 गृह्णानेन क्रमान्तरं भववतीं कूर्मीकृतो विग्रहः ।
 सो ऽयं कौतुककन्दलीजनयिता चन्द्रार्धचूड़ध्वज-
 ध्वस्ताराति कुलो ऽपि ते चरणयोर्नारायणो लीयते ।। श्री०च०, १४।३४

२- परिणतिशुभ्रमुखा तुषारद्युतिबिम्बपादेन्दुमध्यलम्बितेन ।
 अनुहरसि हरेः पुरंध्रिमूर्तिं पिहितकोकनदनाभिपुण्डरीकाम् ।। वही, ११।१६

३- गौर्या नतस्वचरणार्पितकुन्तलाग्रे
 संक्रान्तपादनखचन्द्रमुखस्यबिन्दु ।
 यः प्रौढिमेति गुरुगर्वहराय विष्णोः
 रूपं स्वमनुहरन्निव नारसिंहम् ।। वही, ४।३८

४- ~~[illegible]~~
 ~~[illegible]~~
 दैत्येन्द्रनारीनयनाञ्जनौघैरिवाप्तश्यामलिमा यः ।
 शेषस्य नीलोत्पलमालिकात्वं कल्याणकृतो ऽस्तु स कौस्तुभांकः ।। वही, १।२९

प्रयत्नपूर्वक सूर्य का आश्रयण :ग्रहण: करके भी क्या राहु देवत्व को पा सका है ?[1]

"हे सुधाकर ! क्या तुम स्वकलंककालिमा के रूप में महाविष कालकूट को ही धारण तो नहीं कर रहे हो ? क्योंकि राहु तुम्हें ग्रस कर भी पुनः क्यों छोड़ देता है ?[2] :कालिमा कालकूट इसलिए है कि वह उन्हें: जलाए देती है । ग्रास से रक्षित रह जाने का दुःख इसलिए है कि न छूटने पर विरहिणियों को चन्द्र की विषमय ज्योत्स्ना से त्राण मिल जाता है ।

"हे विष्णु भगवान् ! दयाकर पुनः राहु को पूर्णांग बना दीजिए कि उस :राहु: के पेट में गया हुआ :ग्रसित: यह चन्द्र पुनः इन विरहिणियों को दुःख न दे पाता"[3] ।

:देवगण अमरत्व की कामना से अमृतपान कर रहे थे । तब देवरूप में असुर राहु भी अमृत पीने लगा । जब अमृत उस दानव के कण्ठ में पहुंचा, तभी, देवों की हितकामना से, सूर्यचन्द्र के द्वारा, इसकी सूचना देवों को दी गई । तत्क्षण ही भगवान् विष्णु के द्वारा अमृतपान करते हुए राहु का शिर चक्र से काट डाला गया । तभी से अपने वैर का बदला लेने के लिए राहु चन्द्र और सूर्य को समय-समय पर ग्रास किया करता है:।[4]

१- "सदैव सत्संगमसंमुखोऽपि खलः स्वकर्म न जहाति जातु ।
कृत्वापि सूर्याश्रयणं प्रयत्नाद्राहुरपि: किं विबुधत्वयोगम्" ।।भी०च०, २।३

२- "कालकूटमकृतापि निहन्तुं हन्त मो वहसि लांछनमंगया ।
यद्भयादिव निगीर्णमपि त्वामाशु मुंचति सुधाकर राहुः" ।।वही, ११।५६

३- "पद्मनाभ करुणां कुरु पूर्णाकृतेन परिपूर्य राहुम् ।
येन कण्ठरकोटरशायी आत्मयं विधुरयेन्न विधुः" ।। वही, ११।६१

४- "ततः पिबत्सु तत्कालं देवेष्वमृतमीप्सितम् ।
राहुर्विबुधरूपेण दानवोऽप्यपिबत्तदा ।।
तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा ।
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ।।
ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ।।
ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै ।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्यापि बाधते" ।। शि० पु०, २५१।१२-१६

'पूर्णचन्द्रोदय होने पर समुद्र में बाढ़ ज्वार की उछालतरंगों के साथ-साथ अनेकानेक मुक्तारत्न भी आकाश में बिखर गए । उन मुक्तारत्नोंरूपी ताराओं को देखकर दक्ष की कन्याएं सतत क्रुद्ध हो गईं कि यह चन्द्र इन अन्य तारिकाओं से भी सम्बन्ध रखता है'[1]।

: दक्षप्रजापति ने रोहिणीप्रभृति अपनी अट्ठाइस कन्याओं का विवाह चन्द्रमा से कर दिया । चन्द्रमा को रोहिणी से विशेष अनुराग हो गया । उसने अपनी अन्य सत्ताइस पत्नियों को लगभग त्याग-सा दिया । इसपर वे सब अपने पिता दक्ष के पास शिकायत लेकर गईं । दक्ष ने चन्द्रमा को बुलाकर समझा-बुझा दिया । परन्तु फिर भी चन्द्र शेष २७ पत्नियों के पास उनके ऋतुकाल में भी नहीं गया । स्वपुत्रियों के पुनः शिकायत लेकर आने पर दक्ष ने चन्द्र को शाप दिया कि उसे क्षयरोग हो जाय । बाद में देवताओं की प्रार्थना पर क्षय की अवधि प्रतिमास १५ दिन कर दी :'[2]।

<u>विश्वामित्रसृष्टि</u> - 'कामदेव ने क्या, विश्वामित्र के समान, यह कोई नवीन स्वर्गसृष्टि रची है कि जिस सृष्टिः में यह नवीन, दोलाधिरूढ़ प्रमदाओं के अपदेश से, अप्सराएं शोभा पा रही हैं'[3]। : पार्वतीजी तथा उनकी विजयादि सखियां झूला झूलने का आनन्द ले रही हैं। वस्तुतः यह साक्षात् देवियां हैं। अप्सराओं से भी ऊपर हैं। परन्तु, काव्य में दिव्य प्रकृतियों का

१- 'इन्दौ समुद्रोच्छलदूर्मिमुक्तैर्मुक्ताफलैराविरभूत् ।
दक्षस्य कन्याः शुशुचुः प्रसंगमाशंक्य तस्येतरतारकाभिः' ।। श्री०च०, १२।३७

२- 'अनेन तनया दक्षाष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
ऊढा अश्विन्यादितारास्तास्त्यक्त्वा दोषवर्जिताः
मुख्यैकां रोहिणीं देवनिषिक्तो महासुखम् ।।
ततो दक्षातिकोपेन नियुक्तो राजयक्ष्मणा ।
अतस्त्वमस्तकोऽमन्दःकामदेववशंगतः' ।। स्क० पु०, ४।८४।१८।१९

३- 'मन्येऽमुः कौशिकवद्द्वितीयं किं स्वर्गमेनं मदनस्ततान ।
दोलाधिरूढप्रमदापदेशादधिष्ठितान्यप्सरसो विरेजुः' ।। श्री०च०, ४।५६

रहा है। यहां वह ज्योत्स्नागंगा का रोमावलि यमुना से प्रयाग :संगम: सम्पादित होवे[1]।

भग्नेत्राग्नि में भस्मीभूत स्वमित्र कामदेव के उद्धार के विचार से उदीयमान तारकजलकणों के रूप में गंगाजल ही को मानो यह चन्द्रमा भूमि पर छिटक रहा है। और वह ज्योत्स्नागंगाजल भी कान्ताकचोत्थित धूपधूम के सम्पर्क से प्रयाग की शोभा को प्राप्त हो रहा है[2]। :ज्योत्स्ना गंगा और धूपधूम यमुना के समान है। दोनों :अगुरुधूमकाधाज्योत्स्ना: का सम्मिश्रण ही प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम के समान है:।

त्रिपुरारि के पूर्ण रथ में युक्त वरुण-चन्द्र-यम-कुबेर अश्वों की कुहू :अमावस्या:, सिनीवाली :कृष्णचतुर्दशी:, राका :पूर्णिमा: तथा अनुमती :कृष्णाप्रतिपदा: के द्वारा संयमनरज्जुओं का स्वत्व स्वीकार करने पर, चकोरों को कुहू से दुःख तथा राका से प्रीति प्रदान करते हुए, तमश्चन्द्रिका :कुहू-राका: का प्रयाग :संगम: उपस्थित हो गया था[3]।

: तीर्थराज प्रयाग और उसमें गंगायमुना के संगम का वर्णन सभी पुराणों में स्वाभाविक है। मत्स्यपुराण में भी सूर्यतनयायमुना का गंगा से संगम होना और उनके मध्य में स्थित परमपावन तीर्थ प्रयागराज का वर्णन बड़े

१- प्रीतेः सहांकभाजां सखा गभीर-
नाभीपथं शिशुगामि तवाभिशौ।
अत्रास्य निर्वसनंवत्रीसपंके
रोमावलीयमुनया घटतां प्रयागः॥ श्री० च०, ११।४८

२- भूरिं शीकरधोरणीरिव किरत्यादवतारस्मरा
भांसुदहनानेमिवाद्धुतिकिरा चन्द्रेण गांगं पयः।
तद् भूमितले व्रजत्वि धनज्योत्स्नाजलादव्यथ-
वत्कान्तागुरुधूपधूमलहरीयोगी त्प्रयागश्रियम्॥ वही, १२।६५

३- कुहूः सिनीवाल्यथ तत्र योक्त्रेण राकानुमती च तस्थुः।
दुदंश्च चिन्वंश्च ततश्चकोरानभूत्तमश्चन्द्रिकयोः प्रयागः॥ वही, २०।२४

विस्तार से :६ अध्यायों में: हुआ है :[१]।

: 'राका' चन्द्रमा को अत्यन्त दीप्त करने के कारण कहलाती है। जिस काल के बाद कोयल की कुहू-कुहू समाप्त हो जाती है, उस अमावस्या का नाम 'कुहू' है। चन्द्रमा के कलामात्र क्षीणत्व में 'अनुमती' :कृष्णप्रतिपदा: तथा चन्द्रमा की अत्यन्त क्षीणमात्रा के अवशेषकाल में 'सिनीवाली' :कृष्ण चतुर्दशी के पश्चात् अमावस्या का प्रथम प्रहर: तिथि होती है :[२]।

१- 'तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
यमुना गंगया सार्धं संगता लोकभाविनी ।
गंगायमुनयोर्मध्ये पृथिव्या जघनं स्मृतम् ।
प्रयागं राजशार्दूल कलां नार्हन्ति षोडशीम्' ।। म०पु०, ११०। ५-६

२- 'अत्यर्थं राजते यस्मात् पौर्णमास्यां निशाकरः ।
रंजनाच्चैव चन्द्रस्य राकेति कवयो विदुः' ।। शि०पु०, १४१। ४१

'कुहेति कोकिलेनोक्तं यस्मात्कालात्समाप्यते ।
तत्कालसंज्ञिता ह्येषा अमावस्या कुहूः स्मृता' ।। वही, १४१। ४९

'सिनीवालीप्रमाणं तु क्षीणशेषो निशाकरः
अमावस्या विशत्यर्कं सिनीवाली तदा स्मृता' ।। वही, १४१। ५०

'यस्मात्तामनुमन्यन्ते पितरो दैवतैः सह ।
तस्मादनुमतिर्नाम पूर्णत्वात् पूर्णिमा स्मृता' ।। वही, १४१। ४०

'कलाहीनेयाऽनुमतिः' तथा 'सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली', अ०को०, १। ४। ८-९

प्रकृतिनिरूपण

(Characterisation)

संस्कृत में प्रकृतियां :नायक-प्रतिनायकादि: दिव्य :लोकोत्तर:, अदिव्य :मानव गुणयुक्त:, दिव्यादिव्य :अलौकिक अवतारादि होकर भी लोकमर्यादाओं के पालनकर्ता तथा उनके निर्माता, जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्र आदि:, वीर-रौद्र-शृंगार-शान्त रसप्रधान धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त भेदों के साथ-साथ उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि की होती हैं। इनमें दिव्य या दैवीप्रकृतियों के रतिहासादि का निबन्धन अदिव्योत्तम :श्रेष्ठमानव: प्रकृति के समान किया जाता है। फिर भी दिव्यप्रकृतियों के सम्भोगशृंगार का निबन्धन काव्य में नहीं किया जाता[1]।

त्याग, सामर्थ्य, कुलीनता, समृद्धि, रूप, यौवन, उत्साह, दक्षता, सर्वप्रियता, तेजस्विता, शील तथा विदग्धता प्रभृति गुण नायकत्व के सामान्य प्रयोजक हैं[2]। धीरोदात्त नायक में, इन गुणों के अतिरिक्त भी, आत्मश्लाघा का अभाव, क्षमाशीलता, गम्भीरता, महासत्ता, स्थिरता, गूढ़मान की भावना और दृढ़प्रतिज्ञता आदि गुण विशेषरूप से होते हैं[3]।

'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य के दिव्यनायक भगवान् शिव का काव्यगत-

१- 'प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रशृंगारशान्तरसप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ताः, उत्तमाधममध्यमाश्च। रतिहास शोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि। किन्तु रतिःसम्भोगशृंगार-रूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णन-मिवात्यन्तमनुचितम्' ।। का० प्र० ७।६२ टीका।

२- 'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता' ।। सा० द०, ३।३०

३- 'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः' ।।वही, ३।३२

स्वरूप 'अविद्याअप्रकृतिक धीरोदात्तनायक' के समान होना चाहिए। कवि ने शिव जी का चरित्र काव्यानुरूप ही वर्णन किया है। साथ ही कवि ने अपने इष्टदेव शिवजी की स्तुति भी विशदरूप से की है। इस प्रकार प्रधान नायक शिवजी के स्तुतिपरक तथा व्यवहारिक दो स्वरूप श्री० च० में मिलते हैं। स्तुतियों में कवि की श्रद्धाभावना तथा व्यवहारिकस्वरूप में नायक के गुणों पर प्रकाश पड़ता है।

स्तुतिरूप में शिव जी का वर्णन 'नमस्कारवर्णन'[1], 'भगवद्वर्णन'[2] 'वैतालिकगायन'[3] एवं ब्रह्मादि के द्वारा 'भगवदाराधन'[4] में आया है।

प्रधान धीरोदात्त दिव्यनायक शिवजी :स्तुतिरूप: - 'भगवान् अर्द्धांगी का वह नेत्रशिखिप्रदीपविजयी हो कि जिसके निकट किरीटेन्दु की किरणें मात्र उस :प्रदीप: के परिवेश की शोभा धारण करती हैं। भगवान् शिवजी की वह लोचनपावक आपके पापों को नष्ट करे एवं समृद्धि को बढ़ावे कि जो, बिना धूम के भी रति के सतत् अश्रुपात का सूत्रधार बन गया। भगवान् मृड के भालस्थलीरंगस्थल में ताण्डवनृत्यकर्ता पावक आपकी रक्षा करें, उस पावकमें ही रतिपति ने स्व-शरीर को उन्मादवत्‌भस्म कर दिया। शिव जी का वह नेत्र आपको सुख संचन करे कि जिस ज्वालावलीपल्लवकेलितल्प पर, बिना रति के भी, मदनदेव सो गए। भगवान् भर्ग की भालभित्ति की सीमान्त-शोभा-सा स्वाहापति :अग्नि: आपके पाप को भस्म करें। उसकी ही तापकता के कारण प्रशुष्यमाण शेखरचन्द्र कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। उमापति की वह शराग्नि आपके पापों को क्षीण करे जो बड़वाग्नि के समान शत्रु-नारियों के नेत्राम्बु से कभी तृप्त नहीं होती। शिरस्थ आकाशगंगा की तरंगों के निनाद के मध्य विद्यमान शेखरचन्द्र की मैं :कवि: स्तुति करता हूं कि जो

१- श्री० च०, १।१ से १।२७ तक,

२- श्री०च०, पंचम सर्ग,

३- वही, १४।१ से १४।५६ तक,

४- वही, १७।१-२२।

मानो शिव जी के द्वारा सिखाए गए उनके अट्टहास का :तरंगनाद के व्याज से: अभ्यास-सा कर रहा है।[1]

'जिन शिव जी के चरणों की वन्दना शक्र के शिर पर लगे हुए पारिजात पर रहनेवाले भ्रमर करते हैं :इन्द्र जिनके चरणों पर शिर झुकाते हैं: और जो अष्टमीचन्द्र को शोभा के लिए धारण करने वाले हैं। जिनके चरणों पर विष्णु ने स्वक्नमाला के पुष्प चढ़ाए तथा स्वकचमेघविद्युत से उन :चरणों: की नीराजना की। जिनकी पूजा करते समय ब्रह्मा जी, सब पुष्प समाप्त हो जाने के कारण, अन्त में, बड़े क्षोभ के साथ, अपने आसनकमल से भी उन :शिवजी: की पूजा करना चाहते हैं। जिनका व्याघ्राम्बर, सायंकाल के ताण्डवनृत्य के समय, व्याघ्राम्बरोत्थपवन के झोंकों से उड़ाए गए शिरगंगा के जलबिन्दुओं से युक्त हो, आज भी गजमुक्ताओं से संयुक्त ही दीखता है। नृत्योत्सव काल में जिनका दण्ड-पाद गगनसागर की सेतुक्रिया :पुल: का रूपधारण करता है और तारक जिसके स्वेदबिन्दु-से लगते हैं। जो अपने शिर पर ब्रह्मा के मुण्ड को धारण करते हैं कि जो :मुण्ड: भूषणसर्पों की फुत्कार से काला हो रहा है। लगता है कि धूम के व्याज से :ब्रह्मा के: आवासकमल की गन्ध से आकृष्ट भ्रमरवर्ग से विद्धमान हो रहा हो। जो 'विरूपाक्ष' नाम से प्रसिद्ध हैं, लोकत्रयकामनासमर्थ एक बैल जिनका वाहन है, जो वक्षःस्थल में सूर्यचन्द्र को धारण करने वाले हैं। वे भगवान् 'स्थाणु' परशु धारण करके हमारे पापों को नष्ट करें। जो देवगंगा को सार्ध-चन्द्रा बनाते हैं, जो ब्रह्मा के शिरश्छेदन का हेतु हैं, जो सर्पों से स्वशरीर को आभूषित किए रहते हैं :श्लेषार्थ- जो पण्डितों के वर्ग को अर्धचन्द्र :धक्का: देते हैं, जो पुराणकवि के अपमान का हेतु हैं और जो विविध अन्नपानादि से स्वशरीर के पोषण में ही सदालीन रहते हैं: वे सतत् सेवनीय हैं।[2]

'ताण्डवनृत्य करते समय जो अत्यन्त सविक्षेप शरीर को धारण करते हैं। उनके शरीर से, उस समय बलात् शुभ्र विभूति चतुर्दिक् विकीर्ण होती रहती है। ऐसा विदित होता है कि मानो त्रिलोक की विपदाओं को दूर हटा कर

१- श्री० च०, ३।१-६, ६।

२- वही, ५।२, ३, ४, १०, १८, २४, २५, ४७।

जब वे शिव जी उन :विपदाओं: के पीछे :उनके अपुनरागमनार्थ: शिरोगंगा के जल :जो कि स्वतः भी शरीर के तीव्र विक्षेप के कारण कणशः विकीर्ण हो रहा है: के साथ-साथ भस्म छिटक रहे थे। सूर्य के दांत उखाड़ने, ब्रह्मा के शिरश्छेदन, विष्णु के चक्षूत्पाटन तथा कामदेव के सर्वशरीरनाश में जो हेतु बनते हैं, वे शिवजी भक्त जन किसकी सर्वांगसिद्धि का हेतु नहीं बनते ? :सबको सर्वांगपूर्णसिद्धि प्रदान करते ही हैं:। स्वयंशरीर से कपिश, नेत्राग्नि से सदा ही मैत्रीभाव धारण किए रहनेवाला तथा सतत् रूप से औषधिपति चन्द्र को धारण करने वाला जिन शिवजी का जटाजूट सर्पों का सुखमय निवासस्थान है। :औषधसाध्यविरोधा-भास-यथा- नकुल, शिखिमयूर तथा नागदमनी प्रभृति औषधियों का स्वामी :चन्द्र: भी जिस जटाजूट के द्वारा सदा धारण किया जाता है, वह :जटाजूट: भी सर्पों का सुखद निवास स्थान है, यह कितने आश्चर्य का विषय है:[1]।

[2] हे उमापति ! स्वबाहुओं से निद्रा को दूर करो तथा सूर्यचन्द्राग्निरूप तुम्हारी चक्षुत्रयी विकास को प्राप्त होवें। देखिए यह आपकी सेवा करने के लिए आए हुए इन्द्रादि देवगण, हाथ जोड़कर, बाहर खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं। हे उग्र ! वज्र के द्वारा पीसे गए असंख्य गर्वीले असुरवरों के शिखारत्नों की द्युति से जिस इन्द्र की सहस्रों चक्षुएं भयभीत होती हैं, वह सुरश्रेष्ठ इन्द्र आपके सम्मुख, मुख नीचा करके, शान्तभाव से खड़े हैं। जिसके चरणद्वय पर गिरे हुए देवकेशपाश, उस :इन्द्र: के पदनखज्योति से, शिरोमणिभाषित हो उठते हैं :जिसके चरणों में समस्त देवता सिर धरते हैं: ऐसे उन शक्र पर नेक दया कीजिए। अनेकों हंस जिनके वाहन हैं, जो :हंस: क्योंकि ही स्वतापस्वरूप :ब्रह्मा के: वाचासतामरसनाल को पाते हैं ऐसे कमलयोनि ब्रह्मा भी भक्तिपूर्वक हाथ जोड़े हुए, पार्वतीसिंह के केशों के कारण उठे हुए बादलों की गर्जनध्वनि को सुनकर भागनेवाले निजहंसों को प्रकृतिस्थ करते हुए, आपकी स्तुति कर रहे हैं। तीर्थराज प्रयाग से पूर्व भी स्वशरीरश्यामत्वजल से संसक्त देवगंगा को जिन्होंने अपने पद से निःसृत किया,

---

१- श्री० च०, ५।५१-५३ ।

२- वही, १६।२७-२९, ३३ ।

वे बलि के मान को हरने वाले, इन्द्र के सखा, त्रिविक्रम विष्णु आपके चरणों में, हे श्रीकण्ठ। प्रणति कर रहे हैं। एकादशरुद्ररूप में विभक्त आपको तथा भवानी को एक साथ देखने के लिए जो :षडानन: अपनी बारह :११ रुद्र + १ भवानी =१२: चक्षुओं को धारण कर रहे हैं और जो तारकासुर की स्त्रियों के कुचों पर से कुंकुमपत्रावली को समाप्त करने वाले हैं, वे कुमार आपके चक्षुओं की प्रीति को प्राप्त करें। आपके ललाट के मध्य में जो कस्तूरिकातिलक की भाँति शोभित है और जिस :नेत्राग्नि: ने मन्मथ की पत्नी रति के शरीर को अलंकरणों से अनभिज्ञ बना दिया है, वह स्वाहापति अग्नि, देखिए। दूर पर जलशिर सो गजानन की शुण्डा से निकले हुए जलबिन्दुओं से खिन्न हो रहे हैं। यह पावकदेव अपनी ज्वालाओं से आपके समस्त गणों को दुःखित कर रहे हैं। परन्तु वे गण भी अपने स्वेदजल से इसके प्रखर तेज को शान्त कर रहे हैं। देखिए यह विनम्र पवन अपने ज्वालाशिखाचपल मित्र अग्नि को दूर ही छोड़ रहे हैं। क्योंकि उस :मित्र अग्नि: के सान्निध्य से गौरी को क्लान्ति होगी और इससे पवन के द्वारा की जाने वाली आपकी सेवा में त्रुटि उपस्थित होगी। पृथ्वी की भाँति अन्तरिक्ष में, स्वपुष्पकविमान में लगी स्वर्णघटिका की गगनलतिका के ब्याज से, सतत/: स्वरत्नकलशों को स्थापित करने वाले आपके मित्र कुबेर आपकी सेवा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। स्वभावतः ही विकराल भ्रूभंगों के कारण भयंकर मुख सूर्यपुत्र यम के, स्वदण्डपाश के साथ, आपके द्वार पर दण्डानति करने पर सब देवगण उस :यम: को आपका प्रतीहार ही समझ रहे हैं। आदर के साथ देवनदी गंगा के वारिपूर को शिर पर धारण करके यद्यपि आपने प्रथम से ही इस :वरुण: का पक्ष ग्रहण कर रक्खा है, तथापि अब यह जलाधिवरुण आपके दृष्टिपातों से पवित्र होवें। देखिए यह स्वविषफूत्कारों के द्वारा देवों को अत्यन्त दुःख देने वाले भी आपके भूषणसर्प देवों के द्वारा सतत नमस्कार किए जा रहे हैं। यद्यपि यह रसातलवासी हैं, परन्तु आपने इन्हें स्वशिर पर धारण करके देववन्द्य बना दिया है। कहीं पर देवताओं से तिलकित, कहीं पर नागों से विलसित, कहीं पर गाते हुए किन्नरकुलों से अधिष्ठित और कहीं सूर्य-चन्द्र से शोभित आपका द्वार

सम्प्रति तो साक्षात् विश्वरूप ही हो रहा है।[1]

'देवसभा में भगवान् के शीर्षासन पर विराजमान होने पर नन्दी ने देवताओं के आगमन की सूचना दी। देवताओं ने आकर स्वस्वप्रणामांजलि समर्पित की। उस काल इन्द्रादि देवों ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा - हे देवाधिदेव! सभी के हृदयों में निवास करने के कारण ही आपकी पुरुष संज्ञा है। हे त्रिनयन! आपसे गुप्त क्या है। प्रकृति से ही निर्मल आपका स्वरूप गंगाजल-सा हमें पवित्र करता है। आप कारणत्रयस्वरूप हैं, साथ ही प्रपंच से आप पृथक् भी हैं। तुम त्रिलोकपतियों को लोग व्यर्थ ही उदासीन कहते हैं। यदि यह प्रकृति ही जगत्कर्त्री है तो, बिना आपकी दया के, भेक मुक्ति तो सिद्ध करे। इन विकृतिमूल महदादि में लोक व्यर्थ ही 'तत्त्व' पद का प्रयोग करता है। पच्चीसवें भी तुम्हीं एक मात्र वास्तविक तत्त्व हो। यह त्रैलोक्य तुम्हारे ज्ञानस्वरूप का विवर्त है। शून्य रूप से बौद्ध, विश्वात्मरूप से जैन तथा 'स्वभाव' रूप में चार्वाकों के द्वारा भी, हे शिव! तुम्हीं स्वीकृत हो। आपको माया का कभी स्पर्श नहीं होता। 'नेति-नेति' कहकर उपनिषद् आपकी स्तुति करते हैं। आपकी ही विमर्शात्मिका विश्व का निर्माण करके भी आपमें भेद उत्पन्न नहीं करती'।[2]

:व्यावहारिकरूप में: व्यावहारिक रूप में शिवजी लोक के सामने वसन्त की शोभा देखते समय, दोला-क्रीडा, जलकेलि, देवसभा एवं युद्धस्थल में आए हैं।[3] इन स्थलों के उनके चरित्र-निबन्धन से उनका दिव्य-नायकत्व पर्याप्त रूप से स्फुट हो उठता है:—

:अनुकूलनायक[4]: - 'वसन्त ऋतु में कामदेव की पोषिका कान्तशोभा के प्रकट होने पर कैलास की शोभा देखने के लिए भगवान् शिव पार्वती के साथ निकले। भगवान् ने स्वनेत्राग्नि के तेज से उत्पन्नतरुपंक्ति को पल्लवित-सी तथा

१- श्री० च०, १६।३६-३६, ४१, ४२, ४६, ५२ तथा ५६।

२- वही, १७।१४, १८-२२, २५-२६।

३- वही, ७।१-४३, ७।५४-६०, ८।४५-५६, सर्ग १७ एवं १६।१-४६, २४।६-७, ३८, ४४।

४- 'अनुकूलत्वेकनिरतः' ।। सा० द०, ३।३०।

किरीटचन्द्र के द्वारा पुष्पिका-सी बना दिया । नेत्राग्नि तथा पार्वती की मुग्ध-दृष्टि के एकसाथ पड़ने पर अशोकग्रस्त काम के मन में भयाभय की संधि उपस्थित होरही थी :शिवपार्वती ने अशोक को देखा: । विचकिलपुष्परेणु के व्याज से हंसते हुए वसन्त के प्रसर को भगवान् सतृष्ण नेत्रों से देख रहे थे । पवन-दोलित लताओं को देख-देख कर भगवान् प्रसन्नता में, अपना सिर हिला रहे थे । लगता था कि उनके सिर ने यह कम्प मानों उन लताओं से ही उसी समय, सीखा हो । शिर:कम्पोत्थ शिरस्थगंगा के जल से वृक्षों का अवश्य ही सेकोपचार सिद्ध हो रहा था । त्रिनेत्र के द्वारा देखी जाती हुई उस वनस्थली की लतापंक्ति अपने रेणुजाल के द्वारा, उन लताओं में छिपे हुए कामदेव के लिए, तिरस्करणी-सी प्रतीत होती थी । समुपस्थित वसन्त का वर्णन शिव जी ने पार्वती से इस प्रकार किया[1] --

:<u>शिवकृत वसन्त वर्णन</u>: - देवि । नाचते हुए मधुकर :कृष्णचक्षुमण्डल: तथा केतक :श्वेतचक्षुमण्डल: के सदृश स्वकटाक्षों से इस वसन्त पर अनुग्रह करो । कामदेव के क्रीडाकृष्णसार :मृगविशेष: मृगों के विहार से यह वनभूमि सफल हो जाय :मृगनयनीत्वध्वनि: । चकोराक्षियों के शरीर में चन्दन के द्वारा स्व-स्थान ग्रहण कर लिए जाने के कारण, अत्यन्त खिन्न यह कुंकुम, पुष्पगुच्छ के रूप में, देखो, विरचितपाश :फांसी लगाए हुए: सा प्रतीत होरहा है । देखो यह पवनान्दोलितरक्तपुष्प पलाश शोभित होरहा है । विरहिणियों के लिए यह सर्वथा अकालमृत्यु का हेतु है, क्योंकि पुष्पगुच्छों के रूप में यह क्रमश: स्वच्छ पान्थों के रक्तजीव ही तो धारण कर रहा है । चन्दनपर्वत की मुखश्वास के समान यह दक्षिणपवन, हे स्मितमुखि । कामदेव की विजय के निमित्त, कोयलों के रूप में, मरकतशंखों ही को गुंजित कर रहा है :दक्षिणपवन से मत्त कोयल की कूक अत्यन्त उद्दीपक है:।[1]

:<u>दोलाक्रीडा</u>: - हे इन्दुमुखि । नन्दी के द्वारा प्रस्तावित दोलाक्रीडा तो अत्यन्त स्पृहणीय है । तुम शीघ्र ही उसका प्रारम्भ करके मेरे नेत्रों की अमृत-पारणा करो । मेरे हृदय-सी स्वदोला को स्वर्ग तक बढ़ाओ और मेरी दृष्टियाँ

१- श्री०च०, ७।१-१०, १६, २०, २२ ।

के साथ-साथ दोला का ऊर्ध्वाधःगमन करो, कि जिससे तुम्हारे कण्ठ की मुक्ताओं के द्वारा आकाश में एक नवीन ही तारकवृष्टि उत्पन्न हो जाय। अथवा तुम्हारी दीर्घदीर्घतर निःश्वासों से स्वर्गङ्गा के कमलों को भ्रमरहीन बना दें।[1] कर्मनीत्य-ध्वनिः। हे सुखंकारिणि। यह मणिजटित दोला स्वर्णमणिरश्मियों का, तुम्हें आरोहणोत्सुक जानकर, तुम्हें सहाय प्रदान कर रही है। देखो यह दोला तुम्हारे चरणस्पर्श की सम्भावना से आह्लादित, पवनचालित स्वर्णपीठमयी भित्ति-बाहुओं से अन्तरिक्ष में नृत्य-सा कर रही है। वायु से प्रेरित क्रमशः कनककिंकिणियों की ध्वनि के व्याज से तुमसे अभ्यर्थना करती हुई इस दोला को अब बिना विलम्ब अनुगृहीत करो[2]।

दोलाक्रीडा में प्रयाननाथ शिवजी की पार्वती के सुख के निमित्त अत्यन्त उत्कण्ठा स्पष्ट है। पार्वती जी का सुख-दुःख स्पष्ट ही उनका-अपना सुख-दुःख सदृश है। जल-केलि में भी इसी तथ्य पर और अधिक प्रकाश पड़ता है। यद्यपि वे स्वयं भस्मधारी वीतराग हैं, पर पार्वती की प्रसन्नता के लिए वे उनके साथ-साथ मानस सर में स्वयं भी स्नान करते हैं। इन दोनों स्थलों पर उनका पत्नीप्रेम अत्यन्त स्पृहणीय होकर निखर उठा है। तभी तो उस दिव्यदम्पति की भूरिशःसेवा मानसरोवर ने भी की। इस दृष्टि से, अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी, जलकेलि वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण है --

<u>जलकेलि</u> - 'अचलराजकन्या के साथ-साथ स्वयं भगवान् ने, जलकेलि-कुतूहल से पूर्ण हो, आकर मानसरोवर के पुलिन को सुशोभित किया। नेत्राग्नि-ज्वालाओं के प्रतिफलन से पीतकमलवाले मानसर को, जो जलक्रीडा के लिए सजाए हुए सुमेरु पर्वत के सदृश शोभित था, चूडाचन्द्र को धारण करते हुए भगवान् ने, पार्वती के साथ निमज्जन करके, पवित्रता प्रदान की। उस सरः की प्रसन्नता

१- श्री० च०, ७।५४-५५-५७।

२- वही, ७।५८-६०।

का घातक विपुल शुभ्रफेन आ गया । उस शुभ्रफेनपुष्पोत्कर को तरंगबाहुओं से बिखेर कर उसने शिवजी की पूजा की तथा हरितवर्णा लहरियों के हरिन्मणि-कंकणों को, भेंट के रूप में, पार्वती को सादर अर्पित किया[१] ।

दिव्यतम नायक - देवसभा लगी हुई है । सभा में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-वरुण-कुबेर-यम-अग्निसूर्यचन्द्रादि सभी उपस्थित हैं । परन्तु, महेश शीर्षमंच पर विराजमान हैं । वे :शिव: स्वमहिमा में सर्वथा पूर्ण हैं, जबकि अन्य विष्णु प्रभृति सब देव निस्तेज होरहे हैं । इन्द्रादि सब देवों ने क्रमशः महेश के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया है । भगवान् आशुतोष उनकी श्रद्धाभक्ति से अत्यन्त तुष्ट हैं । साथ ही, देवों के निष्प्रभ एवं विनत चेहरों से देवों के दुःखों तथा उनकी असामर्थ्य का अनुमान करके सर्व शिरोमणि शंकर विह्वल भी कम नहीं है । भगवान् ने क्रम-क्रम से प्रत्येक देव को उस-उसके बल-वीर्य का स्मरण-प्रशंसन करके उन्हें धैर्य बन्धाया, ढाढस दिया । उनकी विपत्ति पूछी । पूछना भी क्या था, वे घटघटवासी जानते भी क्या नहीं थे ? परन्तु, देवों का मान रखने के लिए, उनकी सान्त्वना मात्र के लिए ही उन्होंने देवविपत्ति को उन्हीं के मुख से सुनना चाहा । ब्रह्मादि देवों ने सर्वप्रथम मिलकर उनकी भूरि-भूरि स्तुति की । तदनन्तर ब्रह्मा ने, अपनी भूल स्वीकार करते हुए, त्रिपुर को दिए गए अपने वरदान तथा त्रिपुरों के अत्याचारों से विनष्टप्राय देवों के दुःख वर्णित किए । भगवान् रुद्र को ब्रह्मा की भूल से वैसे ही कोई क्षोभ नहीं हुआ जैसे कि कोई पिता अपने बच्चे की एक बड़ी भारी भी भूल को अनसुनी कर दे । देवविपत्ति को सुनकर भगवान् शिव अत्यन्त विह्वल हो गए । उन्होंने बिना कुछ संकोच किए ही और बिना किन्हीं अन्य आवश्यक सूचनाओं के जाने ही तत्काल त्रिपुरवध को अंगीकार कर लिया । देवों ने भगवान् को अपने किए गए अनुमानों से कहीं अधिक सरल, वत्सल और समर्थ पाया । भगवान् ने, एक

१- श्री० च०, ६।४५, ५०-५१ ।

चक्रवर्ती सम्राट् की भाँति, का अनुकूल रणसज्जा का आदेश प्रदान किया ।

'श्रीकण्ठ चरित' में भगवान् शिव, अपने दिव्यगुणों के साथ, प्रत्यक्ष में केवल १७ वें सर्ग की इस देवसभा में निबद्ध हुए हैं । अन्यत्र वे परोक्षरूप में ही वर्णित हैं । युद्ध में भी वे केवल दो बार दर्शनमात्र देते हैं । भ्रुकुटिमात्र से कामदहन के समान ही, क्षणभर में शर-सन्धान कर त्रिपुर को भस्मसात कर देते हैं । कामदहन के समय तो आकाश में 'क्रोधं प्रभो संहर-संहर' कहने का अवसर देवों को मिल गया था, परन्तु त्रिपुरदाह में तो उतना भी अवकाश नहीं मिला ।

महाकवि मंखक की 'देवसभा' की तुलना में माघ की 'नरशिशिरसभा' तथा भारवि की 'वनसभा' अत्यन्त साधारण कोटि की है । न तो यहां कोई वैचित्र्य ही है और न काव्य को यहां स्वराजनीतिज्ञता का ही विस्तृत परिचय देना है । इन्द्रादिदेवों का आगमन, स्वविपत्ति का निवेदन, शिवका त्रिपुर के वध को स्वीकार करना तथा अलौकिक रथादि का निबन्धन आदि अत्यन्त सरल अवयवों से देवसभा का निर्माण सम्पन्न हुआ है । दर्शनीय है- का देवों का संकोच और शिव की उदारता-वदान्यता आदि ।

<u>:देवसभा:</u> -'स्फटिकपत्थर की प्राकृतिक भूमि पर प्रतिबिम्बित सूर्यबिम्ब के स्वाभाविक पीठासनों, जिन :पीठासनों: में स्वाभाविक कैलासपर्वतोत्पन्न विविध मणिमाणिक्य जड़े हुए थे, से युक्त, कैलासशिखरोंनिमा-वितान के साथ-साथ शेखरचन्द्ररश्मिपुंज के द्विगुणवितानवाली, यत्र-तत्र प्रविष्ट सूर्यरश्मिदण्डों से द्विगुणित स्वर्णदण्डों से शोभित, शिरस्थ गंगा की तरंगों के कलकलनिनादायन से मण्डित, शोभाकृष्ट इन्द्रादि देवों के प्रणामप्राप्त मुकुटरत्नों के अनुपम पुष्पों से सुसज्जित तथा कार्तिकेय के वाहन मयूरों के वर्हकलापों से उपवीज्यमान सभा में प्रातःसन्ध्याकर्म को पूर्ण करके :सन्ध्या सपत्नी के सम्भाषणादि से सशंकित: गौरी के द्वारा ईर्ष्याकटाक्षों से वीक्ष्यमाण तथा त्रिपुरवधुओं के तिलककस्तूरिकापंक के नाशक शिवजी ने प्रवेश किया'[१]।

१- श्री० च०, १७।१-४ ।

'नाटकाभिरता में व्यग्रता के साथ तल्लीन देववन्दियों के मुखों पर दृष्टि डालते हुए शिवजी उस देवसभा में शीर्षासन पर विराजमान हुए। मरकत-मणिमय आसन की उच्छलित किरणों से आप्लुत कामारि का अभिनव भस्मा-च्छादित भी शरीर स्वकण्ठनीलिमा के ही सादृश्य को प्राप्त हो रहा था। सेविकाओं ने स्वयं ही पादपीठासन को शीघ्रता से लाकर रक्खा, नम्र निर्जरों के कम्रमुख ही पादपीठ के रूप में पर्याप्त हो रहे थे। चामरधारिणियां धीरे-धीरे ही चम्मर डुला रही थीं। उन्हें भय था कि कहीं वेग से चामरव्यजन करने से अनवसर ही नेत्राग्नि प्रदीप्त न हो जाय'[1]।

'अत्यन्त शान्ति से धीरे-धीरे प्रवेश करने वाले विनम्र देवगणों के आगमन की सूचना नन्दी ने भगवान् को दी। देवों ने बड़ी विनम्रता के साथ, सम्वेत रूप से, शिवचरणों में साष्टांग आनति की। पुरारि की नेत्राग्नि से ताप तथा शेखरचन्द्र के शीत का अनुभव साथ-साथ ही देवों को हुआ। स्व-स्व योग्यता के अनुकूल आसनों पर बैठ चुकने पर इन्दुशेखर के द्वारा कुशलप्रश्न पूछे जाने पर इन्द्रादि सुधान्धसों ने सुधासिक्त मधुर पदों में भगवान् की स्तुति की'[2]।

:प्रस्तुत: -'स्तुतिमुखर देवों पर कृपारस की अमृतवर्षा करते हुए भगवान् चन्द्रशेखर ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया-- मेरे सान्निध्य को प्राप्त होने वाले आप देवों की अवैधयुक्त भक्तिप्रसादि किसी बड़े भारी विप्लव की सूचना दे रही है। क्योंकि आप सबके मुख, प्रात:काल के निस्तेज चन्द्रमा की साम्यता कर रहे हैं। ब्रह्मा जी का चित्त विशेषरूप से विचिन्त्य हो रहा है। विष्णु का सुदर्शनचक्र निष्प्रभाव हो रहा है। जिन इन्द्र की वक्षपद्मचक्षुओं में निवास करने वाली भी पद्माकर का स्मरण नहीं करती थी, वह इन्द्र निमीलितेन्द्रिय हो रहा है। अत्यन्तघ्राणि भी पवन दीर्घनि:श्वासों के कारण, पुनरपि, चंचल और पीवर हो रहा है। स्वतेज तथा तैक्ष्ण्य को खोकर सूर्य का

१- श्री० क०, १७।६-१२

२- वही, १७।१४-१७।

यह पाण्डुमण्डल दिव में भी चक्रवाकों को रात्रि की शंका उत्पन्न कर रहा है। अग्नि का तेज तो सर्वथा सत्वहीन हो रहा है। अस्तंगामी सूर्य के तेज से तेजस्विता प्राप्त करने वाले वरुण की दृष्टि स्पष्ट ही सजल दीख रही है। अन्य भी सब देवों का पूर्वतेज उनकी अपनी निःश्वासों से, दीप-सा, बुझा जा रहा है।[1]

भगवान् शिव के द्वारा इस प्रकार व्यवस्थित होकर, चित्त का स्वास्थ्य-लाभ करके, देवों ने त्रिपुरारि को देखकर पुनः स्वमुख नीचा कर लिया। तब ब्रह्मा जी ने, एक अपराधी की भांति, त्रिपुर को अपने द्वारा वरप्रदानादि का निवेदन किया। देवविपत्ति का वर्णन करते हुए कहा--"हे त्रिनयन ! अधिक क्या कहें, त्रिपुर स्वबंधुओं को फाड़ते गए हैं। वे अपनी निःश्वासों से स्वचालित-चामरों की वायु को, असुरों की प्रीत्यर्थ, द्विगुण कर रही हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्ग को निर्वीर्य समझते हुए वे दैत्य अब शीघ्र ही हमारा मूलोच्छेद कर देंगे।[2]

इस प्रकार देवविपत्ति को सुनकर शिव जी के गणों को सर्वथा क्रोधावेश हो आया। वे विविध रौद्रभावों से पूर्ण हो गए।

<u>प्रोत्साहन</u> - "तब अपने दक्षिण हस्त को उठाकर परम धैर्यशाली शिव जी ने, प्रमथों के कोपकोलाहल को सर्वथा शान्त कर दिया। शिरसिन्दु-शीतल स्ववचनामृतों से उनके समस्त रोषानल को शमित कर दिया। सूर्याग्नि-चन्द्रात्मक नेत्रत्रयतेज को देवों के ऊपर फेंकते हुए :उन्हें देखकर: उनमें :देवों: में तेज का संचार किया। मेघ-सा गम्भीर नाद करते हुए इस प्रकार बोले--"आपके वदनों से संसूच्य यह क्या दैन्यभाव आपके हृदयों में आया हुआ है ? सद्भुजाग्रजल मात्र :शाप: से दैत्यों को भस्म कर देने में समर्थ ब्रह्मा के होते हुए यह त्रिपुरविपत्ति कितने क्षणतक ठहर सकती है ? फेनमात्र से ही वृत्रासुर का नाश करने वाले इन्द्र क्यों नहीं शत्रुओं का नाश कर डालते ? विष्णु का खड्ग शत्रुनारियों का मुखहास्य और उनका नन्दक उन :शत्रुओं: का अंजन कैसे सहन कर रहा है ? ब्रह्म का मुखधाम :वेद, उपायविशेष:, ऐरावत का दान

1- श्री० च०, १७।३४-४४

2- वही, १७।४५-४७, ६६-६७।

:जल, उपाय विशेष: और यम का दण्ड :लगुड, उपाय विशेष: शत्रुओं के हृदय में भेद :भेदन, उपायविशेष: को दृढ़ करें :ब्रह्मा, इन्द्र तथा यम असुरों का सामदामदण्डभेद से विनाश कर दें:। फिर जिसकी दिशा में सूर्य का भी तेजक्षीण पड़ जाता है, वह दक्षिणपति वरुण जिसके द्वारा भला सह्य है ; हे देवो। यद्यपि आप लोगों ने स्वयं ही क्रमश: दैत्यों का, अबतक, नाश किया है, तथापि, इस समय, आप लोगों के बलवीर्य को हमारा तेज भी सहस्रगुण बनावे'[1]।

'भगवान् शिव की इस प्रकार की वाणी को सुनकर सन्तुष्ट देवों ने पुन: सविनय निवेदन किया कि हे भगवान्। हमारा तेज आपके द्वारा ही प्रदत्त है। पर हमारे तेज को उन त्रिपुरों ने सर्वथा व्यर्थ कर दिया है। और अब हम आपके और विशेष तेज को धारण करने में भी समर्थ नहीं हैं। इसलिए उन त्रिपुरों का तो आप स्वयं संहार कीजिए। दीपक रात्रि के अन्धकार को नष्ट करने का साहस नहीं किया करता'[2]।

'अच्छा तो मैंने आपके हितसाधक इस महान् त्रिपुरवध कर्म को करना स्वीकार किया। सुसारथियुक्त और मेरे भार को सह सकने में समर्थ, कैलास के समान, रथ मेरे लिए उपस्थित करो। उस रथ पर स्थित हो मेरी वीरता शत्रु-भ्रूविलास का शामक हो'[3]।

भगवान् रुद्र की इस वाणी को सुनकर देवों का मुखतेज, भस्म के हटने से अग्नि के तेज के समान, पुन: प्रदीप्त हो उठा। प्रसन्नता से भर कर देवांगनाएं कोलाहल करने लगीं। उस कोलाहल की प्रतिध्वनि के व्याज से कैलास ने भी मानो शंखध्वान किया[4]।

:रुद्ररूप में: - प्रलय के देवता महेश यदि चिरकाल तक कहीं अपना भैरवस्वरूप व्यक्त करें तो आकल्पसंहार का दृश्य उपस्थित हो जाय। यही कारण है कि युद्धस्थल में भगवान् रुद्र के महाकालस्वरूप का दर्शन क्षणमात्र के लिए ही होता है — 'विवृद्धसत्त्व के वशीभूत हो त्रिपुरों के एकत्रस्थित होने

१- श्री० च०, १९।१८-१९, २०, २२, २५-२६। २- वही, १९।२७-३०।

३- वही, १९।४१-४३। ४- वही, १९।४६-४७।

पर, देवों ने उनके वैरभाव को समझते हुए, शिव जी की ओर रहस्यपूर्ण दृष्टियों से पुनः-पुनः देखा । तीनों लोकों की दैत्यव्याधि को शान्त करने वाले उन महारुद्र ने, नाचती हुई भ्रुकुटि के समान चंचल वक्र धनुष पर, उसी :भ्रुकुटि: से देदीप्यमान ललाटज्वालामालाओं से प्रोद्दीपित अग्निशर को संधानित किया । उन्मुक्त बाण ने, एकसे अनेक होते हुए, यमराज की ज्वाला-जिह्वाओं के समान, उन तीनों दैत्यों को एकसाथ ही ग्रसित कर लिया । तीनों दैत्य बाणाग्नि से तत्काल ही भस्मीभूत हो गए । उनके शरीरों की भस्म आकाश में छा गई[1] ।

"त्रिभुवन गुरु" शिवजी ने उस लोकत्रयव्याधि को नष्ट करके अपने रौद्रस्वरूप का संहार कर लिया । श्रेष्ठजन दुष्टों को दमन करने के लिए क्षणिक ही विक्रिया को धारण किया करते हैं । आंख्य देवमंत्रों :स्तुतिपाठकों: की स्तुतियों का आस्वादन करते हुए शिवजी ने, चरणानत करते हुए देवों को प्रीतिपूर्ण चक्षुओं से देखकर, स्वस्थानों को प्रस्थान करने की आज्ञा दी । स्वयं भी नन्दी पर सवार हो, पार्वती सहित, कैलास की ओर चल दिए[2] ।

शिव जी में महाकाव्य के धीरोदात्त नायक के सभी दिव्यगुणों का प्रत्यक्ष इन थोड़ी-सी ही घटनाओं से भलीभांति हो जाता है । वे परम उदार, शरणागतवत्सल एवं स्वयं में परितुष्ट रहने वाले हैं । परदुःखहरण ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य विदित होता है । वे सर्वथा धन्य हैं । उनकी महिमा अपार है । वे देवाधिदेव महादेव हैं ।

<u>पार्वती जी</u> "श्रीकण्ठ चरित" में पार्वती जी का वर्णन भी स्तुति तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में हुआ है । कवि ने शिव जी की पत्नी के रूप में ही पार्वती जी की स्तुति की है, उनके शक्ति या दुर्गास्वरूप की नहीं । व्यावहारिक वर्णन में वे सर्वत्र परोक्षरूप से ही वर्णित हैं । कहीं भी वे साक्षात् हो न तो कोई महत्वपूर्ण कार्य ही करती हैं और न दो-चार वाक्य ही बोलती हैं । उनका व्यक्तित्व सर्वत्र शिवजी के व्यक्तित्व से समाच्छन्न है । स्वतन्त्रता की भावना का लेशमात्र भी पार्वती जी में नहीं है । स्त्रीसुलभ कौतुकप्रवृत्ति एवं

१- श्री० च०, २४।६-७, ११।

२- वही, २४।३८, ४४।

लज्जाशीलता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। वे देवाधिदेव महादेव की आदर्श भारतीय अर्धांगिनी या धर्मपत्नी हैं। साथ ही वे स्वाधीनभर्तृका[1] तथा पद्मिनी मुग्धानायिका[2] के स्वरूप को धारण किए हुए हैं।

:क: :स्तुतिरूप: - 'पार्वती जी का निष्कलंक मुखचन्द्र आपकी रक्षा करे। उनके दान्तों की प्रभा स्वच्छज्योत्स्ना के समान है। नृत्यारम्भ में प्रवृत्त चण्डिका का दण्डपात, संसार के दण्डपातों को नष्ट करते हुए, आपकी सदा रक्षा करे। उसके सामने ज्योत्स्ना तो उसका कोट्यंश भी नहीं प्रतीत होती :पार्वती का वर्णोत्कर्ष:। आकाशस्थल को द्विचन्द्रमय बनाता हुआ पार्वती का पानपात्र आपको यशप्रदान करे। उनके जूड़े के सर्पों की मणियों की चमक ही उस प्याले में मद्य-सी प्रतीत होती हैं[3]।

ताण्डवनृत्य करते समय ब्रह्माण्ड के भी ऊपर पहुंचने वाला पार्वती जी का दण्डपात श्रेष्ठजनों को प्रिय हो। उसके नूपुरों की ध्वनि से आकृष्ट होकर ब्रह्मा जी के वाहनहंस उन्हें :ब्रह्माजी को: समाधि से चलित कर देते हैं। :हंस नूपुरध्वनि का अनुगमन करते हैं और ब्रह्मा जी उन हंसों को पकड़ने में व्यस्त होते हैं:। भयंकर नखोंवाले अहंकारी सिंह पर स्थित पार्वती जी के सुन्दर मुख की हम वन्दना करते हैं। उस मुख के लावण्य के कणमात्र का लाभ करने के लिए चन्द्रमा अवश्य उस :मुख: की सेवा करता, यदि उसे अपने शश का भय न होता[4]। :पार्वती के सिंह से चन्द्रमा के शश को भय, उस शशभय के उपरोध से चन्द्रमा पार्वतीजी के सलावण्यमुख की सेवा से विरत है:।

:ख: :व्यावहारिक रूप: - व्यावहारिक वर्णन में पार्वती जी सर्ग ७।१ में शिवजी के साथ वसन्त की शोभा को देखने जाती हैं। साथ में नन्दी भी है।

१- 'कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका'।। सा०द०, ३।७४

२- 'प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा'।। सा० द०, ३।५८

३- श्री० च०, १।१९-२०।

४- वही, १।४६-४७।

शिवजी वसन्त की शोभा का मधुर वर्णन करते जाते हैं और पार्वती जी उसे एकमना होकर सुनती रहती हैं। कुछ काल के पश्चात् नन्दी वसन्तश्री का भव्य वर्णन करते हैं। साथ ही वे पार्वती जी की दोलाक्रीडा की इच्छा को भी शिव जी से व्यक्त करते हैं। शिव जी नन्दी का प्रस्ताव स्वीकार करके उनकी इच्छा का हार्दिक अनुमोदन करते हैं। शिव जी के पुनरिशः प्रेमानुनयों पर पार्वती जी दोला पर आरूढ होती हैं। बड़ी देर तक दोलाक्रीडा से मन बहलाकर वे थक जाती हैं। उस समय शिव जी उन्हें अपनी बाहु का सहारा देकर उतारते तथा बाहु के सहारे-सहारे ही विश्रामकुटी तक पहुंचते हैं। विश्राम के पश्चात् पार्वती जी कुसुमावचय करती हैं। तत्पश्चात् स्नानकेलि का आनंद लेती हैं। कुसुमावचय के समय अन्य विजयादि देवांगनाएं उनका साथ देती हैं। स्नानकेलि में स्वयं शिवजी उनके साथ होते हैं। स्नान के पश्चात् दिव्य दम्पति रात्रिविश्राम को चले जाते हैं। इसके आगे, कहीं भी, पार्वती जी साक्षात् दर्शन नहीं देतीं।

<u>नन्दी</u> - कवि ने नन्दी की भी स्तुति की है। व्यावहारिक रूप में नन्दी शिव जी के वाहन, सहचर, द्वारपाल एवं गणाध्यक्ष के रूप में आए हैं। वे ब्रह्मादि देवों को भी सावज्ञ शिर/संकेत करने में समर्थ हैं।[1] पार्वतीजी की दोलाक्रीडा के प्रस्ताव की पूर्वपीठिका के रूप में किया गया नन्दी का वसन्तवर्णन, काव्य की दृष्टि से, अनुपम है। युद्ध में भी वे अपूर्व कौशल का प्रदर्शन करते हैं।

:क: <u>:स्तुतिरूप:</u> - "सर्वत्र ही शिव जी के चरणों का संस्पर्श लाभ करता रहूं, इस विचार से स्फटिकाद्रि :कैलास: के द्वारा धारण किया गया उसका जंगमस्वरूप, अथवा शिवजी के जटाजूट में बंधे हुए स्वसुतचन्द्र को देखने के लिए आगत क्षीराब्धि-सा शिव जी का वाहन वृषभनन्दी आपकी कुशल का हेतु होवे। जिन शिव जी को, उनकी सेवा में रहकर, मात्र चरणनिक्षेप से ही विश्व को स्वर्णमय बनाकर, उनका स्ववाहन वृषभ जीत लेता है, ऐसे वे शिवजी[2] ---------। :शिव जी ने मरुत्त के लिए ७ दिन तक लगातार सोने

१- श्री० क०, १७।१४।

२- "सर्वत्रेश्वरपादपद्मकलितो भूयासमित्याशया-
यद् व्याजात्स्फटिकाद्रिणैव विधृतं रूपान्तरं जंगमम्।
यः क्षीराब्धिरिवागतः शिवजटाबद्धं सुतं वीक्षितुं
श्रेयः कुशलामस्मनस्त्वानौरी स गौरस्तु वः" वही, २।५४ तथा ५।२२

की वर्षा की थी । इधर नन्दी को वरदान है कि उसके खुरस्पर्शमात्र से लोहा सोना बन जायगा । वह वाहनरूप में शिवजी के साथ-साथ विश्वभर में घूमता रहता है और इस प्रकार सर्वत्र ही स्वचरणस्पर्श से पृथ्वी को स्वर्णमयी बनाता रहता है । उसके कांचनीकरण की शक्ति की देशकालकृत सीमाएं नहीं है, जबकि शिवकृत स्वर्णवर्षा केवल सात दिन मात्र तक ही रही थी । इस प्रकार उन :शिवजी: का वृषभ भी स्वर्णवर्षण में उनका अतिक्रमण कर जाता है । परंतु यह, नन्दी की सेवा-तप से प्रसन्न हो, स्वयं उन्हीं शिवजी के वरदान की ही महिमा है । अर्थात् शिव जी, प्रसन्न होने पर, अपने सेवकों को भी अपने से भी बड़े पद या सम्मानवाला बना देते हैं : ।

:ख: :व्यवहारिकरूप: -- :सुकविनन्दी: - नन्दी ने शिवजी के समक्ष वसन्त की शोभा का वर्णन इस प्रकार किया --

'कान्तमधी का पान करके चक्षु मतवाले होरहे हैं । बालसूर्य के संस्पर्श से शरीर भी अलस है । हे नाथ । मधुसौन्दर्यका दर्शन करके चित्त अपने में नहीं समाता । सूर्याग्निचन्द्रस्वरूप स्वचक्षुओं को दूर तक दौड़ाकर, उनके द्वारा दिशा-नायिका के शरीर में रक्तकस्तूरी तथा श्वेतचन्दन के अंगराग की सिद्धि हो जाय। यह वसन्त, अपने नवपल्लवों की श्यामलाभा से आकाश को श्यामल बनाते हुए, दिशाओं को स्फटिकरश्मियों से ज्योत्स्नोज्ज्वल बनाते हुए तथा सर्वविधसुगन्धि को सर्वत्र फैलाते हुए, सर्वत्र उल्लसित होरहा है । यह दिशाविदिशाएं, कनक-केतकसिन्दुवारादि वल्लियों से अलंकृत होकर, वसन्त के द्वारा कामदेव की विजय की इन्द्रधनुषपंक्ति-सी लग रही हैं। रविप्रथमतः दक्षिणदिशा को स्वीकार किए था और मरुत उत्तर को । अब वसन्त ने दोनों में अदलाबदली करा दी'[1]।

'मन्द-मन्द वायु से खिलती हुई चम्पककलियों पर बैठे हुए भ्रमरों को

१- 'पिब पिब दिनलक्ष्मीं चक्षुषामेति चक्षु-
 स्तलभातपमयोगात् गात्रमत्यालसत्वं ।
 किमपरमभिनिर्वातकण्ठया देव दृष्ट्वा
 मधुरमिविलासंमातिनवापिचैत: ' ।। श्री०च०, ७।४६ तथा ४७-४८।

भी, हे देव । देखिए बसन्त ने दोलाक्रीडा सिखा दी है। यदि आपकी आज्ञा हो तो, स्वकपोलप्रभाओं से चम्पकपीतिमा को मलिन करनेवाली पार्वतीजी भी दोला को विभूषित करें तथा अपनी गण्डपाण्डुता से आकाश की श्यामता को दूर करें।[1] :इन श्लोकों में प्रसादगुण, विषयप्रतिपादन एवं युक्तियुक्तता दर्शनीय हैं:।

इस वसन्तवर्णन में नन्दी की कवित्वशक्ति तो पराकाष्ठा को पहुंची हुई है ही, साथ ही वह :नन्दी: एक सफल नर्मसचिव[2] :विट: भी सिद्ध होरहे हैं। दोला-क्रीडा का प्रस्ताव कितने उपयुक्त अवसर पर और किस भंगिमा से समक्ष रक्खा है।

:द्वारपाल: "नन्दी के द्वारा सावज्ञ निवेदित देवों के विनय से सिर झुकाए हुए प्रवेश किया"[3]। :कवि ने यहां नन्दी के रूप में द्वारपालों के अहम्मन्यस्वरूप को बड़ी सफलता के साथ साक्षात्-सा उपस्थित कर दिया है:।

:गणाध्यक्ष: - "शिव जी के राजद्वार में हठ से प्रवेश करते हुए देवों के आवागमन का भ्रूसंकेत से, विधिनिषेध करने में अभ्यस्त नन्दी की भौंहें, क्रोध में, अपने आप नाच उठीं। मुरजवादन में अभ्यस्त नन्दी के हाथ, क्रोध में पृथ्वी को बड़ी देर तक पीटते रहने पर भी नहीं थके[4]। शत्रुओं के हाथियों के गण्डस्थलों पर नन्दी इस प्रकार कराघात करते थे मानो वे शिव जी के रणोत्सव में मुरजवादन ही कर रहे हों"[5]।

कवि ने नन्दी का चित्रण, सभी रूपों में, सर्वथा अद्वितीय ही किया है।

१- श्री० च०, ७।५१-५२।

२- वेशोपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः।
   ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत्॥ ना० शा०, ३५।५५

३- श्री० च०, १७।१४।

४- वही, १८।५१-५२।

५- वही, २३।२०।

ब्रह्मा जी - "श्रीकण्ठ चरित" महाकाव्य के प्रतिपाद्य विषय "त्रिपुर-वध" से ब्रह्मा जी का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस कथानक के बीज का वपन उन्होंने ही किया था। तारकाक्ष, विद्युन्माली तथा कमलाक्ष नामक असुरत्रय ने इन्हीं ब्रह्मा जी को अपनी घोरतपश्चर्या से प्रसन्न किया था। मांगा तो था उन तीनों ने सीधे अमरत्व ही, पर ब्रह्मा के द्वारा अमरत्व प्रदान करने में असमर्थता व्यक्त किए जाने पर तीनों ने, आपस में मन्त्रणा करके, "शत्रु के एक ही बाण से तीनों असुरों की मृत्यु एकसाथ ही होने" का वरदान मांगा। ब्रह्मा की सरलमति में आकाश, पृथ्वी तथा पाताल में त्रिपुर के निर्माण और उनमें एक-एक असुर के निवास करने की शंका न उठ सकी, अतः उन्होंने "शत्रु के एक ही बाण से एकसाथ ही तीनों की मृत्यु होने" के वरदान में कोई आसुरी अभिसन्धि न समझी तथा बड़ी सरलता से "एवमस्तु" का उच्चारण कर दिया। बाद में त्रिपुर में वास करने वाले असुरत्रय के अत्याचारों से उत्पीडित देवताओं के त्राहि-त्राहि करने पर वे आदिपितामह शोक से अत्यन्त विक्षुब्ध हो गए। स्वयं उन्होंने ही देवसभा में एक अपराधी की भांति, अपने द्वारा त्रिपुर को वर दिया जाना वर्णित किया। उन्होंने गिड़गिड़ाकर शिवजी से त्रिपुर के मारने की प्रार्थना की। और युद्ध में, श्रीकृष्ण की भांति, त्रिपुरारि के पृथ्वी रथ का सारथित्व स्वीकार किया। उनके ही सफल सारथित्व से त्रिपुर का नाश सम्भव हो सका। युद्ध के सारथी ब्रह्माजी, इस प्रकार, इस त्रिपुरवधकथानक के "सूत्रधार"[1] भी हैं।

कवि ने ब्रह्माजी के स्तुत्य तथा व्यावहारिक दोनों रूपों का निबन्धन श्री० च० में किया है। स्तुत्य रूप में वे श्रुतिकवि, पुराणकवि, सृष्टिकर्ता हैं। भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से उनकी उत्पत्ति हुई है। हंस उनके वाहन हैं। उनका एक नाम कमलासन भी है। व्यावहारिक रूप में वे त्रिपुर के वरदाता तथा त्रिपुरारि के पृथ्वीरथ के सफल चतुर्मुखसारथी हैं।

:क: :स्तुतिरूप: - ब्रह्मा ने प्रसन्न हो सबको तत्काल दर्शन दिया।

१- "सूत्रं धारयति यतस्तस्मात्सूत्रधारः स उच्यते"।

उनकी एकरूपा सृष्टि में मधुरादि अनेक रसों का आस्वाद होता है।
:श्लेषार्थ- ब्रह्मा:अपने काव्यगत प्रसादगुण के कारण त्रिलोक में पुराणकवि माने गए। उनके एकरूप काव्य में भी अनेक शृंगारवीरादिरसों का आस्वाद होता है। विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न होने के पूर्व, उस विष्णुकुक्षि में स्थित प्रलयकालीन चराचरकारणसृष्टि का सांगोपांग ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण ही ब्रह्मा जी अब :उत्पन्न होने के बाद: सकल सृष्टि को खेल-खेल में ही बना डालते हैं। ऐसे ब्रह्माजी आपकी रक्षा करें[१]।

'जिनके मानसरूपी स्वच्छ मानस में विहार करने की कामना से कितने ही हंसों ने उन :ब्रह्मा: का वात्सल्य नहीं प्राप्त किया। वे हंस अपना वेतन, ब्रह्मा के आसनकमल के मृणालनाल को खाकर, अनायास ही पा लिया करते हैं। भक्तिप्रणत ब्रह्मा जी आप :शिवजी: की स्तुति कर रहे हैं और स्ववाहन हंसों को संयमित भी कर रहे हैं। उन्हें स्वदर्शन प्रदान कीजिए[२]।

:ख: :व्यावहारिकरूप: - व्यावहारिकरूप में ब्रह्मा का प्रत्यक्ष देवसभा तथा युद्ध में रथ के सारथी रूप में होता है। देवसभा में श्रुतिकवि ब्रह्माजी ने गंधमादनस्थान में सादर शिवजी से निवेदन किया--

'देवताओं के मनोज्वर के पापों की भांति वे दैत्यत्रय भला किसको दुःसह ताप नहीं देते। हे त्रिनयन! वे तीनों दैत्य त्रिभुवन के शत्रु हैं, सर्वप्रथम अपने यमनियमों के कठोरतम पालन के द्वारा ऋषिमुनियों को भी पीछे छोड़ते हुए, दृढ़ निश्चय के साथ, मुझे प्रसन्न करने के लिए घोर तप करने लगे। उनके घोर

१- श्री० क०, १।२४ तथा -

मुकुन्दकुक्षेः कुहराभिमुख्यमलब्धवान्त इवाविभागम्।
यो लीलया विश्वसृष्टिमुन्मीलयत्यव्ययः स वोऽव्यात्'।। १।२५

२- 'यस्या यमानसपथे विजिही र्षयैव
याता विमानपदवीं कति नो मरालाः।
आपास्वमासनमृणालवल्ली -
मास्वाद्य वेतनमयाचितमाप्नुवन्ति'।। वही, १६।३०-३१

तप से त्रिलोक के बाधमान होने पर मैंने उन्हें दर्शन दिया । हाथ जोड़े हुए उन दैत्यों से मैंने कहा कि हे पुत्रों । मैं तुम्हारे तपश्चरण से अत्यन्त प्रसन्न हूं । मैं तुम्हें तुम्हारा अभीष्ट वर प्रदान करूंगा । तुम अपने तपश्चरण को समाप्त करो । इस प्रकार के कठोर तपों से तुम जो वरदान प्राप्त करना चाहते हो उसे निःशंक होकर कहो । उन दैत्यत्रय ने बड़ी विनम्रता से मुझसे कहा कि हे वरद । अन्य साधारण वरों से क्या होगा । आपकी सुवचनसुधा का पान करने के कारण बस हमलोगों की 'अमृत्यु' सिद्ध होवे । मेरे यह कहने पर कि मैं उस अमृत्युवर को नहीं दे सकता, उन दैत्यों ने पुनः सादर कहा- 'यदि आप हमें, इस प्रकार का तप करने पर भी अमरपद प्रदान नहीं करते तो ऐसा वर दीजिए कि हमतीनों की मृत्यु शत्रु के एक ही बाण से एक साथ ही होवे'। मेरे 'एवमस्तु' के साथ इस प्रकार का वरदान पाकर उन तीनों ने, यमराज की बुद्धि का अतिक्रमण करने के लिए, सोना, चांदी और लोहे के तीन नगर तीन लोकों में मय से बनवाकर, उनमें रहना प्रारम्भ किया । पद्मरागतोरण की प्रभाओं से संजात आग्नेय वप्र से परिवेष्टित स्वर्णपुरी को, जिसकी खिड़कियों पर दैत्य-सुन्दरियां बैठी थीं, दैत्यराज तारकाक्ष ने अपना निवासस्थान बनाया । श्वेत-भवनों :नक्षत्र, राजतभवनः के सम्पर्क से चन्द्रोज्ज्वल अनुपम राजतनगर में परम पराक्रमी कमलाक्ष ने अपना आवासस्थान बनाया । विद्युन्माली ने कृष्णायसमय लोहनगर को अपना आवास बनाया । वे तीनों 'त्रिपुर' कहाये जाकर लाखों वर्षों से लोगों को दुःसह दुःख देते हुए, उन :लोगों: की अपमृत्यु का हेतु हो रहे हैं । उनके नाममात्र भी सुनकर देवांगनाएं म्लानलोल लताओं-सी हो जाती हैं । वे तीनों धातुओं के समान प्रकुपित होकर, इस समय दुःसह सन्निपात-सा दुःख दे रहे हैं । इनकी शान्ति का उपाय बस हे भर्ग । आपकी कृपादृष्टि ही हो सकती है, अन्य कुछ नहीं । जो संतानकलताएं किसी समय क्रीडासक्त अप्सराओं की सूर्यकान्तमणियों की ऊष्मा को भी सहन नहीं कर सकती थीं, वे इस समय उन दैत्यों के सैनिकों के द्वारा विधूनित होकर अब दावाग्निज्वालाओं को भी, दुष्टावमान की तुलना में, सह्य समझ रही हैं'।[1]

1- श्री० च०, १७।४६-६४ तक ।

"त्रिपुर के दुष्ट सैनिक कल्पवृक्षादि को उखाड़ कर उठा ले गए हैं। दिग्गजों को भी वे पकड़ ले गए हैं। उनको उन सैनिकों ने उन कल्पवृक्षादि स्तम्भों में ही सर्परज्जुओं से गर्दन में बांध रक्खा है। परिताप से उनका मद सूख गया है। लज्जा से वे सिर नीचा किए रहते हैं, यद्यपि, उनके सिरों से भूभार उतर चुका है। अधिक क्या, वे समस्त पृथ्वी को निर्वीर समझकर हम देवों को शीघ्र नामशेष कर डालेंगे"[1]।

ब्रह्मा जी ने यहां संक्षेप में अपना और दैत्यों का सम्पर्क वर्णन है। देवताओं की ओर से त्रिपुर नाश की प्रार्थना भी शिव जी से की है।

सारथीरूप में वे युद्धस्थल में उपस्थित अवश्य हैं। और यमकुबेरवरुणेन्द्र की अश्वकाष्ठी को संयमित करते समय अपने चतुर्मुखत्व का गर्व भी धारण करते हैं, पर फिर भी हैं वे सर्वथा अलक्ष्य ही। उनका गर्व काव्यप्रौढोक्ति से ही सिद्ध हुआ है।

त्रिपुर के विनाश के पश्चात् ब्रह्मा जी सारथित्व छोड़कर अपना स्वरूप धारण करते हैं। शंकर की स्तुति करके अन्य देवों के साथ ही वे भी स्व-ब्रह्मधाम को चले जाते हैं।

विष्णु की स्तुति कवि ने प्रचुरमात्रा में की है। व्यवहारिक रूप में वे भगवान् शिव के बाण का रूप ग्रहण करते हैं। उनका व्यक्तित्व कहीं भी नहीं उभरा है।

इन्द्रवरुणकुबेरयम भी पुष्पीरथ के अश्वमात्र बने हैं। कहीं भी अपने देवव्यक्तित्व से प्रत्यक्ष नहीं हुए हैं।

गणेश तथा कुमार का वर्णन स्तुति तथा व्यवहारिक दोनों रूपों में हुआ है। दोनों ही शिवपुत्र विस्तार से संस्तुत हुए हैं। और दोनों ने ही

1- "किं वाच्यते तथापि त्रिजगत विनयातिक्रमाक्रान्तिभिस्तै-
भिः स्तम्भैः वीर्यीकृतकमरुद्धुम्बराः स्वर्गभूमिः।
सर्वं निर्वीरमुर्वीतलमथ मिलितं नाकिनां मन्यमाना:
क्रूरो नूनमस्मत्परिकरमचिरान्नाममात्रावशेषम्"।।श्री०च०, ६०।६६

युद्ध में अपूर्व कौशल दिखाया है। गणेश के हस्तिस्वरूप तथा कार्तिकेय के षडाननस्वरूप पर कवि ने अनेकों सुन्दर उत्प्रेक्षाएं की हैं। पर ये दोनों ही सर्वत्र संयुक्तशैली में हैं, प्रत्यक्ष ये कहीं भी नहीं होते। नहीं ही ये एक-भी वाक्य किसी से कहते हैं।

नन्दि तथा भृंगिरिटि ने युद्ध में अच्छी वीरता दिखाई है। पर ये सर्वत्र अप्रत्यक्ष ही।

कवि ने गणक्षोभ का विस्तृत निबन्धन किया है और गणों की वीरता का, युद्ध में भी, वर्णन किया है; परन्तु देवसैन्य का सर्वथा अभाव है।

प्रतिनायक त्रिपुर - प्रतिनायक के शास्त्रीय स्वरूप के विषय में आचार्य धनंजय का कथन है कि वह लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध, हठी, पापरुचि और नाना व्यसनों से समाक्रान्त हुआ करता है। सिंह से गज की शत्रुता के समान वह स्वाभाविक ही प्रधाननायक का शत्रु हुआ करता है[1]। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ सान्धिविग्रहिक भी उसे धीरोद्धत, पापकारी और व्यसनी बताते हैं[2]। उसकी पापप्रवृत्ति तथा धीरोद्धत स्वभाव ही वस्तुतः उसे प्रतिनायक का स्वरूप प्रदान करते हैं।

धीरोद्धतनायक अत्यन्त मायावी, आवेश और अनुशासन में अत्यन्त प्रचण्ड, चपल, अहंकारी, मदान्ध और सदैव आत्मश्लाघा में निरत रहनेवाला होता है[3]। उसे स्वप्न में भी प्रधाननायकादि के सुख एवं उत्कर्षादि सह्य नहीं हुआ करते। किसी महाकाव्य या नाटक में प्रतिनायक का, उचित समनुपात में, ऊर्जस्वि निबन्धन प्रधान नायक के उत्कर्ष का हेतु बन जाया करता है।

१- "लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः"। द०रू०, २।९

२- "धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः"।। सा० द०, ३।१३१

३- "मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः"।। सा० द०, ३।३३

प्रतिनायक के चरित्र का साक्षात् निबन्धन काव्य में प्राणप्रतिष्ठा का एक प्रधान स्तम्भ बन जाता है। और सबसे प्रधान तथ्य तो यह है कि प्रतिनायक के जीवन-वृत्त की तुलना से ही प्रधान नायक के चरित्रवृत्त में निखार आया करता है। उस :प्रधाननायक: के गुणदोष सुस्पष्टग्राह्य बन जाया करते हैं।

युक्तियुक्त तो यही प्रतीत होता है कि प्रतिनायक के अत्याचारादि से किसी महाकाव्य का प्रारम्भ करके उस :प्रतिनायक: के निधन से ही महाकाव्य का अन्त दिखाया जाय। पर संस्कृतमहाकाव्य-परम्परा उसे बीज[1] से प्रारम्भ करती है।

श्रीकण्ठ चरित महाकाव्य में प्रतिनायक त्रिपुर हैं। वे संख्या में तीन हैं, एक नहीं। और 'त्रिपुर' भी उनका लाक्षणिक नाम है, साक्षात्-रूप से वे हैं असुरत्रय- तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली। हेम, राजत और आयसदुर्गवाले आकाश, पृथ्वी तथा पाताल के तीन पृथक्-पृथक् पुरों में निवास स्वीकार करने के कारण वे 'त्रिपुर' नाम से सम्बोधित किए गए हैं। इतने पृथक्त्व से निवास करने में हेतु था उनका काल के प्रति भी मायापर होना। ब्रह्मा से उन्होंने वरदान पाया था कि 'उनकी मृत्यु शत्रु के एक ही बाण से एक साथ ही होगी'। उन्हें विश्वास था इतने पृथक्त्व से निवास करके न वे कभी एकत्र होंगे और न कोई देव भी शत्रु हो उन्हें एक ही बाण से मार सकेगा। पर, काल से भला किसका वश चला है(Man Proposes & God disposes).

त्रिपुरों का संक्षिप्तशैली में यत्किंचित परिचय कवि ने देवसभा में ब्रह्मा के मुख से करवाया है। वास्तव में ब्रह्मा ही उनके त्रिपुरत्व के उत्पादक हैं। ब्रह्मा के कथन से प्रतीत होता है कि तीनों असुर बड़े दृढ़ निश्चय वाले हैं। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे कितना भी कठोर तप कर सकते हैं। उनकी स्थिरता भी सराहनीय है। ब्रह्मा से सीधे अमरत्व न पाकर वे घबड़ाते नहीं हैं। प्रकारान्तर से उसे पाने का प्रयत्न करते हैं और, अपनी दृष्टि में, वे उसे :अमरत्व: प्राप्त कर ही लेते हैं। यहीं उनकी लोकातिशायिनी प्रतिमा का

१- 'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद् विसर्पति ।।
सा० द०
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते' । कारिका, ६।६५-६६

भी साक्षात्कार होता है। वह प्रतिभा या माया कि जिसके चक्कर में स्वयं श्रुतिकवि ब्रह्मा भी आ गए। उन्होंने :ब्रह्माने:, अन्त में, त्रिपुरत्वसाधक वरदान के प्रति 'एवमस्तु' कह ही तो दिया। आकाश, पृथ्वी तथा पाताल में स्वनिवासों की मन्त्रणा करके ही उन तीनों ने एक बाण से एककालिक मृत्यु का वरदान माँगा था। ब्रह्मा की कुशाग्रबुद्धि उस अभिसन्धि की गन्ध तक नहीं पा सकी। सम्भवतः त्रिपुर को इस प्रकार के वरदान की प्रेरणा हिरण्यकश्यप से मिली होगी। असुरप्रतिनायकों में त्रिपुर निश्चयही सबसे अधिक बुद्धिमान हैं।

त्रिपुर और उनके सैनिकों के अत्याचारों का वर्णन साक्षात् तो है ही नहीं। यहाँ तक कि पीड़ित देव स्वयं भी स्वदुःखों का वर्णन नहीं करते। ब्रह्मा पुरुहूतों, सन्तानकभीरुत्व तथा दिग्गजों की लाज का वर्णन करते हैं। उन्हें भय है कि शीघ्र ही देवों का समूलोच्छेद हो जायगा। ब्रह्मा के द्वारा देव-विपत्ति के इस प्रकार चित्रण से त्रिपुरों का प्रतिनायकत्व स्पष्ट नहीं हो पाया है। कारण यह है कि अपवादरूप यह वर्णित देवविपत्ति ब्रह्मा के मस्तिष्क में रावण-शिशुपालादि के द्वारा, देवों के प्रति, किए गए अत्याचारों की धुन्धली-सी स्मृति मात्र है। इसमें वास्तविकता की प्रतिच्छाया अत्यन्त स्वल्प है।

<u>कुशलशासक</u> - यद्यपि साक्षात् निबन्धन तो नहीं है, पर त्रिपुर के कुशल शासक होने में सन्देह नहीं रह जाता। असुर सैन्य को अपने त्रिपुरप्रभुओं पर अटल श्रद्धा और विश्वास है। राक्षसों को विविध अपशकुन हुए हैं। अपनी मृत्यु को निकट जान, त्रिपुर भी रण में साक्षात् उनका संचालन नहीं कर रहे हैं और गणों के द्वारा उन :राक्षसों: का विकट संहार किया जा रहा है, परन्तु, दैत्यगण प्राणपण से युद्धरत हैं। वे भागने का नाम नहीं लेते। उन्हें मर जाना स्वीकार है, पर अपने स्थान से हटना नहीं। ज्यों ही त्रिपुर युद्ध में उनके मध्य में साक्षात्रूप से आ जाते हैं कि युद्ध का स्वरूप अत्यन्त प्रलयंकर हो उठता है।

त्रिपुर का ब्रह्मा से वरदान प्राप्त करना और उन :त्रिपुरों: का देवताओं पर अत्याचार करना आदि उनके प्रतिनायकत्व की मात्र पूर्वपीठिका है। पूर्वपीठिका साक्षात् कथित हो या संसूचित, उससे उनके प्रतिनायकत्व में कोई

विशेष बाधा नहीं आती । उनके वास्तविक स्वरूप के सच्चे दर्शन तो हम युद्ध-भूमि में होते हैं । वे सच्चे धीरोद्धतस्वभाव के प्रतिनायक हैं । उन्हें कोई चिन्ता नहीं कि साक्षात् महाकाल शिव जी ने ही इस बार, उनके प्रति अभियान किया है । वे बिना कुछ सोचविचार किए, स्वसैन्य के साथ युद्धभूमि में आ जाते हैं । भयंकर देवदानव-युद्ध होरहा है । विपक्षी रूद्र से जीतने की कोई भी सम्भावना तक नहीं है । पर वीर त्रिपुर घनघोर युद्ध में निरत हैं । उनका उत्साह तथा साहस उनकी राक्षससैन्य में प्राण फूंक देता है । युद्ध की विकरालता और भी बढ़ जाती है । अन्ततोगत्वा अपने प्रधान प्रतियोधी शंकरको मारने के लिए वे तीनों एकत्र होते हैं । उनकी युद्धश्रद्धा प्रदीप्त हो उठती है । उनके शरीरों से महास्वेदाम्बुधाराएं बह निकलती हैं । उनकी भ्रुकुटि में काल, दान्तों में कड़कड़ाहट, शरीर में भीषणता और चित्त में क्रोध भर गया । उन्होंने बाणवर्षा से देवों के शरीरों को समाच्छादित कर दिया । उस युद्धसर में वे दनुजमकरगण गरज रहे थे । शस्त्रों से कटे हुए हाथ ही उस सर में कमल थे, भुजदण्ड :देवों के: श्वेतच्छत्र ही महाफेन, निर्मुक्त तलवारें ही शैवलमाला तथा लीला से नृत्यप्रसक्त वेकबन्ध ही भ्रमरचक्र थे[1]। छोड़े गए आग्नेयास्त्र के प्रतिरोध के लिए छोड़े गए वरुणास्त्र की घनमालाएं अग्निज्वालाओं से मिलकर भयंकर धूमान्धकार से आकाश को समाच्छन्न कर रही थीं । जिस पर उभयसैन्य की शरवर्षा और भी दिन में ही रात्रि का दृश्य उपस्थित कर रही थी । ऐसे ही क्रोधावेश में मदमत्त उन त्रिपुरों के एकत्र स्थित होने पर देवों ने साभिप्राय दृष्टियों से शिव जी को देखा । और बस शिव जी की बाणाग्निशय्या में, सदा के लिए, वह वीरत्रिपुरत्रयी सो गई । देवताओं की आर्ति का शमन हो गया ।

शिवपुराण से ज्ञात होता है कि त्रिपुर तारकासुर के ही पुत्र थे ।

१- "हस्तैरस्त्रच्छुदस्तैः प्रभुवर सितं भुजदण्डैर्विपाण्डु-
च्छत्रैश्चण्डफेनं स्फुटमसिभिरभिव्यक्तशैवालवल्लि ।
लीलानृत्यत्कबन्धभ्रमरकवनैर्भीमावर्तकं
संग्रामोर्वीसरस्ते दनुजमकरगणा लोडयन्तो जगर्जुः" ।। श्री०च०, २३।५३

तारकाक्ष ज्येष्ठ, विद्युन्माली मध्यम तथा कमलाक्ष कनिष्ठ था। पिता तारक का बदला लेने के लिए ही उन्होंने तप किया था[1]।

महाकवि मंखक ने तीनों असुरों के पृथक् व्यक्तित्व पर कहीं भी कोई प्रकाश नहीं डाला है। तीनों एक साथ तप करते हैं। ब्रह्मा तीनों को एक साथ ही वरदान प्रदान करते हैं। तीनों की मृत्यु भी एकही बाण से एक साथ ही होती है। आदिसे अन्त तक असुरत्रिपुरी का प्रारब्ध एक साथ ही है।

सर्ग १२ के प्रथम १२ श्लोकों में कवि ने कामदेव का संनहन- :रण-सज्जा: कुलक तथा श्लोक १३ से २४ तक रतिप्रणयवाक्य कुलक की रचना की है। संनहनकुलक में कामदेव अपने धनुषबाणादि इसलिए संवारते हैं कि अब वे मानवतियों तथा निस्पृह त्यागी-वैरागियों को बिना समूल नष्ट किए पानी तक न पिएंगे, तथा रतिप्रणयवाक्य कुलक में रति स्वपति कामदेव से अनुनयपूर्वक मानवती स्त्रियों तथा तपस्वियों को न छेड़ने की प्रार्थना करती है। इन दोनों कुलकों का प्रधान कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं। यह केवल कवि की अद्भुत कल्पना के साक्षी भर हैं। अतः प्रधान चरित्रों में इनकी कोई गणना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार कृष्णाभिसारिका, श्वेताभिसारिका तथा "दूतीवाक्यकुलक" प्रभृति वर्णन भी किसी चरित्रविशेष के अन्तर्गत नहीं आते।

विजया तथा गणस्त्रियाँ आदि का नामोल्लेख मात्र हुआ है। वे साधारणरूप से पुष्पावचयादि करती हुई दिखाई गई हैं। कवि ने उनका मानसचित्रण करते हुए उनकी पानकेलि तथा कामक्रीडा का विशद वर्णन किया है। उनका वैयक्तिक चरित्र सर्वथा लुप्तप्राय हो गया है।

पच्चीसवें सर्ग के अलंकार की पंडित-सभा के कवियों तथा आचार्यों का भी प्रधान कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः उनका चरित्र-चित्रण सर्वथा व्यर्थ होगा। कवि ने स्वयं ही प्रत्येक कवि तथा आचार्य की प्रधान-प्रधान चारित्रिक एवं विद्वता सम्बन्धी विशेषताओं को क्रमशः बताया है।

१- शि० पु०, २।५।१७-८

महाकवि कालिदास के हिमालय वर्णन के समान, महाकवि मंखक ने भी कैलास का वर्णन एक उदार एवं पवित्र-सा ही किया है। कैलास भी अपने स्वामी शिव के प्रतिभागिक एवं श्रद्धा सराहनीय हैं।

देवमहाकाव्य होने के कारण श्रीकण्ठ चरित में ब्रह्मादि देवों की स्तुति ही प्रधान रूप से की गई है। या तो देवगण स्वतः कोई कार्य सम्पादित नहीं करते अथवा उनके द्वारा कृत यत्किंचित भी कार्यमात्र संक्षिप्तशैली में वर्णित है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि मंखक ने शास्त्रीय परम्परा का पालन करते हुए प्रधाननायक तथा अन्य देव-दानव चरित्रों का मानव-वर्णन के अनुसार ग्रथित तो अवश्य किया है, परन्तु, उन :कवि: की दृष्टि में मनुष्येतर प्रकृतियों का अप्रत्यक्षत्व सदा जागरूक रहा है। अतः कवि ने स्ववर्ण्य चरित्रों का, उनकी दैवीशक्तियों के अनुकूल ही वर्णन किया है। उन अमानव प्रकृतियों तथा उनके अमानव कार्यों को सर्वथा 'अप्रत्यक्ष-संवेद्य' ही सुरक्षित रखा है।

वस्तु-वर्णन

(Nature Description)

साहित्य में प्रकृति का अर्थ वनस्पति जगत ही नहीं होता । सूर्य, चन्द्र, सागर, पर्वत, नक्षत्र, ऋतुएं, पशु, पक्षी, लोकलोकान्तर, दिशाएं और सायं-प्रातः उषाकाल आदि सब प्रकृति के अन्तर्गत ही आते हैं । साथ ही मूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति का वैसा कुछ चित्रण साहित्य में नहीं किया जाता । इन सूर्यचन्द्रादि के उपयोगितावादी अथवा भौतिकविज्ञानवादी स्वरूप से साहित्यिक का कोई प्रयोजन नहीं होता । दार्शनिक उद्गार भी सहृदय साहित्यिक की दृष्टि में काव्य के अन्तर्गत नहीं आते । उनसे रस-शान्त का भी, परिपाक नहीं होता । मनुष्य चतुर्दिक् प्रकृति से घिरा हुआ है । वह उसके उपयोगितावादी साहचर्य का प्रतिक्षण अधमर्ण है । परिवर्तनक्रम के अनुसार समय-समय पर प्रकृति के सभी रूप-सुचित्र मनुष्य के मानस-पटल पर उतरते रहते हैं । वह उनसे यथेष्ट रूप में प्रभावित भी होता है । फिर भी, सतत अभ्यस्त हो, वह प्रकृति के इन सामयिक चित्रों के प्रति उदासीन ही बना रहता

वसन्तागम के समय प्रकृति का प्रत्येक कोना प्रफुल्लित हो उठता है । वन-पर्वत लहलहा उठते हैं । सरिता-सर प्रफुल्ल कमलों से भर जाते हैं । पशु-पक्षी आनन्द की हिलोरें लेने लगते हैं । इसी प्रकार समाज अथवा मानव के जीवन में भी एक समय वसन्त आता है । तब उसकी क्रीडा-प्रकृति विकसित होती है । उसकी महत्वाकांक्षाएं आकाश को चूमती हैं । उस समय प्रकृति का स्वरूप उसके लिए सौन्दर्यपूर्ण होता है । वह मस्ती में कांटों से भी छेड़खानी करता चलता है । गालियों के मधुर उपहार उसके समक्ष सुस्वादु पक्वान-से लगते हैं । मनुष्य के इसी वसन्तकाल की चटपटी वाणियां हैं- काव्य । काव्य में प्रकृति के मनोविनोदी स्वरूप का ही चित्रण होता है ।

मनीषा का क्रमप्रति सतत प्रवाहित होता रहा है । वैदिकमनीषा स्वच्छन्द व निर्मल थी । इसीलिए उसमें पाप-पुण्य के बन्धन भी नहीं थे । प्रकृति का प्रत्येक दृश्य शुद्ध-सात्विक आह्लाद के साथ-साथ निर्मल कर्म-प्रेरणा से ओत-

प्रोत था[1] । मध्यकाल की मनीषा धर्माधर्म-शृंखलाओं में जकड़ी हुई अवसर की ताक-झांक करती रही है । साहित्यिक मानदण्ड भी इसी काल की मनीषा की भेंट हैं । ऋषियों की तपस्विनी मनीषा को इस काल में राजदरबार के शृंगार की शरण टटोलनी पड़ी थी । बीसवीं शताब्दी की मनीषा स्वच्छन्द वायुमण्डल में सांसें ले रही है । प्रकृति भी स्वच्छन्द हो चली है । स्वच्छन्द-स्वतन्त्र प्रकृतिचित्र आजकल साहित्यिक के अध्ययन-कक्ष की शोभा बढ़ाते हैं ।

प्रकृति के कोमल रूप तो रमणीय लगते ही हैं, उसके भीषण स्वरूप भी मानव के मस्तिष्क में मधुर आन्दोलन उत्पन्न करते हैं । प्रकृति के कोमल-भीषण छायातप में वह अहर्निश सुख-दुःख की आंखमिचौनी खेलता रहता है । प्रकृति कभी तो मानव विचार भावों का आलम्बन बनती है और कभी-कभी अपनी असीम विभूतियों से मानव के उन-उन विचार-भावों का क्रमशः उद्दीपन करती रही है । स्वतन्त्ररूप में, आरोपित :कृतत्वादि: रूपों में तथा 'समासोक्ति' भाव से वह आलम्बनत्व धारण करती है । उसके वर्ण्यरूप के 'मानवीकरण' तथा 'स्वभावोक्ति' रूपात्मक दो स्वरूप होते हैं । स्वभावोक्ति उपयोगितावादी अथवा वैज्ञानिक गवेषणात्मक भी हो सकती है । कभी यह कर्म का निरूपणमात्र हो सकती है और कभी स्वरूपवर्णन परक । कर्म-स्वरूप उभयात्मक भी हो सकती है । मेघ-पवन-कोकिलादि आरोप यदि कार्यात्मक हैं तो भ्रमरकुलादि व्यंग्यात्मक है । दार्शनिक आरोपों का तो कहना ही क्या । समासोक्ति आरोपण के कई रूप होते हैं — १- व्यवहारसमारोप, २- धर्म-समारोप । लौकिकवस्तु में लौकिकवस्तु व्यवहार या धर्मसमारोप, लौकिकवस्तु में सर्वथा अलौकिक अथवा शास्त्रीय व्यवहार या धर्मसमारोप, इसी प्रकार अलौकिक

१- "प्र पर्वतानामुशती उपस्था-
दश्वे इव विषिते हासमाने ।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे
विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते" ॥ ऋ० ३।३३।१

: 'विपाट् और शुतुद्री नदियां बड़ी कामना के साथ, पर्वतों की गोद से, दो घोड़ियों की भांति घुड़शाला से छूटकर बदाबदी करती हुई, श्वेत दो वत्सला गऊओं-सी जलों के द्वारा स्पर्धायमान हो रही हैं ।' : नदियां चलने में घोड़ियों के समान तथा सिंचनादि परोपकार करने में वत्सला गऊओं के समान हैं । वेग और परोपकारिता ।

वस्तु में अलौकिकवस्तु व्यवहार या धर्मसमारोप और अलौकिक वस्तु में लौकिक-वस्तु व्यवहार या धर्म-समारोप। आलम्बन रूप में प्रकृतिचित्रण की परिणिति 'भाव' के अन्तर्गत आएगी।

उद्दीपनरूप में वर्णित प्रकृति के प्रति परम्परा प्राप्त कुछ 'कविप्रसिद्धियां' प्राचीन काल से चली आरही है। महाकवि राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में इनका अच्छा संग्रह किया है। कभी-कभी संयोगवश भी प्रकृति के द्वारा सहृदय का भावोद्दीपनत्व सम्पन्न हो जाता है। चन्द्रमलयपवनादि जहां अनुकूल परिस्थिति में अनुकूल भावों का उद्दीपन करते हैं, वहीं प्रतिकूल परिस्थिति में वे ही उन्हीं ही भावों का प्रतिकूल उद्दीपन भी करते हैं। फिर भी वे सहृदय के मनोविनोद को ही सिद्ध करते हैं।

कवि प्रकृति के इन सभी उपरोक्त चित्रण प्रकारों का कभी तो मात्र एक रेखाचित्र उपस्थित करता है और कभी उनका एक पूर्ण संश्लिष्ट चित्र। रेखाचित्र संख्य होते हैं और संश्लिष्टचित्र दर्शनीय। रेखा अथवा संश्लिष्टचित्र साधारण भाषा में भी हो सकते हैं और आलंकारिक भाषा में भी। चित्रण साधारण वर्णनात्मक भी हो सकता है तथा गम्भीर भावात्मक भी। सभी चित्र स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध अथवा कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध हुआ करते हैं।

वैदिक साहित्य में भी प्रकृति-चित्रण यथेष्टरूप में मिलता है। विशेषता यह है कि वेद में ऊषा, सूर्य, मरुतियां तथा अन्य प्राकृतिक शक्तियों का 'मानवीकरण' करने के स्थान पर कुछ ऐसा 'दैवीकरण' किया गया है कि आज का पाठक उस वर्णन के अतिरंजित स्वरूप से भयभीत हो उठता है। उसकी धारणा है कि 'वैदिकऋषियों' ने भय से विह्वल होकर ही इन सूक्तियों को उद्गारित किया होगा[1]। प्राकृतिक शक्तियों का यह 'अधिदैवतस्वरूप' 'सर्वात्म' तथा 'अद्वैतवाद' से अनुप्राणित है। अन्य वैदिक साहित्य में प्रकृति का वर्णन नहीं-हीं-सा हुआ है।

१- वैदिक काल के ऋषि प्राकृतिक शक्तियों से सभीत होने के कारण उनकी अर्चना-वन्दना करते थे, ऐसी धारणा संकीर्ण ही नहीं भ्रान्त भी है। ऊषा, मरुत, इन्द्र-वरुण जैसे सुन्दर गतिशील, जीवनमय और व्यापक प्रकृतियों के मानवीकरण में जिस सूक्ष्मनिरूपण, सौन्दर्यबोध और भाव की उन्नत भूमि की अपेक्षा रहती है वह अज्ञानजनित आतंक में दुर्लभ है।
कृ० प० उ०

महाभारत घटनाप्रधान संग्रहात्मक महाकाव्य है। दस-पांच प्राकृतिक चित्र विशाल कलेवर में छिपे होने के कारण सहृदयाह्लाद का हेतु बनने से वंचित ही रहते हैं। इस महाकाव्य में प्रकृति का चित्रण प्रसंगत: हुआ है, साहित्यिक रूप में नहीं। रामायण की स्थिति महाभारत से सर्वथा भिन्न है। इस महाकाव्य को प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी 'आदिकाव्य' कहना ही उचित होगा। इसका प्रकृति-चित्रण इतना पूर्ण, सरस, हृदयग्राही तथा विविध है कि सिवाय बाण के अन्य कोई कवि वाल्मीकि की छाया तक भी नहीं पा सका है। महर्षि वाल्मीकि की स्वच्छ-पुनीत ऋषि-प्रकृति का स्त्रैणप्रकृति-चित्रण से क्या सम्बन्ध? रामायण में प्रतिविषय का प्रत्येक चित्र स्वाभाविक है, पूर्ण है और साहित्यिकता का उज्ज्वल आदर्श है। अतिरंजित दैवीकरण एवं शृंगारप्रधान समासोक्तियों-अप्रस्तुतविधानों के मध्य का यह प्रकृतिदिग्दर्शन अनोखा है। रामायण में अन्त:प्रकृति :मानव: के सदृश ही बाह्यप्रकृति का भी सर्वथा आदर्श-स्तुत्य चित्रण हुआ है।

संस्कृत के साहित्यिक महाकाव्यों और नाटकों की परम्परा में प्रकृति का चित्रण अपनी एक विशिष्ट परम्परा के अनुसार हुआ है। इनमें प्रकृति ने मानव के अत्यन्त निकट का साहचर्य प्राप्त कर लिया है। नखशिखवर्णन में प्रयुक्त अप्रस्तुत-विधानों की बहुलता तथा प्रकृति के प्रत्येक दृश्य में मानव-भावनाओं का आरोपण इसी साहचर्य को प्रमाणित करते हैं। इनमें भी शृंगार-भावना ही प्रधान है। गद्यसम्राट् बाणभट्ट तथा प्राकृतकाव्य 'सेतुबन्ध' के कर्ता प्रवरसेन किन्हीं अंशों में इसके अपवाद हैं। कालिदास कविकुलगुरु हैं। उनके

इसके अतिरिक्त मनोविकार और उनकी अभिव्यक्ति ही तो काव्य नहीं कहला सकती। काव्य की कोटि तक पहुंचने के लिए अभिव्यक्ति को कला के द्वार से प्रवेश पाना होता है।

हमारे वैदिक कालीन प्रकृति-उद्गीथ भाव की दृष्टि से इतने गम्भीर और व्यंजना की दृष्टि से इतने पूर्ण और कलात्मक हैं कि इन्हें अनुकृत न कहकर स्वत: प्रकाशित अथवा अनुमानित कहा गया है। महादेवी वर्मा 'दो शब्द' 'प्रकृति और हिन्दी काव्य' पृष्ठ १०, डा० रघुवंश द्वारा रचित।

अप्रस्तुत विधान तथा प्रकृति-चित्र, गम्भीर अध्यवसाय, निरीक्षण तथा अत्यन्त सन्तुलित दृष्टिकोण की देन हैं। उनका काव्यसौन्दर्य अनुपम है। कालिदास के प्रकृति-चित्र काव्यकला के मधुर शाणित रत्न हैं। इनमें अपार हृदयग्राह्यता तथा मनोरंजकता है। महाकवि भवभूति के कोई भी महाकाव्य नहीं मिलते। नाटक में प्रकृति का वैसा कुछ यथेच्छ-उन्मुक्त चित्रण नहीं किया जा सकता। फिर भी वे पवित्रता-शालीनता में आदि कवि वाल्मीकि के निकट तक पहुंचते दीखते हैं। उनकी प्रकृति सागर की भांति गम्भीर, विशाल तथा उदार है। उनमें भी स्त्रैणता नहीं है। भारवि में अपेक्षाकृत, स्त्रैणता कम है। उनका काव्य ओजस्विता से दीप्तिमान है। :'माघे सन्ति त्रयोगुणाः':, माघ में निःसन्देह ही सभी गुण विद्यमान हैं। फिर भी उनमें लालित्य की मात्रा प्रधान है। रत्नाकर तथा हर्ष एक ही कोटि के महाकवि हैं। दोनों ही शृंगारप्रधान कवि हैं। रत्नाकर, माघ तथा हर्ष में पाण्डित्यप्रदर्शन की भावना अत्यधिक है। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से महाकवि मंखक साधारणतया किसी कोटि विशेष में नहीं रक्खे जा सकते। शृंगार-भावना का इनमें भी अच्छा पुट है। पाण्डित्यप्रदर्शन से यह अछूते नहीं हैं। अन्य कवियों की कल्पनाओं को पकड़कर इन्होंने नवीन उड़ानें भरने का भरसक प्रयत्न किया है। 'कर्णिकार मंख' इनकी काव्यांकित उपाधि है। कल्पना सूक्ष्म एवं सजीव है। साधारणतया हर प्रकार का प्रकृति-चित्रण इनके 'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य में मिल जाता है। कैलास[1], वसन्त[2], वन-विहार[3], दोला-क्रीडा[4], कुसुमावचय[5], जलक्रीडा[6], सन्ध्या[7], चन्द्र[8], समुद्र[9] तथा काश्मीरवर्णन[10] (आलम्बन) प्रधान प्राकृतिक वर्णन हैं।

संस्कृत महाकाव्यों में प्रकृतिचित्रण मानव-भावनाओं के अत्यधिक सादृश्य में तो हुआ ही है, साथ ही इन महाकाव्यों में, घटनाओं के स्थान पर, प्राकृतिक वर्णनों का अत्यधिक बाहुल्य भी है। कभी-कभी तो ऐसा विदित-सा होता है कि कवि ने नायकनायिका-युक्त किसी कथानक का मात्र सहारा लिया है,

---

१- श्री० च०, सर्ग ४, । २- सर्ग ६ । ३- सर्ग ७ । ४- सर्ग ७। ५४-६६ ।
५- सर्ग ८ । ६- सर्ग ६ । ७- सर्ग १० । ८- सर्ग ११ । ६- सर्ग १२। ३६-५५।
१०- सर्ग ३ ।

वस्तुत: तो वह सन्ध्या, चन्द्रोदय एवं सर-सरिता-सागर का वर्णन करने का ध्येय लेकर शीलव-महाकाव्य को रचने के लिए कटिबद्ध हुआ था।

किसी महाकाव्य में घटनाओं का बाहुल्य अध्येता के कुतूहल को आद्योपान्त सजग रखता है, और यदि वे घटनाएं अतिरंजिता से अनुप्राणित हों तो फिर कहना ही क्या। इस कुतूहलसंवर्धकता के प्रभाव से, वर्तमान युग में, कौतूहलपूर्ण पुस्तकों की बिक्री पर्याप्त मात्रा में हो जाती है। घटनाओं का आधिक्य मनोरंजकता भी बढ़ाता है। किसी भी पात्र का चरित्र घटनाओं में पड़कर ही निखरता है। चरित्रगत गुण का पता भी घटनाओं के द्वारा ही चलता है। संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों तथा आख्यानकों :कादम्बरी: के मूल में ही इन सभी सम्भावनाओं की समाप्ति हो जाती है। वहां महाकाव्यों का उद्देश्य है-- रसचर्वणा तथा विनेयाविनेयत्व का उपदेश। उपदेश के विचार से नायक का वंशोत्पन्न अथवा दिव्य होना आवश्यक है। उसके भ्रूसंकेत मात्र से उसके सब कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। दैवीनायक तो केवल लोकमर्यादा की रक्षा के लिए ही लोकोपकरणों को स्वीकार कर लेता है। उसे घटना-बाहुल्य से क्या प्रयोजन ? रस-चर्वणा के लिए वर्णनाधिक्य आवश्यक है। उसमें भी रसराज शृंगार के विभावानुभावसंचारियों के निबन्धन की बहुलता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। यदि सम्पन्न राजन्यवर्ग को शृंगार-भावना से परितृप्ति प्राप्त होती है तो सात्त्विक विद्वद्वृन्द को प्रकृति के मधुर चित्रणों से। इन दोनों वर्गों के "अन्त:सुखाय" की पूर्ति के लिए संस्कृतमहाकवियों ने लेखनी उठाई है। साधारण जनता अथवा पुस्तकविक्रय से अधिकाधिक धनप्राप्ति उनके उद्देश्य नहीं रहे हैं। उन्होंने इन धनिक-विद्वान्वर्गों के मन:सन्तोष के लिए एक ही महाकाव्य में यथेष्ट अवसर निकाल कर शृंगार और प्रकृति का समन्वित चित्रण किया है। साथ ही शृंगार तथा प्रकृति की अन्योऽन्य उद्दीपकता भी स्वत:

१- "परानपेक्षो विजय: पिनाकिनस्तथापि संवर्णयतिस्म तच्चमू: ।
नभोऽनुमात्रेण विनिष्पतो रवे: पुरोऽधकान्तैरपि कीर्त्यते" ॥ शी०व०, २१।२

"देव:सोऽयमिन्दुमनुरूपैकं धोरपारं
तस्यांजले त्रिभुवनदंकारचारितमुद्र: ।
अन्तो नैसर्गिकमधुरिमोपाध्यायातामुक्तं
नन्दा नायो जनितकृतयैविक्रियामाद्रियन्ते" ॥ वही, २४।३८

सिद्ध ही है। शृंगार तथा प्रकृति के अतिशय निबन्धन में कवि का 'अहं' और पाण्डित्यप्रदर्शन की भावना या परम्परा भी विशेष कारण रहे हैं। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संस्कृत महाकाव्यों का वर्तमान काल के परिवर्तित सामाजिक मापदण्डों से मूल्यांकन सर्वथा उपहासास्पद ही होगा। इनकी वस्तुस्थिति ही कुछ भिन्न है।[1]

महाकवि प्रवरसेन का प्रकृतिचित्रण अत्यन्त प्रखर है। वह आधुनिकता के अत्यन्त निकट हैं। बाण आधुनिकता के किंचित् निकट होकर भी अत्यन्त मधुर हैं। कालिदास और भवभूति में प्रकृति तथा मानव का साहचर्य पराकाष्ठा को पहुंच गया है। रत्नाकर, भारवि, माघ एवं हर्ष अधिकाधिक 'परम्परा' के पुजारी हैं। कल्पना की उड़ान, सूक्ष्मता, नवीनता तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना सबमें समानमात्रा में पाई जाती है।

महाकवि मंखक में सर्वसामान्यगुण तो प्रचुर मात्रा में है ही, उनमें नवीन उद्भावना यथेष्ट है। परम्परा का भी अच्छा प्रभाव लक्षित होता है। श्री० च० में भी प्रकृति का चित्रण सर्वत्र शृंगाराच्छादित नहीं हुआ है। कुछ उत्कृष्ट स्वतन्त्रचित्र भी हैं। यमक एवं क्लिष्ट श्लेष का सर्वथा अभाव है।

'कैलास' - महाकवि मंखक ने कैलास का आलम्बन प्रधान वर्णन बहुत ही भव्य किया है। परिपाटी प्राचीन है परन्तु आधुनिकता के अत्यन्त निकट। पवित्र अनुष्टुप् छन्द में हिमाच्छादित कैलास का वर्णन पाठक के हृदय में पवित्र-शुभ भावों का संचार करता है। भारवि,[2] माघ,[3] आदि कवियों की तुलना में मंखक ने एक भी श्लोक ऐसा नहीं लिखा है कि जिसमें कामान्ध जन कैलास की पवित्र गुफाओं-कन्दराओं का संकेतस्थल-उपयोग कर रहे हों। अथवा कैलास

१- 'इनमें प्रस्तुत जीवन सरिता का गतिशील प्रवाह न होकर सागर की उत्ताल हिलोरें है, जिसमें गति से अधिक गम्भीरता और प्रवाह से अधिक व्यापकता है।
डा० रघुवंश, 'प्रकृति और काव्य' :संस्कृतखण्ड:, पृ० १७५, अंतिम पंक्तियां।

२- किराता० ५।५, १९, २३ + २८।

३- शिशुपालवध० ४।२७, ३८, ४०, ४२, ४५, ५९, ६२, ६६-६७। कुमारसम्भव० १।१०, ११-१२

का उद्दीपनविभावान्तर्गत वर्णन वर्तमान पाठक के मन में अरुचि उत्पन्न करता हो। मानव-स्त्रैण भावनाओं का आरोपण शायद ही किसी-किसी श्लोक में मिल भी जाय फिर भी अश्लीलता का सर्वथा अभाव है। कवि कैलास की हिम-स्फटिक-धवलता से मन्त्रमुग्ध-सा हो गया है। कैलास की दुग्धोपम ज्योत्स्ना-श्वेतता का वर्णन महाकवि मंखक से बढ़कर संस्कृत के ही क्या किसी भी अन्य कवि ने नहीं किया है। कैलास की श्वेतता-समृद्धि सर्वथा अनुपम है।

भक्तराज कैलास का शिवार्चा और सेवा-प्रीत शम्भु का उसको सारूप्य-दान भी अपने ढंग के अनूठे एवं स्तुत्य हैं। कवि ने छोटे-छोटे सजीव चित्रों की शृंखला से ही कैलास की भव्यशृंखलाओं को व्यंजित करने का प्रयत्न किया है। उपमा, पदलालित्य एवं अर्थगौरव[1] में सब कवियों को पीछे छोड़ जाने वाले माघ को भी काश्मीर ने कच्छ-खम्भात :गुजरात: में फैंक दिया है। अनुष्टुप् छन्द, प्रसादमयी भाषा तथा कैलास-धवलिमा के पावनप्रयाग- 'श्रीकण्ठ चरित' को लिखकर महाकवि मंखक ने पाठक की मुक्ति-भुक्ति को सुलभ सुवाच्य बना दिया है। वर्णन की यथार्थता यह है कि कवि ने कैलास से निकलती हुई किसी नदी का वर्णन नहीं किया है। वर्णन में कैलास के पौराणिक महात्म्य का ही प्राधान्य है। भौतिक स्वरूप का वर्णन उदात्तालंकारादि[2] अलंकृत शैली में है। उदाहरण-स्वरूप कुछ अनुपम-अमूल्य चित्र देखिए-

श्वेतता - 'चन्द्रमा की सान्द्र किरणों-जैसे भासवाला तथा धनपति कुबेर की पत्नी के मधुर हास-सा कैलास पर्वत, शिव जी का निवास-स्थल है। स्वच्छ स्फटिक शिखरों में मृग-प्रतिबिम्बित यह कैलास तो ऐसा लगता है कि मानो ब्रह्मा ने, कैसे, इसे शशि-राशि से ही निर्मित किया हो'[3]। आलम्बनरूप संश्लिष्टचित्र:।

१- उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

२- 'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम् - अभूतमहापुरुषचरितं च ।अलं०:काव्यमाला:पृ० २३०-२३१।
'उदात्तं वस्तुनः सम्पत् - महतां चोपलक्षणम्' ।काव्यप्रकाश १०।११५

३- 'शशिशुभ्राः किरन्भासो हासो धनपतेर्दिशः।
गिरिरस्तीह कैलासो निवासो वृषलक्ष्मणः ॥
बिम्बितैर्यो मृगैर्भाति स्फुटस्फाटिकसानुषु।
कौतुकेन कृतो धात्रा राशिभिः शशिनामिव' ॥ श्री० क०, ४।१-२

"कैलास की आकाश-व्यापिनी शुभ्ररश्मियाँ ब्रह्मा के आसनपद्म के मृणाल-नाल की शोभा धारण करती हैं :ब्रह्मा स्वर्ग में रहते हैं। स्वर्ग पृथ्वी से ऊपर स्थित है। स्वर्गस्थित ब्रह्मा के आसन-कमल का मृणालनाल स्वभावत: ही अध-आगत होना चाहिए। मृणालनाल शुभ्र-सरल होता है। रश्मियाँ भी शुभ्र-सरल हैं। अत: वे ब्रह्मासनपद्मनाल ही हैं:। शिव जी के मस्थे पर स्थित भी चन्द्र इस कैलास की दुग्धधवल रश्मियों के लाभ के कारण :इन रश्मियों को ही क्षीर-सागर समझ कर: :स्वयं को सचमुच क्षीरसागर में ही निवसित समझता हुआ: क्षीरसागर में निवास करने की अपनी इच्छा को नहीं त्याग पाता- यद्यपि वह क्षीरसागर से दूर शिव जी के मस्थे पर रह रहा है। :समुद्रमन्थन के समय चन्द्र भी समुद्र से ही निकला था:। अपनी चतुर्दिक् प्रसरणशील रश्मियों के द्वारा कैलासपर्वत दिशा-नायिकाओं के मस्थे में कर्पूर के शुभ्र तिलकबिन्दु-से लगाता प्रतीत होता है। :प्रसरित रश्मिसमूह कर्पूर-तिलक जैसा प्रतीत होता है:। अपनी ऊँची-बड़ी-व्यापक शृंगमालाओं के द्वारा, पूर्ण श्वेतशोभाढ्य कैलास, पृथ्वी के भार को धारण करने में स्वयं को असमर्थ नहीं बताता, अर्थात् :अपनी विशालता से: पृथ्वीभार को धारण करने में अपने को पूर्णतया समर्थ पाता है, ऐसा वह :कैलास: चारों ओर नवसुधा-ज्योत्स्ना को प्रकाशित करता रहता है। :श्लेष:। कैलास की शुभ्र किरणों के द्वारा वर्षाकालीन श्याममेघ की कालिमा आत्मसात कर लिए जाने के कारण वह :वर्षा-मेघ: शरदकालीन मेघभाव को नहीं छोड़ता।[1] :वर्षामेघ कैलास-श्वेततावश शारदपयोद ही प्रतीत होता है:।

१- रश्मयोऽभ्रंकषा यस्य भवन्ति सरलश्रियः ।
मूले मृणालनालत्वं ब्रह्मासनसरोरुहः ॥
यदंशुद्योतितः संगाद्व्योम्नेऽपि धूर्जटेः ।
नेन्दुः क्षीराब्धिकल्लोलनिवासप्रीतिमुज्झति ॥
सर्वतोऽपि प्रसृत्याद्रिर्यस्यकास्ति गभस्तिभिः ।
लिखन्मुखेषु ककुभां कर्पूरस्थासकानिव ॥
पादैर्महद्भिराक्रान्तविश्वम्भरो यः सितद्युतिः ।
बिभर्ति क्ष्माभरात्मानं मोक्तुं नवसुधाभरम् ॥
जहाति यस्य त्विड्भिः कवलान्तकालिमा ।
जलदः प्रावृषेण्योऽपि न शारदपयोदताम् ॥ श्री० च०, ४।३-७

स्फटिकरश्मियों के परिमण्डल से घिरे हुए कैलास की, गंगा :श्वेत परिमण्डलरूपा: प्रदक्षिणा-करती हुई-सी लगती है :क्योंकि वह श्वेतता में कैलास से हार गई है:।[1] कैलास-प्रदेश में कैलास की स्फटिक-शुभ्रता के कारण कालीरात्रि दिन-सी और दिन, शिव जी के कण्ठ की श्यामिका-आभा से आभासित होकर, रात्रि-सा प्रतीत होता है। :तुलनात्मक कृष्णश्वेत वर्णोत्कर्ष का अभूतपूर्व निबन्धन।[2] :

"हरिणलांछन चन्द्रमा की किरणों के समान कान्तिशाली अपनी स्वच्छ-धवल रश्मियोंरूपी यश:छटा को चारों ओर बिखेर कर कैलास अशेष पर्वतों को राजा वाला बनाता है। :श्वेताभा, श्वेत यश-सी बिखर कर कैलास को सब पर्वतों का राजा, बलात् भी, मनवाये दे रही है:। ताण्डवप्रसक्त शिव जी के चरणपात से उद्धत कैलास पर्वत के श्वेत रज:कणों को, प्रतिरात्रि, आकाश तारों के रूप में धारण करता है।[3] :रज:कण ही तारे हैं:। दिशाओं में दूर तक प्रभापुंजों को फैलाये हुए यह कैलास, मानसरोवर में बैठा हुआ विश्वलक्ष्मी का क्रीडाहंस-सा लगता है। :कैलास मानसरोवर के निकट ही स्थित है:। अत्युच्च स्फटिक शृंगमालाओं में यत्र-तत्र प्रविष्ट नवश्यामल मेघखण्ड कृष्णागरुपंक-से लगते हैं। अभ्रसंकुलित स्फटिक शिलाएं कैलास की प्रशस्तिपट्टिकाएं-सी शोभती हैं। स्फटिकावदात शृंगशृंखलाओं में प्रतिफलित सूर्यरश्मियां, त्रिनेत्र-प्लुष्टविश्वपापियों की भस्मराशि-सी लगती हैं।[4] कैलास की प्रभामाला द्यावा-पृथिवी की सीमन्त रेखा :मांग:, दिशाओं का रेशमी अवगुण्ठनपट :दुपट्टा:,

---

१- "आबद्धपरिवेषस्य रश्मिभि: स्फटिकाश्मनाम्।
प्रदक्षिणप्रवृत्ते राजते यस्य जाह्नवी"॥ श्री० च०, ४।१०

२- "यत्र स्फटिकभागोभिर्भर्गस्य च गलत्विषा।
रजन्यपि दिनंमन्या रात्रिंमन्यं भवत्यह:"॥ वही, ४।१२

३- "दिक्षु द्युतिभिरेणांकमरीचिप्रतिवस्तुभि: ।यशांसि वर्षता येन राजन्वन्तोमहीभृत:।
नृत्यत्प्रमथपनृत्यन्नत्पाणिगिरेण्वजविप्रुष:।मानिनेन नभो नूनं नक्तं नक्षत्रमुपासते"॥ वही
४।१३-१५

४- "दिक्षु प्रसारितप्रभाप्रभापक्षो विहंग:। यो मानसे जगल्लक्ष्मीकेलिहंस इव स्थित:॥
यो मध्यमध्यंक्रान्तनवाम्भोदाशारिते:। शोभते स्फटिकाश्मभि: स्वप्रशस्तिपटैरिव॥ वही,
स्फुरितंमभंगिभिर्भानो: प्रतिबिम्बैर्य ईक्ष्यते।राशिभिरिव त्र्यक्षप्लुष्टानां विश्वपाप्मनाम्
॥४।२३-२५

दिक्कुंजर के भाल पर डालने का मुखपट, भर्ग की द्वितीय विभूति, मानसरोवर का संपुंजित फेन और भुजङ्गमों की छोड़ी हुई केंचुल के समान शोभित होती है। स्वच्छ स्फटिक भित्तियों में प्रतिबिम्बित जगत् को धारण करते हुए, लगता है कि मानो कैलास ने शिव जी से शिक्षा पाकर, ~~पाण्डुशरीर को धारण करते-करते~~ कल्पान्त के समय, सम्पूर्ण जगत् को आचमन कर लिया हो। सूर्य-प्रतिबिम्बित पाण्डुशरीर को धारण करनेवाला कैलास घनी हरामंजरी के फूलों का बड़ा-सा गुच्छा प्रतीत होता है। स्फटिक शिलाओं में प्रतिबिम्बित कुमार गुह का मयूर, पातालवासी सर्पों को पकड़ने के लिए, पाताल को प्रस्थित होता हुआ-सा प्रतीत होता है"।[1] :गमनक्रिया का अनुपम चित्र:।

"विश्वात्मा एवं अपने स्वामी शिव के दिगम्बरत्व :असमर्थ-निर्धन, जैनसाधुभेद: धारण करने पर, कैलास दिशा-विदिशाओं में विस्तृत अपने किरण-तन्तुओं के तानेबाने से, उन :शिवजी: के लिए श्वेताम्बरवस्त्र बुनता-सा प्रतीत होता है।[2] "कैलास अन्तरिक्ष में क्षीरसागर, हिमगिरि और कभी नीचे न गिरनेवाला देवस्रोतस्विनी गंगा का प्रवाहपूर प्रतीत होता है। शशिज्योत्स्ना के प्रतिद्वन्द्वी प्रभाजाल को दिग्दिगन्तर में विकीरित करता है। चकोरियां इसकी आभारश्मियों को चन्द्ररश्मियां समझ कर व्यर्थ ही पुनः पुनः उन्हें चाटने के लिए अपनी जिह्वाएं सक्रिय करती हैं। यह कैलास-प्रभास्तोम चन्द्र-भासों का द्विगुणितरूप, चन्द्रशेखर का अट्टहासानुप्रवाह, पार्वती की हसित-सुधा की पुनरुक्ति तथा देवगंगा लहरी की पुनरावृत्ति प्रतीत होता है। ऐसे

१- सीमन्तरेखा रोदस्योः कौमुदी रिङ्गिका दिशाम् । दिक्कुंजरमुखस्य पुरो मुखपटच्छटा ।।
द्वितीयभूतिर्भर्गस्य फेनश्रीर्मानसाम्भसाम् । भुजङ्गकृत्तिनिर्मोको भाति यत्कान्तिसंततिः ।।
संक्रान्तं यो वहत्यन्तर्भुवि स्फाटिके जगत् । आचान्तमिव कल्पान्ते शिक्षया वृषलक्ष्मणः
बिम्बितार्कः पाण्डुशरीरो यो विराजते । सान्द्रैराममंजरीपुष्पगुच्छोऽस इव स्थितः ।।
स्फटिकाश्मसु यत्रास्ते बिम्बितो गुहबर्हिणः । दक्षात्र व्याकृष्टमहीन्पातालवासिनः ।।
श्री० च०, ४।२९-३३

२- विश्वात्मने स्वनाथाय दिगम्बरदशाजुषे ।
वयतीवाम्बरं दिक्षु यस्तैरंशुतन्तुभिः ।। वही, ४।३४

धारण करती हैं[१]।

सप्तर्षिमण्डल तक उठी हुई समुद्र की लहरों के पद्मरागानुरंजित जलको सप्तर्षियों ने, मदिरावशिष्ट समझ कर, सन्ध्या के समय के आचमन के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी स्पर्श तक नहीं किया[२]। :समुद्रमन्थन से मदिरा निकली थी। उसी मदिरा का अवशिष्ट ही, वर्णसाम्य के कारण, समुद्रजल को ऋषियों ने समझा, इसीलिए अधर्मभान, स्पर्श तक नहीं किया:।

उत्तुंगलहरों के द्वारा लाए गए पद्मरागमणियों के अरुणवर्ण से अनुरंजित हो शुक्रबुधादि नक्षत्र भी मंगल का ही भ्रम पुष्ट करते थे[३]। :यद्यपि वे स्वभावतः श्वेतज्योति हैं। मंगलनक्षत्र रक्तवर्ण होता है:।

अन्तःसुप्त भगवान् विष्णु के नाभिकमल की गन्ध वाली लहरों के आकाश में आ जाने पर, सन्तानकवल्लिपुष्पों को भी छोड़कर, भंवरे उन लहरों पर झपट पड़े[४]।

वडवाग्निज्वालाओं से युक्ताग्रभागवाली लहरें, सोते हुए हरि के पलंग के निकट रक्खे हुए दीपकों के दीपदण्ड सी लगती थीं[५]।

उत्तुंगचंचललहरों पर स्थित जलपरियां अपने पतियों के साथ-साथ ही, अयत्नपूर्वक भी, दोलाक्रीडासुख को प्राप्त हुईं[६]।

१- अभ्रंलिहोल्लोलकुले कुलेषु क्षिप्रं निपत्यप्रतमां फिकाली: ।
बभूव वैमानिककामिनीनामप्यल्पता हारलतानिवेश: ॥ श्री० क०, १२।३६

२- तुंगोर्मिकोटिषु सुरर्षिलोक: प्राग्वाऽप्यग्रभवामवत्सु ।
आचान्तये प्रौढ़वशीधुशेषभ्रमेण पस्पर्श न तत्पयांसि ॥ वही, १२।३८

३- दूरोच्चलल्लोलविकीर्णमालेरालम्ब्यमाना नवमंगरागम् ।
ते सौम्यकाव्यांगिरसादयोऽपि न कस्य भौमभ्रममेव चक्रुः ॥ वही, १२।४०

४- अन्तःशयानाच्युतनाभिपद्मगन्धानुबन्धिं दिवि तन्वतीषु ।
संत्यज्य संतानकवीरुधोऽपि वीचीषु भाक्भ्रमरा निपेतुः ॥ वही, १२।४१

५- निद्राणनारायणकेलितल्पप्रान्तस्थदीपोज्ज्वलमल्लिकानाम् ।
तरंगदण्डा विषमौर्ववह्निज्वालाजटालाग्रतयाभिजग्मुः ॥ वही, १२।४३

६- व्यालोलकल्लोलकुलप्रतिष्ठाभाजेदुषीभिर्जलमानुषीभिः ।
विलासदोलायलनारसस्यमज्ञायि कान्तैः समकमेण ॥ वही, १२।४६

"विमानों के द्वारा व्यापार करने वाले व्यापारियों की स्त्रियों के मुखों में अनेकों चन्द्रमण्डलों का भ्रम करके समुद्र ने किन विमानों के अन्दर स्वतरंगों को नहीं फेंका"[1]। :सर्वत्र ही उड़ते हुए विमानों के अन्दर तरंगजल भर गया:।

:इन उपर्युक्त श्लोकों में भी समुद्र का आलम्बनात्मक वर्णन है:।

तम - "क्या यह कालगणनापति का हिरण्मय मसिपात्र उलट गया है कि जिसमें से निकल कर यह तममषी विश्व को सर्वथा श्याम बना रही है"[2]।

"बुझती हुई :सूर्यास्त के कारण: सूर्यकान्ताग्नि का धूमपुंज-सा यह अन्धकारसमूह चक्रवाकों की आंखों में आंसुओं का सृजन कर रहा है"[3]। :वास्तव में रात्रि के आगमन के कारण चक्रवाक दुःखित हो अश्रुपात करते हैं:।

"उष्णाकर की रश्मियों के पी जाने :अन्धकार के द्वारा निगल लिए जाने: के कारण उष्ण-सा होकर अन्धकार ने, भ्रमरों के रूप में, खिले हुए कुमुदों के उदरों में, ताप-शान्ति के निमित्त, करवटें बदलीं-बदलीं"[4]।

:इन तीनों श्लोकों में आलम्बनप्रधान तम का वर्णन:।

"द्यावापृथिवी को जीतने की इच्छावाले रतिपति की सेना की धूलि ही यह अन्धकार सर्वत्र छा गया। क्योंकि सभी प्राणियों के द्वारा, उसी के भय

१- क्व न प्रचिक्षेप पयोधिरन्तः प्रोतेषु पोतेषु तरंगभंगान् ।
छायां त्रिकस्त्रीवदनेष्वनेकशशिभ्रमेणेव कृताभियोगः" ।। श्री०क०, १२।५१

२- "किं नु कालगणनाफलोमंचभाण्डमस्यपुटहिरण्मयम् ।
तत्र यद्विपरिवर्तितानने निस्सृति स्म धरणिं तमोमषी" ।। वही, १०।१९

३- शाश्वतार्कमणिजातवेदसां धूम्यमान इव धूमडम्बरः ।
अन्धकारनिकरो विनिर्ममे कोकचक्षुषि वाष्पदुर्दिनम्" ।। वही, १०।२१

४- पानतः शरमयूखरश्मिभिस्तापमिव तत्क्षणं तमः ।
निर्ममे भ्रमरतान्यविकचत्कैरवोदरे" ।। वही, १०।३१

से ही, निद्रा के व्याज से, आँखें बन्द करली गई"।[1] :उद्दीपक वर्णन:

<u>प्रभातवर्णन</u> - "शुभ्र फेनपिण्ड के समान चन्द्रमा धीरे-धीरे समुद्र में डूब गया। अभी उष्णरश्मि के आलोक से प्राचीदिशा अनुरंजित नहीं हो पायी है। अब केवल क्षणमात्र के लिए ही अन्धकार शेष है। यही चंचल - नेत्र-अभिसारिकाओं के लिए स्वप्रियों के गृहों से प्रतिनिवर्तन का उचित काल है।[2] :उन्हें तत्काल स्वगृहों को वापस आ जाना चाहिए:।

"समुद्र में जल निस्तरंग हो रहा है :क्योंकि चन्द्रप्रभाव घट गया है: और चन्द्रमा आकाश में डूब रहा है। चक्रवाक के आनन में, वियोगराशि के समाप्त हो जाने के कारण, उष्ण निःश्वासपवन भी समाप्त हो रहा है। परंतु, सूर्यकान्तमणियों में वह्नि, तथा उदयाचल पर सूर्य तथा दृष्टिपथ में द्यावापृथिवी प्रकाशित हो रहे हैं। हे त्रिनयन! आपकी यह आठों मूर्तियाँ, निश्चय ही, भिन्न-भिन्न हैं - क्योंकि जल, चन्द्र और पवन तो निमीलित तथा अग्नि, सूर्य एवं द्यावापृथ्वी उन्मीलित हो रही हैं"।[3]

"सूर्यकान्तज्वालामालाओं के द्वारा नीराजना किया जाता हुआ यह ग्रहराजसूर्य उदय को प्राप्त हो रहा है, और रात्रि में जो चन्द्र सुन्दरियों की

१- "सैन्यरेणुरुपगाज्जिताभितो रोदसी रतिफलोर्जं तमः।
स्यापकैतमुपेत्य जन्तुभिर्युग्मयाप्यिव निमीलिता दृशः"।। श्री०च०, १०।३०

२- "मध्येवारिधि मग्न एव शशभृद्डिण्डीरपिण्डप्रभा-
न्यावापि च रोचिषा तिलकिता प्राची कठोरत्विषः।
ताद्विक्षणमांसलान्धतमसः प्रत्यागतौ प्रेयसा-
मावासादभिसारिकाकुलदृशां नन्वेष योग्यः क्षणः"।। वही, १९।३

३- "अम्भोधौ सलिलं निमीलति तमीनाथः पथि स्वःसदां
कोष्णश्वासमयो वियोगविगमात्कोकानने चानिलः।
वह्निः पुष्यति च प्रकाशिरिष्णुष्णांशुरुर्वीदिवा-
ववाणावित्यमी च भिन्नाभिन्ना मिथो मूर्तयः"।। वही, १९।५

मृगद्युति का चोर बना था, वह :चन्द्र: इस समय अन्धेरी कन्दराओं में छिप रहा है"[1]। :सज्जन सम्मान पाता है और चोर स्वयं ही, लज्जा के मारे, डूब मरता है :।

"दौड़कर यह प्रभातसूर्य उदयगिरि की चोटी पर पहुंचने के लिए स्वयं को अनन्य वेगप्रसंग से बढ़ा रहा है। उसके रथचक्रों के वेग से गिरने वाले पत्थरों की खड़खड़ाहट को ही मानो सुनकर कमलकुल उद्बुद्ध हो उठता है"[2]।

"अपने प्रियतम सूर्य की सहायता करने के लिए निश्चय ही कमलिनी वर्ग, अपने मुखों को उद्घाटित कर, तम के पी जाने का क्रम कर रहा है। यह, निःशंकभाव से उनमें प्रवेश करते हुए, भ्रमर क्रमशः पीत उस तम की ही मानो राशियां दीख रही हैं"[3]।

:इन सभी श्लोकों में प्रभात का उद्भावनात्मक वर्णन हुआ है :।

त्रिपुरभस्म - "अत्यन्तविस्तारवाली उन तीनों दैत्यों की अग्निभस्में, जो उत्क्षिप्त सिन्दूरपुष्परज के सदृश थीं, कृष्ण के वक्षःस्थल के समान नील-गगन में त्रिवृत यज्ञोपवीत-सी शोभित हो रही थीं"[4]।

१- "अद्रौ नीराजित इव महाधाम्नो जातैर्यस्मादम-
ज्वालाजालैरयमुदयते कारवर्ती ग्रहाणाम् ।
व्यक्तो योऽसुकुलितवदनोल्लेखसर्वस्वचोरो
रात्रौ सोऽथ कुहति गहनगुम्फितकन्दरासु" ।। श्री०च०, १६।६

२- पद्मारातेर्भयं त्विषां परिवृढः प्रागद्रिशृङ्गस्थितां
प्रत्यासत्यप्रतिमरभसवेगस्फुटं प्रस्पन्दयन्स्यन्दनम् ।
यस्याशुं रथांगसंगविगलद्ग्रावाग्रसंघट्टजं
श्रुत्वेव स्वनितं क्षणेन नलिनीषण्डोऽयमुद्बुध्यते" ।। वही, १६।१२

३- साहाय्याय निजप्रियस्य नियतं राजीविनीनां गणो
व्यादायाम्बुरुहाननानि झटिति प्रस्तौति पातुं तमः ।
तस्यान्तर्घटिता विशंकटविशन्मत्तालिमालाछला-
ल्लक्ष्यन्ते हि समुच्छलन्त इव ते निर्भुक्तप्रासाः" ।। वही, १६।२०

४- "तेषां दैत्यपुरत्रयाणां रेजिरे सिन्दूर-
स्मेरविस्तारभाजो भस्मरजांसि त्रयाणाम् ।
यैः कृष्णोरःस्थलविपिन्यन्तरिक्षे शिखिनो
निर्दिष्टो यज्ञोपवीतत्रयप्रतिष्ठा" ।। वही, २४।२७

"तीव्र पवन के द्वारा विस्तार को प्राप्त उन दैत्यराज त्रिपुरों के शरीरों की भस्म के द्वारा, विश्वविप्लव के घातक उन-उन उल्कापातादि दुर्निमित्तों को शान्त करने के लिए त्रिभुवनगुरु भगवान् शंकर के द्वारा फेंके गए, शुभाभिमन्त्रित अक्षतों का सादृश्य प्राप्त किया गया"[1] :भूतिलेश श्वेताक्षतों के समान था, क्योंकि अभिमन्त्रित अक्षतों के विपत्प्रतीकार के समान ही श्वेत भस्म भी विश्व की विपत्ति के दूर हो जाने का निश्चित चिह्न ही थी :।

"तीव्र प्रकम्पनशील पवन के द्वारा चतुर्दिक् विस्तीर्यमाण उन असुरराजों के शरीर के भस्मपुंज, आकाशसमुद्र में, फेनपिण्ड-से लगते थे और साथ ही स्वर्गलक्ष्मी की शृंगारसज्जा को व्यक्त करते थे"[2]। :आलम्बनप्रधान वर्णन:।

प्रकृतिवर्णन के इन सभी उदाहरणों से भलीभाँति सिद्ध होता है कि संस्कृत के मंखक प्रभृति कवि प्रकृति का मात्र उद्दीपकप्रधान वर्णन ही नहीं करते रहे हैं, प्रत्युत वे उसके शुद्ध आलम्बनप्रधान वर्णन में भी, तुल्यरूपसे, सिद्धहस्त हैं।

१- "भंगिलैर्मे असुरमरुता किल विस्तार्यमाणै-
गीर्वाणारिप्रवरवपुषामुन्मिषद्भूतिलेशैः ।
स तत्कल्पोल्कादिदुर्निमित्तशंका-
शंकाघातकत्रिभुवनगुरुक्षिप्यमाणाक्षतानाम्" ॥श्री० च०, २४।३१

२- "फेनापिण्डप्रकराणि व्योमसिन्धोः कमन्त्र
व्यामंजागि त्रिदिवकरिणां किं च शृंगारभंगिम् ।
दैत्येन्द्राणां नलभरतोऽम्बरेऽसेव किल
चित्वा दुग्धप्रभरमरुद्भस्मजालक्रमेण" ॥ वही, २४।३२

स्थानीय चित्रण

(Local - Colour)

'श्रीकण्ठ चरित' में कश्मीरवर्णन, कविवंशवर्णन तथा पण्डित-सभा के वर्णन में विशेषरूप से स्थानीय चित्रण हुआ है। अन्यत्र वर्णनों में स्थानीय चित्रण के संकेत भले आगए हों, पर वस्तुतः अन्यत्र कहीं भी कश्मीरसम्बन्धी कोई वर्णन नहीं हुआ है। बसन्त, कैलास, पानकेलि तथा कामक्रीडा में स्थानीय चित्रण के परोक्ष दर्शन किए जा सकते हैं, साक्षात् नहीं।

कश्मीर - 'कौबेरी दिग् :उत्तर: की ललाटिका :अलंकार विशेष: के समान 'कश्मीर' नाम का एक प्रदेश है। वहां 'सतीसर' मण्डल है। वह विविध-सृष्टि-यज्ञ में दीक्षित ब्रह्मा के अवभृथस्नान का कुण्ड-सा है।[1] वहां जगह-जगह ऊंचे-ऊंचे यज्ञस्तम्भ खड़े दीखते हैं। प्रतीत होता है कि वहां :कश्मीर में: कलिकाल :धर्माचरण के अभाव का द्योतक: के प्रवेश को रोकने के उद्देश्य से स्वयं दिशाएं स्व-भुजाओं में अर्गला लेकर स्थित हो रही हैं। स्वतः कश्मीर के चतुर्दिक् हिमाच्छादित पर्वतमालाएं विराजती हैं। पर्वत विविध रत्नों की खानों से भरे पड़े हैं। मानों रत्नापचय से चिन्तित क्षीरसागर ही, हिमस्रोतसा के व्याज से, कश्मीर की सतत् प्रदक्षिणा कर रहा हो। वहां के ब्राह्मण नैसर्गिक सोमयाजी हैं। अग्नि-त्रयधूम उनके सब पापों को नष्ट करता है। विद्यार्थियों के शरीर में वह धूम, अयत्न ही, कृष्णाजिन-सा शोभा पाता है। शिशिरऋतु में विलासियों की पान-भूमियां नारंगियों से शोभित हो उठती हैं। वे लाल-लाल नारंगियां, मानवतियों का मान भंग करने के लिए, कामदेव की गुलेल के बड़े-बड़े लाल-लाल ढेलों-सी लगती हैं। केसर एकमात्र कश्मीर में ही उत्पन्न होता है। वह कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी के मुकुट के गारुत्मत्-रत्नों की प्रभा-सी प्रतीत होती है। विश्व की स्त्रियां सभी कश्मीरभूमिज केसर से अपने अक्षय सुहागतिलक किया करती हैं। यहां वितस्ता

१- 'वितस्तया यत्र लुठत्तटद्रुमप्रसूनया सार्द्रकृतोऽसिसंपदः ।
पुरश्रियस्ते छमज्जनोत्सवप्रमत्तसुरस्त्रीकवरीदिनामायः' ।।

श्री० च०, ३।७

नदी प्रवाहित है। उसके किनारे असंख्य महासुगन्धित पुष्पवृक्ष हैं। उनवृक्षों के असंख्य पुष्प वितस्ता में गिर पड़ा करते हैं। जलस्थपुष्पों पर इस निबिड़ता से भंवरे बैठे रहते हैं कि लगता है कि सचमुच, स्नानकरने वाली देवबालाओं की, वेणियां ही शोभा पारही हों। हेमन्त ऋतु में वहां सर्वत्र हिम गिरती है। मानों मकर-ध्वजादि रसायनों का सेवन करके, स्वतपकाल में, कामदेव अपने पूर्णपलित :वृद्धत्व: को ही त्याग रहा हो :हेमन्त में विलासी रसायनों का सेवन करके यथेच्छ स्त्री-प्रसंग करते हैं:। कश्मीर में एक `महापद्मफणीश्वर` नाम का बृहत्सरोवर है। उसमें असंख्य कमल शोभित हैं। बड़े-बड़े मेघ आकर उसमें जल ग्रहण करते हैं। उनके जलग्रहण करते समय, भंवरों की मधुर गुंजार के सहित अपने सहस्रों फनकमलों को, घनश्याम के पादपद्मोत्थ के लोभ से, वह महापद्म फणीश्वर उन्मिषित करता-सा प्रतीत होता है। :कृष्ण के नर्तन से कालियनाग के फन पर पद्मचिह्न बन गया था। महापद्म नाग भी, घन को श्याम समझकर, अपने सहस्रों फन ऊपर उठाता है कि भगवान् के चरणन्यास से उसके भी फणों पर पद्म अंकित हो जाय। वस्तुतः महापद्मफणीश्वर सरोवर का नाम है और पद्म उस :सरोवर: में स्वाभाविक ही खिले हुए हैं:। कश्मीर की प्राकृतिक सुषमा से आकृष्ट होकर साक्षात् शारदा वहां पदार्पण करती हैं और अपने चरणकमलरज से विद्वानों के प्रातिभचक्षुओं को उन्मीलित कर देती हैं :प्रकृति की निसर्ग सुषमा में बैठकर लोग अनायास ही कवि-लेखक बन जाते हैं:[1]।

`कश्मीर में `विजयेश्वर महादेव` का मन्दिर है। विष्णु का `चक्रधर-मन्दिर` भी यहीं है। यहां नित्य विलसित लक्ष्मी की वशीकरणक्रियाओं से वशीभूत विष्णु, पुराने क्षीरसागर-गृह को त्याग कर, `चक्रधर` रूप में सदा यहां ही निवास करते हैं। प्रत्यन्तपर्वतरूपी भुजभुजाओं को उठाकर कश्मीरभूमि भद्गुजों :सर्पों: को गरुड से अभय प्रदान करती है :कश्मीर के पर्वतों में निवास करने वाले सर्प सदा गरुड के भय से सुरक्षित रहते हैं:। `कपटेश्वरधाम` में कालकूटनिर्मलकूप में स्थित है। सम्भवतः कूप में वे इसीलिए सोये हुए हैं कि बाहर कहीं नेत्राग्नि न भभक उठे[2]।

१- श्री० च०, ३।९-१०।

२- वही, ३।११-१४

श्लोकांशादि- सिन्धु और वितस्ता का संगम निश्चय ही भगवान् चन्द्रशेखर की विहारभूमि है। जलभ्रमि के व्याज से क्या यह उनके वाहन वृषभ की खुराग्रमुद्राएं ही नहीं व्यक्त हो रही हैं ? कश्मीर भूमि का किरीटरत्न-सा प्रसिद्ध 'प्रवरपुर' है। यह सिन्धु-वितस्ता के संगम पर बसा हुआ है। यहां की स्त्रियां विशेषरूप से लावण्यमयी होती हैं। रात्रि में अटारियों पर चढ़ी हुई जब वे मुख का घूंघट हटा देती हैं तो कृष्णपक्ष में भी चन्द्रदाय समाप्त हो जाता है :सुमुखियां ठीक चन्द्रमा जैसी ही हैं:। हेमन्त में यहां अन्तःपुरों में हसन्तिका शोभा पाती है। उसके प्रज्वलितछिद्रों के व्याज से कामदेव, शिव को जीतने के लिए, सहस्रों नेत्रधारण करते हैं :हसन्तिका से शीतनिवृत्त होते ही कामोद्दीपन हो जाता है:। इसी प्रवरपुर में कवि :मंखक: के पितामह मन्मथ उत्पन्न हुए थे। वे बड़े दानी थे। मन्मथ के पुत्र विश्ववर्त हुए। इन्होंने सहस्रों गायों को दान में दिया था। यह शंकर के भी बड़े भक्त थे। विश्ववर्त के शृंगार, भृंग, लंकक :उपनाम अलंकार: तथा मंखक :उपनाम कर्णिकारमंख: चार पुत्र हुए। इनमें शृंगार बड़े वीर थे। इन्होंने कई बार कश्मीर के राजा हर्ष को हराया था[1]। इन्हें महाराज सुस्सल ने अपना बृहत्तन्त्रपति :धर्माधिकारी-जज: बनाया था[2]। अलंकार बड़े विद्याप्रेमी थे। महाभाष्य में इनकी विशेष गति थी। यह भीषण शास्त्रार्थी भी थे। कश्मीर नरेश सुस्सल ने इन्हें अपना सान्धिविग्रहिक बनाया था। इन्होंने शत्रुओं के आक्रमणों के भय से बन्द कर दिए गए देवमन्दिरों के द्वारों को फिर से विमुक्त करवाया था :बाहरी आक्रमणों का लंकक ने सफल प्रतिरोध किया था[3]:।

१- 'करालयन्भ्रुकुटिकृष्णपन्नगीनिरंकुशस्फूर्जनया यशोऽभवत् ।
ततः प्रतापी युधि हर्षभूभुजश्चकार यात्रामपुनर्निवृत्तये' ।।श्री० क०, ३।४७

२- 'वितीर्य पुष्कलमनुष्यवाजिभिः पुरस्कृतां देवभुमाकरैरिव ।
अथ्यक्षस्य स सुस्सलक्ष्मापतिर्बृहत्तन्त्रपतित्वकल्पनम्' ।। वही, ३।५०

३- 'निवेशितो सुस्सलभूमिवाजिना स्वयं गरीयस्यपि सान्धिविग्रहे ।
विधाय यो स्वयशोमयीं लिपिं स लेखवर्गस्य विमुक्तमाननम्' ।।वही, ३।६२

सबसे छोटे मंखक सरस्वती के प्रिय पुत्र थे। काश्मीर नरेश जयसिंह[1] ने इन्हें अपना "प्रजापालनकार्यपुरुष" :धर्माधिकारी: नियुक्त किया था।

पण्डितसभा - :पण्डित सभा में मंखक की परीक्षा तथा सभा की सजीवता आदि के विषय में कवि के जीवनवृत्त तथा "श्रीकण्ठ चरित की प्रसिद्धि" प्रकरण में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अतः यहां केवल नामावली दी गई है:। महाकवि मंखक ने अपने महाकाव्य श्रीकण्ठचरित में कश्मीर, अपने वंश तथा अपने जीवन के विषय में तो बहुत कुछ लिखा ही है, साथ ही :२५ वें सर्ग में: अपने समसामयिक अनेकों कवियों, लेखकों तथा वयोवृद्ध आचार्यों का भी सदुल्लेख किया है। संस्कृतसाहित्य के इन काश्मीरी विद्वानों तथा कवियों का कोई परिचय आज सं० साहित्य के किसी इतिहासग्रन्थ में नहीं मिलता। कवि की इस महान सेवा के लिए संस्कृतजगत् उसका चिरकृतज्ञ रहेगा। उनकी नामावली निम्न-प्रकार से है —

१- विद्वत्संक्रन्दन ब्रह्मवादी महाकवि श्री नन्दन[2],
२- वयोवृद्ध आचार्य रुय्यक[3],
३- वेदाचार्य श्री रम्यदेव[4],
४- षड्भाषाविद् महाकवि श्री लोष्टदेव[5],
५- परममीमांसक श्री श्रीगर्भ[6],
६- वादविद्याविशारद महाकवि श्री मण्डन[7],
७- मण्डनभ्राता श्री श्रीकण्ठ[8],
८- महास्थविर श्री गर्गाचार्य[9],
९- परमविष्णुभक्तकवि श्री कैयर[10],
१०- साहित्यशास्त्रविद्वत् श्री नाग[11],
११- मीमांसक शिरोमणि श्री त्रैलोक्य[12],
१२- महाकवि दामोदर[13],

१- "अनन्तरं सुस्सलदेवनन्दनो यथावरः भूमिजयसिंहभूपतिः।
व्यधात्प्रजापालनकार्यपुरुषं इव पितृव्यनन्दनविनीतमन्तुपम्" ।।श्री०च०, ३।६६
२- वही, २५।२२-२५। ३- २५।२६-३०। ४- २५।३१-३३। ५-२५।३४-३६
६- वही, २५।४८-५०। ७- २५।५१-५३। ८- २५।५४। ९- २५।५५-५६।
१०- वही, २५।५७-५९। ११- २५।६२-६४। १२- २५।६५-६६। १३- २५।६७-६८

१३- विबुधपृष्ठ श्री षष्ठ[1],

१४- महाकवि जेन्दुक[2],

१५- सान्धिविग्रहिक महाकवि जल्हण[3]

१६- महाकवि श्री गोविन्द[4]

१७- महाकवि कल्याण[5],

१८- विद्वान् सुहल[6],

१९- विद्वान् श्रीवत्स[7],

२०- परमार्थिक आनन्द[8],

२१- महाकवि पद्मराज[9],

२२- मीमांसक श्री तुन्न[10],

२३- याज्ञिकश्रेष्ठ श्री लक्ष्मीदेव[11],

२४- वयोवृद्ध आचार्य जनकराज[12],

२५- महाकवि शम्भु सुत आनन्द[13],

२६- महाकवि सुहल[14]

२७- कान्यकुब्जाधिपति श्री गोविन्दचन्द्र के दूत महाकवि सुहल[15],

२८- उपाध्याय श्री योगराज[16],

२९- कोंकणेश्वरदूत महाकवि श्री तेजकण्ठ[17]

३०- आचार्य प्रकट[18],

३१- महाकवि वागीश्वर[19]

३२- पण्डित पट्टु[20]

१- श्री० च०, २५। ६९-७० । २- वही, २५।७१-७२ । ३- वही, २५।७३-७५। ४- वही, २५।७६-७७ । ५- वही, २५।७८-८० । ६- वही, २५। ८१-८२ । ७- वही, २५। ८१-८२ । ८- वही, २५। ८३-८४। ९- २५। ८५-८६ । १०- वही, २५। ८७-८८। ११- वही, २५। ८९-९१ । १२- २५।९२-९३। १३- २५।९६-९७ १४- वही, २५।९८-९९। १५- २५। १००-१०२। १६- २५। १०४-१०७ । १७- २५।१०८-१११ १८- वही, २५।९४-९५। १९- वही, २५। १२७ । २०- २५। १२९-१३१

भाषाशैली

'श्रीकण्ठ चरित' के सर्ग २ में महाकवि मंखक ने भाषा, रस तथा शैली प्रभृति के विषय में बहुत कुछ सामान्यतया कहा है। निःसन्देह रूप से, उन्होंने अपने उन सिद्धान्तों-नियमों का पालन भी किया है। अतः भाषाशैली के विषय में स्वयं कवि के विचार जान लेना उपयुक्त होगा --

कविमान्यताएं - 'साधारण कवियों के काव्य में वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्य-रूप अर्थ की स्थिति स्पष्ट नहीं हुआ करती, वाच्यादि अर्थ यदि स्पष्ट भी हो गए तो सुबन्त-तिङन्त पदों की शुद्धि दुर्लभ हो जाती है। वाच्यादि अर्थ तथा पदशुद्धि दोनों के मिल जाने पर किसी-किसी कवि के काव्य में वैदर्भी प्रभृति रीतियां स्पष्ट नहीं हुआ करतीं। रीति भी है तो अनुकूल पदसंघटन ही कठिन होता है। किंपर, प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिविचरण :वक्रोक्तित्व: तो सर्वथा दुर्लभ ही रहता है। और यह सब भी सम्भव हो जाने पर किसी-किसी की रचना, काव्यात्मा रस के अभाव में, नीरस हुआ करती है। बड़ा गहन है कवित्व'।[1]

'किसी प्रबन्ध में शतशः अलंकार विद्यमान हों, रीति का उचित विधान भी हो और व्युत्पत्ति की मात्रा भी पूर्ण हो तथापि प्रचुर रसाभिषेक के बिना कोई रचना प्रबन्ध नहीं कहला सकती :सालंकार सिंहासनारूढ़ व्यक्ति भी राज्याभिषेक के बिना राजा नहीं बन सकता:। अर्थात् निरस पद्यसमूह प्रबन्ध या महाकाव्य नहीं कहलाता अथवा महाकाव्यत्व का एकमात्र प्रयोजक है- रस'।[2]

१- 'अर्थोऽस्ति चेन्न पदशुद्धिरथास्ति सापि
नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्त्या।
साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेत-
द्व्यर्थं विना रसमहो गहनं कवित्वम्' ।। श्री० च०, २।३०

२- 'तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः' ।। वही, २।३२

'महाकवियों के काव्य के अर्थबोध की तीक्ष्णता से उसकी व्युत्पत्ति तथा सहृदयानुरंजकता से उसके रस का अनुमान कर लेना चाहिए । यदि वह काव्य-भूषण व्युत्पत्ति एवं इक्षुदीक्षा से प्राप्त हो तो, निःसन्देह, काव्यवाणी में पानकरसन्याय घट जाता है'।[1] :पानकरस पेयविशेष- में मरिच की तीक्ष्णता तथा द्राक्षादि की मधुरता ही प्रधान रहती हैं। रस-चर्वणा में स्थायी भाव के, विभावानुभावव्यभिचारी से मिश्रित हो, रसत्व ग्रहण करने में 'पानकरस-न्याय' की उपपत्ति दी जाती है:।

'वैदर्भीरीतिसूत्र में, श्रीमानों के कण्ठ के हारभूत, गुम्फित सदर्थरत्नों से पूर्ण रचना, जो व्युत्पत्ति की शाणाश्मा पर और भी तीखी कर दी गई हो, क्या बिना सरस्वती के कृपाप्रसाद :आशीर्वाद: के ही बन जाया करती है ? अर्थात् वैदर्भी रीति में सदर्थों से युक्त और व्युत्पत्तिमयी रचना के लिए सरस्वती देवी की कृपा भी होनी अत्यावश्यक है'।[2]

'वे पूर्व तत्त्वदर्शी महाकवि अब कहाँ रहे कि जिन्होंने, बड़े आयास के साथ, वाणीरूपी इक्षुलता को पुनः-पुनः निपीडन करके सर्वथा सरस रचनाएँ रची थीं। अब तो जहाँ-तहाँ कवि ही कवि दिखाई देते हैं। वे सदा कठोर अनुप्रास, मुरजबन्धादि चित्र, यमक और श्लिष्टश्लेषादि रचनाएँ ही प्रस्तुत करते रहते हैं'।[3]

१- 'व्युत्पत्तिभूषणमवेहि नितान्ततीक्ष्णा-
 न्यूनाधिकौ रसमयोऽन्वयविद्युदीक्षाम् ।
 द्राक्षा तथार्थमिव मिथः चलना कवीनां
 वाचेव तदवाप्ति पानकरीतिसिद्धिः' ।। श्री० क०, २।३८

२- 'या वैदर्भ्या वर्त्मनि भणितिप्रत्यग्रहारान्तर-
 प्रोतप्रीतिकृदर्थरत्नघटिताः कण्ठे गुणाः श्रीमताम् ।
 वाग्देवीनयनाञ्चलाञ्चितचमत्कारं विना देवि किं
 सा वाणी कृणीकृता निरवधि व्युत्पत्तिशाणाश्मनि' ।।वही, २।५१

३- 'धातारस्ते रसलगिराविधिं निष्पिष्य निष्पीड्य ये
 वाचामिक्षुलतां पुरा कतिपये तत्त्वस्पृशस्ते गिरे ।
 जायन्ते च यथायथं तु कवयस्ते तत्र संतन्वते
 येऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशिल्पोद्यमम्' ।। वही, २।५२

व्युत्पत्ति-निपुणता तथा निरवद्य सुप्रसाद पदरचना से उनके सतताभ्यास का परिचय प्राप्त होता है।

वाच्यादि अर्थों की सत्ता, पदशुद्धि, रीतिविन्यास, पदसंघटना, प्रसिद्ध-प्रस्थानव्यतिरेकिसंचरण तथा काव्यात्मा रस की उपस्थिति भी भी० च० में निःसन्देह है ही :—

सहृदयव्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा रखते हैं। व्यंग्यार्थ उत्प्रेक्षाप्रधान भी० च० में वाच्यार्थ का बाहुल्य स्वतराम् सिद्ध है। फिर भी, श्लिष्टपद्यों में अधिकांशतः वाच्यार्थ की ही प्रमुखता है। लाक्षणिक प्रयोग भी० च० में कम है। उत्प्रेक्षालंकारयुक्त पद्यों में प्रायः उत्तमध्वनि प्राप्त होती है। पदशुद्धि की महत्ता पर कवि ने विशेष ध्यान दिया है। अर्थ भले ही कहीं-कहीं गहरा हो गया हो, पर पदशुद्धि भी० च० में सर्वत्र विद्यमान है। ढूंढने पर केवल २-४ पद ही च्युतसंस्कृति के मिलेंगे। सामान्यतया कवि ने समस्त महाकाव्य वैदर्भीरीति में लिखा है। परन्तु, यथावसर और यथारस, गौड़ी-पांचाली रीतियों का भी प्रयोग कवि ने किया है। अनुकूल पदसंघटना के उदाहरण पान-सुरतकेलि तथा त्रिपुरसंहार में मिलते हैं। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिसंचरण :वक्रातित्व: का जीता-जागता आदर्श है सर्ग ग्यारह। इस सर्ग में कवि ने चन्द्रवर्णन किया है विविध-मुक्तकों के रूप में। अट्ठारह पद्यों का लम्बा 'चन्द्रातीयार्थकुलक'[1] तो शायद ही किसी अन्य कवि ने लिखा हो। असुरों की रणसज्जा के विपरीतकालवर्णन[2] में भी यही 'वक्रातित्व' प्रत्यक्ष हो उठा है। उषाकाल रात्रि के प्रारम्भ में काम-संगम कुलक[3] सर्वथा नवीन ही है। वीर-शृंगारादि रसों की स्थिति की तो बात ही क्या भक्तिरस का एक अलौकिक उदाहरण देखिए—

'विश्वात्मा और अपने प्रियस्वामी शिव के दिगम्बर :नंगे: हो जाने पर भक्त कैलास, अपनी शुभ्र किरणों के ताने-बाने आकाश में फैलाकर, ऊपर

१- भी० च०, ११।५६-७३।

२- वही, सर्ग २३।३।

३- वही, १३।१-१२।

<u>भाषाविचार</u> - कवि ने क्लिष्टप्रयोग अधिक किए हैं। क्लिष्ट प्रयोगों में भी पूर्वकालिक क्रियारूपों का बाहुल्य है। 'पंक्तीपष्ट' तथा 'बबन्धे' जैसे प्रयोगों में कवि की विशेष रुचि है। 'कविकुभि' के कविगु :कवि: शब्द का प्रयोग कवि ने कई स्थलों पर किया है। 'तृणायमेने' :५।४१: तथा 'पुष्पमिवांचके' :५।५०: जैसे प्रयोग केवल व्याकरणज्ञान के प्रदर्शनार्थ किए गए हैं। 'परित्रीयिषवर दुर्विधुप्राणनाथस्य' :२३।५३: जैसे प्रयोग केवल प्रौढ़ि के विचार से किये गए हैं। साधारणतया कवि की भाषा मधुर और मंजी हुई है। थोड़े से शब्दों में अभिप्रेत कह दिया गया है। शब्दाडम्बर का अभाव है। अर्थ भी स्फुटरूप से भासता है। प्रभावक श्लोक भी प्रकीर्णसूक्तियों का आनन्द प्रदान करते हैं। 'चंद्रचुरम्नि' जैसे न्याय तथा 'कर्बुरित' जैसे रूपक उनका मनमोह लेते हैं। भाषा का भावों से सुन्दर सामंजस्य मिलता है।

<u>शैलीविमर्श</u>- शैली पद से यदि केवल रीति ही अभिप्रेत हो तो वह कवि ने वैदर्भी ही प्रयुक्त की है। और इस विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। परन्तु, साधारणतया शैली पद से किसी कवि या लेखक के अपनी बात कहने के ढंग का आशय लिया जाता है। श्रीकण्ठचरित में महाकवि मंखक ने, आपाततः, अलंकृत वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है। कवि को कथाप्रवाह से कोई संबंध नहीं। उसे अलंकार तथा भंगिभेद से एक ही वर्ण्य का प्रकार से वर्णन करना है। पुनरुक्ति तथा पिष्टपेषण श्रीकण्ठ चरित में दोष नहीं हैं। 'कारयामा-मसुनिंकुमये' जैसे वाक्य तक पुनरुक्त हुए हैं।[1]

महाकाव्य और नाटक में शरीरगत महत्त्वपूर्ण भेद होता है। महाकाव्य में नाटक की क्रियाशीलता एवं भावपूर्ण वार्तालाप या संवाद उसरूप में नहीं मिल सकते, पर, बिना पात्रों के कर्मव्यापार तथा संवाद के उनके वास्तविक चरित्र एवं अन्तर्गत भावों का पता नहीं लगता। श्रीकण्ठचरित में आगत सभी चरित्र साधारण कर्म बहुत कम देते हैं। ये अधिकांशतः संस्तुत्य ही चित्रित किए गए हैं। संस्तुत्य व्यक्ति या विषय तथा वर्णनात्मक शैली के ही अन्तर्गत आएगा। वर्णन में, वर्णित विषय या व्यक्ति की प्रधानता समाप्त होकर, कवि प्रधान हो उठता है। चरित्र, ऐसी दशा में, उपेक्षित अथवा अविकसित रह जाते हैं।

१- श्री० च०, ३।५६ तथा ५।७४

उसे त्रिपुरों ने सर्वथा व्यर्थ कर दिया है। इसलिए, हे उदारचरित ! उन्हें आप ही मारें। दीपक राजयक्ष्मा को नाश करने का प्रयत्न नहीं किया करता[1]।

यदि ऐसा है तो आपके हित को सिद्ध करने वाला यह त्रिपुर-वध मेरे द्वारा स्वीकार किया गया[2]।

देवताओं की स्तुति करने की शैली कवि की अपनी है : कवि ने सीधे, आप सर्वशक्तिमान, प्रलय कर सकने में समर्थ हैं, आदि न कहकर तत्तद्देवता के द्वारा सम्पादित अद्भुतकर्मों के स्मरण के द्वारा उसकी स्तुति की है।

अलंकृतवर्णनात्मक शैली में लिखे गए प्रति विषय के अनुपम शब्दचित्र श्रीकण्ठचरित में बहुलता से मिलते हैं। स्वरूपतः इस शैली के महाकवि मंखक एक ही आचार्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

१- "स्वामिन्नस्त्येव महतो मध्यलोकस्य वेदना ।
तत्पुरःक्वाटेषु पुरुहूतादिरप्रभुः" ।। श्री० क०,
तवाम्भुजा व्यक्तिं स्वयं संहर्तुमर्हसि । १६।२८, ३०
नहि संरभते दीपो निरोद्धुं राजयक्ष्मणः" ।।

२- "एवमस्त्विति संरम्भाद् गरीयानुररीकृतः ।
मया युष्मद्धितापादि त्रिपुरघ्नं कर्मणि" ।। वही, १६।४१ ।

श्रीकण्ठ-चरित में दोषोद्भावना

संशोधन - औदासीन्य :

'श्रीकण्ठ चरित' महाकवि मंखक की तरुणावस्था की कृति है। इस महाकाव्य के प्रणयन के पश्चात् भी कवि ३०-४० वर्ष अवश्य जीवित रहे होंगे। इस बीच वे इसके सभी श्लोकों को अनेकशः परिशोधन कर सकते थे। गुणवान् श्लोकों की रसवत्ता भूरिशः बढ़ा सकते थे। परन्तु, न जाने क्यों, मंखक ने ऐसा किया नहीं। ज्ञात होता है कि वे एक बार सम्पन्न कृति को, देवार्पण के पश्चात्, पुनः संशोधनादि करना अनुचित समझते थे। ठीक है, पुरंजीवन की कृतियाँ भविष्य के स्मृतिचिह्न (Relics) बन जाती हैं, अतः उन्हें ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखा जा सकता है। पर, इस महाकाव्य को, कवि के अग्रज 'अलंकार' की 'पण्डितसभा' ने सुना था। उस सभा में छोटे-बड़े ३३ पण्डित विद्यमान थे। मंखक के मित्र भी थे, गुरु और प्रशंसक भी। किसी ने तो इसके परिशोधन की ओर ध्यान दिया होता। आचार्य रुय्यक स्वयं उस पण्डितसभा की शोभा बढ़ा रहे थे, उन्होंने इस महाकाव्य तथा इसके रचयिता की महती प्रशंसा की थी। कम से कम उन्होंने ही, अपने ही गुरुत्व की गरिमा की रक्षा के विचार से, प्रबन्धगत त्रुटियों-दोषों आदि पर एक सरसरी दृष्टि डाल दी होती, तो निःसन्देह 'श्रीकण्ठचरित' सहृदयों के कण्ठों की भी बढ़ाता होता। कवि और उसका काव्य दोनों साथ-साथ अजरामर बन जाते हैं ---

> 'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
> नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्' ॥

निःसन्देह, परिशोधित उक्त प्रबन्ध (महाकाव्य) आज इतनी उपेक्षा को न प्राप्त हुआ होता, परन्तु- 'विधिलिखितं ललाटे प्रोञ्छितुं कः समर्थः?'- तदनुसार 'श्रीकण्ठचरित' में दोषाभास भी कम नहीं है। कवि के ही शब्दों में --

> 'दूरे दुष्पापेव परे कवीनां यशःप्रासादस्खलितं समन्तात्।
> अर्थोत्कर्षे प्रसरं कथं वा विभाव्यमेकवाक्यविन्दुपातः'॥[१]

१- श्री० च०, २।६

मनुष्य के गुण उसे, देवता बनाकर, पूजा के आसन पर बिठा देते हैं। वह पूज्य और रागद्वेषरहित जड़ बन जाता है। विपरीत इसके, मनुष्य के दोष, त्रुटियां और दुर्बलताएं उसे समाज का ही एक अंग बनाए रखती है। वह किसी का मित्र और किसी का शत्रु बन, इसी भूमि पर बना रहता है। लोग उससे प्रेरणा लेते हैं, उससे सहानुभूति और प्रेम करते हैं। अतएव मंखक कवि ने अनेक दोषों को मानो जानबूझ कर ही शेष बना रक्खा है कि वे लोगों की सहानुभूति पाते रहें।

<u>टीकाकार के द्वारा दृष्ट दोष</u> - दोष विविध प्रकार के हैं, अनेक हैं। कुछ टीकाकार जोनराज ने भी यत्र-तत्र दिखाए हैं --

१- :विवधत् - विध्नतां [1], षष्ठी बहुवचन : 'शतृप्रत्ययोऽत्राविवक्षितः प्रकृतस्य भूतकाल विषयत्वात्'।

२- श्लोक ११।२ की टीका त्रुटित है। पूर्वार्ध में कवि ने चन्द्र को कलामात्र उदय होने के कारण कामगुरु की वंशी :नलिका: के समान बताया है और उत्तरार्ध में उसी चन्द्र को शृंगार के रथ का चक्र बताया है। प्रारम्भ का अल्पप्रकाश चन्द्र वंशी की आकृति का नहीं होता। तीज-चौथ के चन्द्रमा, जो वंशी की आकृति का कहा जा सकता है, को पूर्ण रथचक्र-सा होने के लिए १०-१२ दिन का काल अपेक्षित है। यह १०-१२ दिन उस एक ही श्लोक में मात्र 'क्रमेण' पद से सूचित नहीं किए जा सकते। यही बात कवि टीकाकार को भी अभिमत प्रतीत होती है। इसीलिए टीका नहीं की है।[2]

३- १७।१९-२३ तक के ५ श्लोकों की टीका त्रुटित है। कारण अज्ञात है।

४- श्लोक १७।३९ के उत्तरार्ध की टीका त्रुटित है। कारण स्पष्ट है। पूर्वार्ध में श्री की कमलविस्मृति की बात कहकर उत्तरार्ध में विहीनः चन्द्रः की निर्लज्जस्विता कवि ने कही है। क्योंकि श्री का सम्बन्ध विहीन से जोड़ा है।

१- श्री० क०, ३।२२ टीका।

२- 'यत्कला किल कन्दर्पाङ्कुलिन्यस्पन्दमानवंशिकालामाभात्।
   मण्डलोऽप्रारूपोऽपि च्छंस क्रमेण स्मरराजरथस्य' ।। वही, ११।२

३- श्री० कं०, १७।३९ ।

५- श्लोक २०।२८ की व्याख्या में कुछ अंश त्रुटित है। पर मूल से असंबन्धित नहीं प्रतीत होता।

६- श्लोक २०।४५ की टीका पूर्णतः त्रुटित है। कारण अन्वेषणीय है।

७- श्लोक २२।४१ के उत्तरार्ध की टीका, स्वपक्ष विरोध के कारण, छोड़ दी गई है।

८- ---"----- विवृतभावो वैवस्वरत्नभाते:"। ----"वेकाशब्द पुल्लिंगो न प्रसिद्धः।।

९---- ----- शैल----- मन्येऽनर्गलबालिलिंगमणिमयूखप्रांशुभिः प्रावृषि"।। ------"रश्म्योघाहृतस्थानीयाः। स्त्रीत्वात् बालुकालिंगानामित्यप्रतीतिः"। "बालुकालिंगानामित्य" संदिग्ध है। कैलास शैल का नायिकात्व तो अरुचिकर है ही, यदि "बालुकालिंगानामित्यप्रतीतिः" पढ़ा जाय, जैसा कि टीकाकार का अभिप्राय विदित होता है, तो भी दोष पूर्ववत् स्थित रहता है। साथ ही टीकाकार का संगति बिठाना उपहासास्पद हो जाता है।

१०------"श्री राजशेखरगिरांनीवी यस्यौ ... स्पन्दाम्"। २४।७५ के उत्तरार्ध की टीका जोनराज ने जानबूझकर छोड़ दी है। अश्लीलता कारण है।

टीकाकार का अनुचित समर्थन - साधारणतया टीकाकार ने दोषों को छिपाने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त स्थलों में दोषोद्घाटन में उसकी विवशता स्पष्ट है। दो-तीन स्थलों पर टीकाकार ने खींचतानकर असंगत अर्थ लगा दिया है --

(क) "वाचां वक्रिमपद्धतिः सुविहितव्युत्पत्तिपारायण-
प्रावीण्यप्रगुणस्य हन्त कवितुः सोल्लासमुन्मीलति"। ---

"सुविहितमवधानपूर्वकं कृतं यद् व्युत्पत्तिपारायणं तेनप्रावीण्यं कौशलं तेनप्रकृष्ट गुणस्य कवितुर्वाचां वक्रत्वं सोल्लासं स्फुरति" (टीका)।

मूल और टीका में "कवितुः" पद षष्ठी एकवचन में प्रयुक्त है। यह

१- श्री० क०, २३।३८

कवितुः से बनेगा । कवि ने इस कवित पद का प्रयोग कई बार किया है । जो विचारणीय है ।

कु + व "अव ङः", उणा० ४।१३८ से कवि पद कर्ता अर्थवाला निष्पन्न होता है । कवितु पद भी कर्मार्थक तृच् प्रत्यय से निष्पन्न किया जा सकता है, परन्तु अप्रयुक्त है। टीकाकार इस त्रुटि से परिचित है, इसलिए जानबूझ "कवितुः" पद ही टीका में पुनरावृत्त कर देता है । यह पद का कोई अर्थ नहीं करता । शुद्ध प्रयोग कवेः होगा । लेकिन तब छन्दोभंगदोष आएगा । "सुकवेः" प्रयोग से पद-सौन्दर्य बढ़ जाता है ।

:ख: "सरस्वतीपद्मसरोरुहत्वस्थसंसायुधानां व्यक्तिमुपैति निक्वणः"[1] में "रसायुधा" ------ भ्रमराणां :टीका: । कवि को :रसस्वायुधमेषां, तेषां: यौगिकत्व अभीष्ट है । पर टीकाकार ने उसे रूढ़ि बनाकर समर्पित कर दिया है । रसायुध भ्रमर का पर्याय नहीं है । इस पद्य में दूसरा दोष "प्रसिद्धिहीनता" का भी है । सरोरुह - कमल लक्ष्मी का निवास माना जाता है, न कि सरस्वती का । पद्मा-श्रीः । कवि ने सरस्वती का पद्मवास ३।६० तथा अन्यत्र भी दुहराया है ।

:ग: कवि ने अपने "मंखकोश" :श्लोक १५२:में ----- द्विजवरे द्विजराड् शशिन्यपि", द्विजराज के अर्थ विप्रवर और शशी दिए हैं । द्विजराज और द्विजाधिराज में कोई भेद नहीं है । द्विजाधिराज- विप्रवर पद कुमारिलभट्ट के लिए न तो यौगिक और न ही रूढ़ है । फिर भी टीकाकार ने "द्विजाधिराजस्य भट्टकुमारिलस्य"[2] दिया है । कवि को भी यही अर्थ अभिप्रेत है ।

:घ: "खलीकृता यस्य वचोभिरुद्धतैर्विलुण्ठ्य सर्वप्रतिभामयीं श्रियम् ।
क्षमन्ति सद्यःप्रतिवादिनां गिरो गभीरमौनव्रतमग्नकर्मणः"[3]।।

"उद्धतैः यात्प्रतिभात्मकव्युत्पत्तिस्वरूपां लक्ष्मीं विलुण्ठ्य खलीं कृत्वा यद्- वचोभिरवमानिताः प्रतिवादिनां वाचो गभीरो/गाधो यो मौनव्रतस्तत्र त्रुटितरूपा क्षान्त्या मौनान्निःसरन्ति तदुक्तिमात्रारम्भे सम्भावितपराजया वादिनो मौनं भजन्त इत्यर्थः ।

१- श्री० च०, ३।५८ । २- वही, ३।५५ ।
३- वही, ३।५१ ।

सभासु पराजयान्मौनं श्रेयः । यस्य श्रियं हृत्वा ह्रीक्रियते स लज्जावशात् ह्रदे मज्जति" :टीका: । श्लोक का टीकानुसारी अन्वय होगा-- सर्वप्रतिभामयीं श्रियं विलुण्ठ्य यस्य उद्धतैर्वाग्भिः ह्रीकृताः प्रतिवादिनां गिरः सद्यो गभीरमौनह्रदमग्न-मूर्तयो भवन्ति : सर्वप्रतिभाश्री लूटी जाकर जिस-अहंकार-भरे उद्धतवचनों के द्वारा फटकारी गई प्रतिवादियों की वाणियां शीघ्र ही गहरे मौनह्रद में डूबी हुई मूर्तियां हो जाती है :।

टीका में श्लोकार्थ "मौनान्न निःसरन्ति" पूरा हो जाता है । टीकाकार को सन्तोष नहीं हुआ, अतः ------"मौनं भजन्ति इत्यर्थः", पुनः स्पष्ट किया । फिर भी------" --- मौनं श्रेयः" से मौन का कारण बताया । तब भी, अभी डूबने का कारण बताना शेष रहता है । इसे टीकाकार ने चौथे स्पष्टीकरण ------"ह्रदे मज्जति" से स्पष्ट किया है । शोक यह है कि इतने पर भी अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है --

१- वि + लुण्ठ :स्तेये: + ल्यप् - विलुण्ठ्य लूटकर या चुराकर । लुटेरा या चोर भी स्वयं अहंकार मदांध ही हैं । जो प्रतिवादियों की प्रतिभा-श्री लूट कर, उन्हें उद्धत शब्दों में डाटते-फटकारते भी हैं । अधिक आश्चर्य तो तब होता है कि जब सर्वप्रतिभाश्री लुटाकर और डाट-फटकार खाकर प्रतिवादियों की वाणियां एक मौन हो जाती हैं । हाथ-पैर उठाने की तो बात ही दूर है । क्योंकि - "यस्य प्रतिवादिनाम्" - लुटेरा एक और प्रतिवादी अनेक हैं । : न हुई काशी, यह पंक्तियां काशी में ही लिखी जारही हैं । काशी के विद्वान् हार होती देख, झट कोलाहल मचाकर तालियां बजा देते हैं कि प्रतिवादी हार गया":। लज्जा प्रतिभाश्री को लूट कर डाटनेवाले को आना चाहिए । न कि लुटने वालों को । यह लोकविरुद्ध है । उन्हें रोष आना चाहिए । भले ही वे उसे व्यक्त करने में समर्थ न हों ।

२- "विलुण्ठ्य" का प्रयोग ही यहां अशुद्ध है । वाद-विवाद में सम्भावित हारनेवाले व्यक्ति की प्रतिभा-श्री वादी के द्वारा बलपूर्वक लूट नहीं ली जाती है। वे स्वयं ही भीरु हो जाते हैं।

३- "यस्य" के स्थान पर येन प्रयोग करना चाहिए, तब "विलुण्ठ्य" के साथ एकवाक्यता आएगी ।

१- टीकाकार ने "बहुलसम्भृतपान्थजीवकोषे" विशेषण गुणीभूत "पुष्प-पंक्त्या" का न देकर "भृत्याः" का दिया है। सारी पुष्पपंक्ति मात्र वरुण ही नहीं है। पत्ते हरे हैं, तना श्वेताभ-मटमैला है और पुष्पों का ऊपरी आवरण :दल: काला है। अतः "जीवकोषे" उपमा व्यर्थ है।

२- ---------"गौरवशात्"। इसका अर्थ यह हुआ कि मृत जीवों में भी भार :गौरव: होना चाहिए।

३- "इह" अधिकरण का अनंभूत विशेषण - "विरहिणीनामंगु०------ ------ मृत्युः" के बाद विराम का क्या अर्थ है? ---"अपमृत्युः" क्रियाविशेषण है। "इह विरहिणीनाममृत्युः", अन्यत्र "पतिवतीनांजीवनदः"?

४- "ज्वलति दीप्यते" :कुछ नहीं समाता: आत्मनेपद प्रयोग ठीक है। कवि को भी अभीष्ट है। परन्तु, छन्दोभंग के कारण कवि ने आत्मने० प्रयोग किया नहीं है। जबकि दीप्यर्थक ज्वल धातु वस्तुतः आत्मने० है। शुद्धरूप "ज्वलते" होता है। क्य "जन्यते" भी आत्मने० है। "ज्वलते" बनेगा। टीकाकार ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया।

५- बहुत से जीवों को मारनेवाले राक्षस की आँखें लाल-चपल होती हैं। राक्षस स्वयं पलाश है। वही दीप्त होरहा है। परन्तु "पुष्पपंक्ति" उसकी "आँखें" :बहुवचन: नहीं है। ----"तस्य नेत्राणि ज्वलन्ति"? :नेत्रे मतः:। राक्षस के शोणचपल नेत्रों का प्रस्तुतार्थ में उपयोग क्या है?

६- किसी भी शास्त्रकार ने जीव को चपल नहीं माना है। चलचापलित्य और चपलता दो भिन्न-भिन्न गतियां हैं। मन अवश्य चपल और ज्योतिरूप होता है। पर वह भी, रक्तवर्ण और मांसल तो नहीं ही होता है।

टीकाकार अशुद्ध और व्यर्थ ही भूल का समर्थन कर रहा है।

कमल अपनी सुगन्धि आदि से "श्यामा-पद्मिनी" की स्मारकता से उद्दीपक होता है, चन्द्र में नायिका के मुख का वर्तुलत्व और आह्लादकत्व समाविष्ट है, इसलिए चन्द्र-चांदनी उत्तेजक हैं, आती कोयल अपनी पंचमतान से उत्तेजक है, और भृंग भ्रमरी और मिथुन-ध्वनि के प्रतीक माने जा सकते हैं। वह निर्गन्ध किंशुक

महोदय क्यों इतने विष्णाक हो रहे हैं ? कुछ वर्णसाम्यता हो सकती है।

तुलना के इस वर्णसाम्यता आधार को देखते हुए मूल में 'मृत्यो' आदि देने की वैसी कुछ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'जीव' के स्थान में 'हृदयानि' देना उचित था। पलाश के फूल अरुण होते ही हैं, अतः 'पुष्पपंक्त्या' से काम चल सकता था। 'अरुण' व्यर्थ है। 'अरुणपुष्पपंक्त्या' का विशेषण 'वर्ण' और भी खटकता है। 'पवनचला' भी व्यर्थ ही है। निस्पन्द भी पलाशपुष्प 'रक्तत्व' का स्मारक हो, उत्तेजक है ही। 'एह' वने के अर्थ में प्रतीत होता है। वन में पथिकों का विरहोत्तेजन विनाश और उनके हृदयों का पलाशकुसुमों में सम्भृतत्व उचित है। पर, 'विरहिणामकालमृत्युः' अर्थ को दुर्बल बनाता है। 'प्रोषितभर्तृकाओं' को पलाशपुष्पों से उत्तेजन नहीं होना चाहिए। एक ही वस्तु समानरूप से पुरुष और स्त्री दोनों को समान रूप से उत्तेजन नहीं करती। विरहिणिनियों ने पुष्पों को देखकर यह निश्चय कर लिया हो कि यह रक्तपुष्प उनके पतियों के हृदयादि हैं, वे मर गए, अब उन्हें भी अकाल में ही सती होना ही पड़ेगा, इसकी भी कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि कवि ने वनविहारादि के व्याज से स्त्रियों का वन से सम्बन्ध श्लोक में नहीं दिखाया हुआ है। 'मृगदृशा' पद व्यर्थ है। स्त्रियों के चंचल और बड़े-बड़े मृगदृगों का प्रकृतार्थ में कोई उपयोग नहीं है। विधवाओं के लिए 'विरहिणीत्व' की सम्भावना उनका उपहास करना है।

:ख: दृप्यन्मान्मथरुधिरीभटस्पष्टकृष्टकरवालरोचिषाम्।
वन्ध्योऽन्धकामयोषितोऽभवन्वल्लभाभिसरणायसुत्रयाम्॥[1]

'मान्मथरुधिरी०' न होकर 'मान्मथिरुधिरी०' होना चाहिए था। टीकाकार ने टीका में 'मान्मथी' दिया भी है। 'मन्मथरुधिरी०' :मन्मथस्य रुधिरी०: पर्याप्त था, 'मान्मथरुधिरी०' में विग्रह 'मान्मथस्य रुधिरी०' होगा। अर्थ होगा- मन्मथस्य सम्बन्धिनो रुधिरी०, मन्मथ से सम्बन्धवाले की

१- श्री० क०, १०।२०

वरूथिनी०, यह कवि को अभीष्ट नहीं है। 'मान्मथिवरूथिनी०' कर्मधारयसमास ही बन सकता है। विग्रह होगा- 'मान्मथी च वरूथिनी० च'। इस विग्रह में 'वरूथिनी०' प्रधान है और मान्मथी गौण। इसका परिणाम यह है कि मन्मथ की मन्मथता क्षीण हो गई। टीकाकार ने भी इसीलिए 'दृप्त' विशेषण 'वरूथिनी०' के साथ ही जोड़ा है। 'वरूथिनी०' के 'मान्मथि' और 'दृप्त' दो विशेषण हैं। एक ही विशेष्य के कई विशेषणों में बह्वच् विशेषण पूर्व रखे जाते हैं - : 'श्यामलगौरशरीर', न कि 'गौरश्यामलशरीर': अतः 'मान्मथि-दृप्तवरूथिनी०' होना चाहिए था। परन्तु तब छन्दोभंग निश्चित है।

------ करवालरोचिषाम्'। यहां श्लोकार्ध और पाद के साथ-साथ वाक्य भी पूरा हो गया है। इसी कारण 'रोचिषाम्' के म् को न अनुस्वार ही हुआ है और न 'म्' अगले पादारम्भ में संक्रान्त हो सका है। तब 'रोचिषां अन्धो ऽन्ध०' कैसे माना जा सकता है। ----'रोचींषि प्रभास्वतां अन्धाः सदृशा अन्ध०' टीका विचारणीय है। अथवा, यहां कविकृत छन्दोभंग दोष स्वीकार करना पड़ेगा।

'ज्योति की ऊर्मियां' प्रकाशकिरणें होती हैं, पर यह 'अन्धतमसोर्मयः' क्या है?

वस्तुतः यह सब है कुछ नहीं, टीकाकार भी इसे समझ रहे हैं, अतः उन्होंने 'कार्यसम्पादननिवेशाभ्यां कृपेन तमः साम्यम्' स्पष्टीकरण दिया है। यह भी अशुद्ध है, 'करवालरोचिषां' का 'अन्धतमसोर्मयः' से साम्य कवि को अभिप्रेत है। करवाल केवल 'रोचिषां' की उत्पत्ति-सम्भावना के लिए गृहीत है, रक्षार्थ नहीं। कृष्णाभिसारिका अन्धकार का आश्रय 'गुप्ति' के अभिप्राय से ग्रहण करती है, न कि रक्षा के। इसीलिए, दूती को ही नायिका समझने की भूलें अक्सर हो जाया करती हैं।।

यह 'मन्मथवरूथिनीभट' हैं कौन? टीका इस विषय में मौन है। और कोई न होकर यह केवल भृंग ही हो सकते हैं। 'मन्मथवरूथिनीभटभृंगरोचिषां - अन्धो ऽन्धतमसोर्मयः' पर्याप्त था। करवालादि व्यर्थ है।

:ख: 'अंजनगूढसुन्दरं क्वणं सराग-
पद्माकरापचितिविकुंठितागुपादः।
याते प्रभातसमये प्याबाक्रमः
पश्य स्वपित्यभिता विधुरन्तरब्वेः' ।। नै०च०, १८।७

भी है :अरुणकमलों के संकोच :विकासाभाव: में अभ्यस्त यह आततायी चन्द्र अब प्रातःकाल :सुराज: हो जाने पर समुद्र में :लज्जावश: डूब रहा है।

:ख: श्लोक में कुल्योनिपद्म को स्पष्ट ही दृश्यमान करते हुए तथा कमला के द्वारा स्वचरण-कमलों की सेवा के अभ्यस्त :विलासप्रिय: विष्णु प्रभात-काल हो जाने पर भी अभी शनिरशयन ही कर रहे हैं। पर, हे सुधांशुशुद्ध ! आप उठिये :क्योंकि आप वैसे विलासी नहीं हैं:।

:ग: श्लोक २४।२३ का भावार्थ है कि 'विश्वसाम्राज्य श्री ने वाणाग्निसात् त्रिपुरों को छोड़कर पुनः इन्द्र का संश्रयण किया'। टीकाकार ने साधारण अर्थ देकर, उस अर्थ की पुष्टि में 'स्त्री च संतप्तं त्यजतीतरं सेवते' किया है। परन्तु, लोक में नियमतः हर स्त्री अपने क्रोधी पति को छोड़कर अन्य का सेवन नहीं किया करती।

अन्यत्र भी अनेकों स्थलों पर टीकाकार ने किसी भी दोष की उद्भावना न कर, जैसे-तैसे अर्थ की संगति बैठा दी है। टीकाकार का काम दोषोद्भावना करना भी नहीं है।

<u>दोषविभाग</u> - 'श्रीकण्ठचरित' में आपाततः प्राप्त दोषों को हम निम्नलिखित वर्गों में बांट सकते हैं ---

।ट। गुणीभूतव्यंग्यादि ध्वनिकाव्य-दोष,

।ठ। पददोष,

।ड। अर्थदोष,

।ढ। अलंकार दोष,

।ण। रसदोष,

।त। छन्दोभंगादिदोष और

।थ। लोकव्यवहारादि दोष।

इन दोषों के विवेक में मम्मटाचार्य के 'काव्यप्रकाश' के दोषलक्षण तथा क्रम को स्वीकार किया गया है।

<u>दोषनिरूपण</u>- ।ट। गुणीभू०--अगूढव्यंग्य, अन्य रस या वाच्यार्थ का अंगभूत व्यंग्य, वाच्यसिद्ध्यंग, अस्फुटव्यंग्य, सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य, तुल्यप्राधान्य व्यंग्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दरव्यंग्य नाम के आठ मध्यमकाव्यके

होते हैं।[१] इन्हें हम साधारणतया दोषों में नहीं ले सकते। परन्तु, फिर भी उत्तमकाव्य की अपेक्षा से, इन्हें दोषवत् ही माना जाता है।

१- अगूढव्यंग्य - किंचित्गूढध्वनि ही सहृदयाकर्षक हुआ करती है। सहृदयाकाव्य अर्थ में एक उपेक्षा का भाव आ जाता है --

घट्टयन्तु रुषा तेषु साटोपं करपंकजे: ।
हरसंवदि भीत्येव भिक्षा ऽपि कम्पिरे ।।[२]

गणों के क्रोध से समापतन भी कांप रहा था में वाच्यत्व अतिस्फुट है। कराँ का पंकजत्व निरूपण व्यर्थ है।

२- वाच्यांगव्यंग - वाक्य के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रधान अर्थ होते हैं। वाच्य की अपेक्षा लक्ष्यार्थ और इन दोनों की अपेक्षा व्यंग्यार्थ उत्तम माना जाता है। कभी-कभी व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का साधक बन जाता है। तब ध्वनि की चारुता नष्ट हो जाती है--

:अ: य: प्रोल्लंघयति स्म तारककुलं स्वर्वाहिनीनिर्मि-
प्रोच्चण्डेन निरर्गलेन च रणोल्लासेन शक्त्यैकधृ: ।
आरूढ: स भुजंगवैरिणमदं त्वद्वारि पारिप्लव:
सेवावाप्तिधिया स्थितिं विकृणुते स्कन्दो मुकुन्दो यथा ।।[३]

तारककुलं - तारक दैत्य के स्थान और ज्योतिष, स्वर्वाहिनी- सेना एवं गङ्गा, शक्ति: - पार्वती तथा सामर्थ्य और भुजंगवैरिणं- मयूर तथा गरुड प्रभृति श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से स्कन्द का मुकुन्द के समान होना व्यंग्य :उपमाध्वनि: था। कवि के द्वारा मुकुन्दो यथा पाठ से वह व्यंग्य वाच्यार्थ स्कन्द-स्तुति का साधक बन गया। श्लिष्टविशेषण मुकुन्द के समान स्कन्द अर्थ के पोषक - मात्र रह गए। उनकी व्यंजकता नष्ट हो गई। स्कन्दो मुकुन्दो वदि: कर देने से इन-इन विशेषणों से युक्त मुकुन्द के समान इन-इन विशेषणों वाले स्कन्द अर्थ में श्लिष्ट विशेषणों की सार्थकता अक्षुण्ण रहती है।

१- काव्यप्र०, कारिका ४५,

२- श्री० च०, ~~१४।३५~~ १९।२

३- वही, १४।३५।

।अ। "दैत्योपप्लवमखं श्रवणानुवर्त्ति-
मार्गेण ते गणगणा विनिपीतवन्तः ।
रज्यद्विलोचनकपोलतलाः स्फुरद्भ्रू-
वल्लीविलासवलितम् विकारमुग्रः" ।।[१]

दुराचारों को सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक होता है। आंखों का लाल होना भ्रूभंगादि तथा क्रोधादि में वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है। पूर्वार्ध में गणों ने दैत्यों के उपद्रवादि सुने। उन्हें क्रोध आना स्वाभाविक है। उत्तरार्ध में कवि ने भ्रूविकारादि के कथन के द्वारा उस व्यंग्य क्रोध को वाच्य बना दिया। वाच्य क्रोध- 'गणों को, दैत्योपद्रव सुनने पर, क्या हुआ ; उन्हें---- आया, का साधक मात्र रह जाता है। क्रोध स्थायी न रहकर संचारी-सा प्रतीत होने लगता है।

।ब। "तेषां मुखेषु रिपुसैन्यमदान्धगन्ध-
दन्तीन्द्रगण्डतटखण्डनचण्डचारः ।
भालस्थलोद्भ्रमदलीकरालकराल-
भ्रूवल्लरीभिरुदपुच्छयतेव कोपः" ।।[२]

यह भी पूर्वपद्य जैसा ही है। 'शत्रुरूपी हाथियों को मारने वाला सिंहरूप कोप उनके मुखों पर कम्प उठा, जैसे (सिंह की) पूंछ'।

।स। "बिम्बं रवेर्घटितराहुशरीरशेष-
संवादिताण्डवनिबन्धकबन्धम् ।
आसीत्पुरारिरथचक्रतापि-
कोटीसोदरनिजारिणगभीररन्ध्रम्" ।।[३]

सूर्यबिम्ब नाचता राहु मालूम होता था अर्थात् नाचते हुए सूर्य के बीच में कड़ा सा गड्ढा दिखाई दे रहा है। गहरे रन्ध्रवाला यह सूर्य शीघ्र ही शिव के रथ का पहिया जो बनेगा।

३- <u>समप्राधान्य</u> - कभी-कभी व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के तुल्य ही चारु होता है--

---

१- श्री० क०, १८।१ । २- वही, १८।३८ ।
३- वही, १६।५० ।

:उ: `फूत्कारैस्तुदतोऽप्यमा गरलोद्गारैर्गिरीशोरगा-
न्पश्यन्ते त्रिदशा अपि प्रतिफलं सर्वे नमस्कुर्वते ।
यत्सर्वाङ्गमतां खलात्मसुत्पकैता अप्यमी
संवृष्वा भवतौ कनांगघटनादिस्त्रोपरि स्थापिनः` ।।[१]

पूर्वार्ध में--`दुःखद भी गिरीशोरग देवताओं के द्वारा नमस्कार किए जा रहे हैं-- सर्पों का श्रेष्ठत्व गम्य है। उत्तरार्ध का वाच्यार्थ भी यही है। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ `तुल्यप्राधान्य` की कोटि के हैं।

:ऊ: `तत्क्षुद्भ्रमसुंधराकुलकिरातातिप्रतापानल-
प्राग्भारं वमताभिमाट्टहसितज्वालावलीलीलया
तेषां रोषकषायितेक्षणपुटव्याजेन वीरश्रियो
दीपानादधिरे विवेकुमहुरान्संयन्निशायामिव` ।।[२]

`प्रमथगण क्रोध में भयंकर अट्टहास कर रहे थे। उनकी आँखें अग्नि-सी जल रही थीं`, श्लोक का वाच्य है और `उन्हें भयंकर क्रोध आया हुआ था` व्यंग्य। दोनों `समप्राधान्य` हैं।

४- <u>असुन्दर</u> - कभी-कभी बड़ा अशोभन भी व्यंग्य निकल आया करता है--

`क्ष्मापीठपृष्ठमपि घट्टयतोऽतिवेल-
मुक्तेमत्वरस चवमानदृष्टेः ।
अभ्यासतो मुरजवादनविभ्रमेषु
नो नन्दिनः करतलं श्रममाससाद` ।।[३]

पद्य का वाच्यार्थ है--`गर्वयुक्त आंखों वाले नन्दी की हथेलियां बड़ी देर तक पृथ्वी को पीटते रहने पर भी नहीं थकीं, क्योंकि वे मृदंग के बजाने के सतत् अभ्यासी थे।` व्यंग्यार्थ निकलता है--`मृदंग बजाने के सतत् अभ्यासी नन्दी व्यर्थ ही पृथ्वी को पीट रहे थे।`

पीठ और पृष्ठ पर्याय हैं। `क्ष्मापीठ` या `क्ष्मापृष्ठ` तो ठीक है, पर क्ष्मापीपृष्ठम् का अर्थ होगा `पेट`। नन्दी वृषभाकृति हैं। उनके `करतलों`

१- भो० च०, १४।५२ । २- वही, १४।५८ ।
३- वही, १४।५२ ।

और 'षण्मुखवादन' हर की कल्पनाएं हैं। वृषभ अपनी पौरुष-शक्ति के लिए तो प्रसिद्ध है, पर युद्धशक्ति के लिए नहीं।

:ठ: पद दोष वाक्यदोष भी इन्हीं के साथ हैं। एक पद का दूषित होना भी रसचर्वणा में विरसता उत्पन्न कर दिया करता है।

१- च्युतसंस्कृति - किसी महाकाव्य में 'व्याकरणलक्षणहीन' :का० प्र०: पदों का होना अत्यन्त दुःखद विषय है।

:अ: 'रमणी ------ विरावबोधि' [1]। 'विवेद' ठीक होगा।

:आ: 'भ्रंशुरमुद: ----- मधु कर्मी षु रपरामृशदाविधिम्' [2]। इष धातु द्विकर्मक नहीं है। अतः 'मधु---- अतिथिम् कर्मी षुः' अशुद्ध है। 'मधु अतिथी-कर्मीषुः' हो सकता है। पर छन्दोभंग हो जायगा।

:इ: ---' पौष्पचापे सदसि' [3]--- पाठ अशुद्ध है। 'मीनकेतोः सदसि' उचित होगा।

२- अप्रयुक्त - व्याकरणसम्मत परन्तु अप्रयुक्त पद :तथाम्नातमपि कविभिर्ना-दृतम्' का० प्र०:

:अ: ------'व्यंजन्समालब्धिमता०' [4] में 'समालब्ध' पद बन सकता है। परन्तु प्रयोग में समालब्धम् ही आता है। फिर भी यह 'समालब्धम्' 'लिप्तम्' का अर्थ नहीं दे सकता, जो कवि को अभीष्ट है।

:आ: ---' ---तनुर्बभूतम्' [5] में 'तनु' पद ह्रस्वान्त पठित तो है, पर प्रयोग में 'तनू' ही है। कवि ने कई बार इसका ह्रस्वान्तप्रयोग किया है।

:इ: -----'तत्र सुवर्णाशुम्भ्वराशु०' [6] में 'सुवर्णाशुम्भ्वरा' सुवर्णात्र के अर्थ में किसी अन्य कवि ने प्रयोग न किया होगा। 'वसुन्धरा' वीरभोग्या अवश्य है, पर 'सुवर्णा' नहीं।

१- श्री० च०, ८।२६ । २- वही, १४।१ । ३- वही, १८।४७ ।
४- वही, ६।५६ । ५- वही, १३।४२ । ६- वही, १८।५८ ।

३- असमर्थ - अभिप्रेत अर्थ के कथन में जो पद शक्त न हो : "यदर्थं पठ्यते न चात्रास्य शक्ति:", का० प्र०: ।

:अ: ---"लीलालिपुंजाकिराचामर०"[१]---- में "पुंज" पद "माला" अर्थ में प्रयुक्त है । परन्तु उसमें इसकी शक्ति नहीं है ।

:आ: ---"विप्रयोगभरजर्जररामे"[२] । पद "विरहातुरपान्थप्रियासु" तथा "विरहातैरामे" अर्थों के कहने में सर्वथा असमर्थ है । विशेष कर "जर्जर" पद "आर्त" के बोधन में । वातकृतादि आर्त हो सकते हैं, पर जर्जर नहीं । "विप्रयोग" में "प्र" स्पष्ट ही निरर्थक और अधिक प्रयुक्त है । "वियोगभर" ही शुद्ध है । विप्रयोग संयोग भी हो सकता है, जो अभीष्ट नहीं है ।

इसी ११।१० का आदिपद है--"चन्द्रहासपयदर्शनतात्म्यत्" । यह वियोगिनियों के पक्ष में तो लग सकता है कि वे ज्योत्स्ना को देख-देख कर व्याकुल हो रही थीं । पर, सीता के विषय में यह कहना कि वह रावण के चन्द्रहास को देखकर मर्मित हो रही थीं, नितान्त झूठ होगा ।

:इ: -----"नीलखण्डकाण्डरस०"[३] में "काण्ड" पद खण्ड या भाग के अर्थ में प्रयुक्त है, पर काण्ड और टुकड़े या अंश में बड़ा भेद होता है ।

:ई: "घटमानदन्तवलयाभिमुः सुखभुजा मृदुलबाहुलता: ।

निजकान्तिचौर्यरचनैकरुषा कृतवेष्टनाइवमृणालदलै: ।।"[४]

उक्त पद में "दन्तवलय" "मृणालदल" नहीं हो सकते । "मृणालदल" हथकड़ियाँ के वाचक तो कभी हो ही नहीं सकते । फिर "दल" शब्द पत्तों या पंखुड़ियों का वाचक है, न कि "नाल" :काण्ड: का । मृणाल नाल के वलय बनाए जाते हैं, दलों के नहीं । मृणालनाल मृदुकण्टकयुक्त घटमैले ही होते हैं श्वेत नहीं । हाँ "बिसतन्तु" अवश्य ही श्वेत होते हैं । पर, उनके वलय नहीं बनाए जाते । बाहुओं का "लता" विशेषण भी अनुगुण है । क्योंकि मृणालनाल के ही परिवार की है । उनके-सम्बन्धियों के चोरी करने पर भी एक बार सोचना पड़ता है

१- भी० च०, ~~१४।---१४४~~ ६।४७ । २- वही, ११।१० ।
३- वही, ११।३५ । ४- वही, १३।१८ ।

कि 'पति को सूचना दी जाय या नहीं' ।

:ग: 'मणिकांचिरंकितकिंकिणिकया रमसादवध्यत तनो परया ।
न यदंशुनिस्सुतनितम्बतया भाति स्त्रियो रतिषु सा विभ्रमः' ॥[1]

:अन्वय- 'तनो परयाकिंकिणिकया रभसाद् मणिकांचिरवध्यत । यदंशुनिस्सुतनितम्बतया सा रतिषु स्त्रियो विभ्रमो नभाति' : । 'निस्सुतनितम्बतया' में 'नितम्ब' पद गुह्यस्थान के लिए प्रयुक्त है, पर उस अर्थ में इसकी शक्ति नहीं है।

कवि ने यह भूल जानबूझ कर की है । उसे अश्लीलपद प्रयोग से बचना था । 'तदंशुभिरच्छादितया' से भी काम चल सकता था ।

:घ: ---- 'अपयान्यर्थानि स प्रागे स्त्रियमनुगुरुर्ये०----'[2] में 'प्रागे' पद प्रातःकाल के अर्थ में अभीष्ट है, जो सर्वथा अशक्य है ।

:ङ: ---- 'तदायुर्दुंहपि प्रेद० ---- हविर्भुजि'[3] में 'तदायुः' पद 'तेषां :असुराणां आयुः: के कथन में असमर्थ है ।

:च: 'तत्कर्मणि' ----- :युद्धे:, 'निर्मातुंयत्नं' :उपायं कर्तुं: और 'मार्गणतां'[3] :उपायभूतां बाणरूपताम: सर्वथा असम्भव हैं ।

४- अनुचितार्थ - : 'अनुचितोऽविवक्षितार्थतिरस्काररूपमभिव्यंजकोऽर्थोयस्य तदित्यर्थः', नागेश्वरी टीका: अभीष्टार्थ के विरुद्ध भी किसी अनुचित अर्थ का सम्भव हो जाना ही अनुचितार्थदोष कहलाता है । -- 'अम्बुजेषु । प्रभवति गिरिराजपुत्रि । नहिं कथमपि तत्सुखानपादपातम्'[4] । 'हे गिरिराजपुत्रि । कमलों में ईर्ष्यालु तुम्हारा मुख उस :कमल: के सुहृद् सूर्य के 'पादपात' को सहन नहीं कर पाता । 'पादपात' पद 'कराघात' का भी वाचक है ।

५- निरर्थक - पाद या छन्दोपूर्तिवश अनावश्यक पदों का रखना : 'पादपूरणमात्रप्रयोजनंचादिपदम्', का० ५०: ।

१- श्री० क०, १३।२६ । २- वही, १६।३१ ।
३- वही, १६।३३ । ४- ७।१२

:अ: 'परिणतिमुपजग्मुषा तुषारद्युतिवपुषोदरसीम्न्यखण्डितेन'[1] - 'अखण्डितेन तुषारद्युतिवपुषा उदरे परिणतिमुपजग्मुषा'। 'सीम्नि' पद निरर्थक है। 'उपजग्मुषा' में 'उप' भी व्यर्थ ही है। 'पौन:पुन्य' के अभाव में क्वसु प्रत्यय का प्रयोग भी व्यर्थ है। 'परिणतिमुपगतेन' या 'परिणतिप्राप्तेन' पर्याप्त था।

:आ: 'तव वरतनो! वलीविमर्शप्रतिफलनप्रविमर्शमूर्तिरिन्दु:'[2]। में 'प्रविमर्श' का 'प्र' निरर्थक और 'वली' में 'त्रि' न्यून है।

:इ: 'धुन्वन्पर: परुषरोषतयोत्तमाङ्गं प्रेङ्खोलकेलिमणिकुण्डलयुग्मभङ्ग्या। निन्ये निनर्तिषति वैरिकबन्धलोके सन्दष्टतालपुटतामिव वक्त्रचन्द्रम्'[3]॥ :अन्वय- 'पर:- सुभट:- परुषरोषतया उत्तमाङ्गं धुन्वन् प्रेङ्खोलकेलिमणिकुण्डलभङ्ग्या वक्त्रचन्द्रं, निनर्तिषति वैरिकबन्धलोके, सन्दष्टतालपुटतामिव निन्ये':। 'केलि' निरर्थक है। 'मणिकुण्डल' ही पर्याप्त है। 'प्रेङ्खोल' से 'कम्प्' का भाव नहीं आता। 'प्रकम्पमणिकुण्डल०' शोभावह है। 'सुभट' के 'वक्त्र' में 'चन्द्र' से कोई प्रयोजन विशेष सिद्ध नहीं होता। 'वैरिकबन्धेषु' के अर्थ को 'वैरिजनकबन्धेषु' तो किसी प्रकार कहता है, परन्तु 'वैरिकबन्धलोके' नहीं। 'लोके' व्यर्थ है।

:ई: 'धूमच्छटाप्रविकटभ्रुकुटीपुटस्य०'[4] में 'प्र' निरर्थक है।

६- अवाचक - जो पद तद्गुणविशिष्ट धर्मी के कथन में समर्थ न हो। अयोग्यता कभी धर्मी में और कभी धर्म :गुण: में रहती है : 'विवक्षितधर्म-विशिष्टस्य विवक्षित धर्मिण: क्वापि न वाचकं तत्:', नागे०:

:अ: ---- 'य एक एवावसथो जगच्छ्रिय:'[5]। में 'आवसथ:' पद 'आश्रय:' का वाचक नहीं है।

:आ: 'पृष्ठभ्रमत्सजलषट्पदचक्रचिह्नम्'[6] में 'पृष्ठ' पद :चक्रिया के: 'ऊपरी' :चक्र: का वाचक नहीं है। 'घरट्टविलासम्'[7] भी 'विलासघरट्टम्' का वाचक नहीं है। ----- 'अखण्डदयिताश्लेष०'[8] में 'अखण्ड' निबिड का अवाचक है।

१- श्री० च०, १३।१६। २- वही, ११।२७। ३- वही, १८।१४। ४- वही, १८।१८। ५- वही, ३।६४। ६- वही, ६।६३। ७- वही, ७।२७ ८- वही, १५।४२

:ए: ----`मुकुलितरजो:`[1] में `मुकुलित` पद `अल्पीकृता` का वाचक नहीं है।

:ऐ:`चन्द्रातपाभिसरणे` में `आतप` ज्योत्स्ना का अभिधायक नहीं है।

:ओ: `प्रकटीविधातुमिव केलिपथं`[2] में `प्रकटीविधातुं` पद `निर्मातुं` का अवाचक है। वैसे यह कवि का बड़ा विदग्ध प्रयोग है। कवि ने इस पद को - मकड़ी की भाँति अपने ही अन्दर से निकालकर, उसी के जाले के समान, अन्धकाराच्छादित अभिसरणमार्ग बना लेने के अर्थ में प्रयोग किया है। `केलिपथम्`[3] `अभिसरणमार्ग` का अवाचक है। `केलि` `रतिकेलि` का भी वाचक नहीं है।

:औ: -----`गिर: श्रुत्वा तल्पं झटिति मुमोचि, प्रियतमा

चिरं शिश्ये तस्य त्वचिरमवमुत्सृज्य शयनम्` ।।[4] में `शयन` पद `तल्प` का पर्याय नहीं है।

७- अप्रतीत - शास्त्रविशेष में ही प्रसिद्ध और प्रयुक्त पद :`यत्केवलं शास्त्रे प्रसिद्धम्`, का० प्र०:।

:अ: `अकल्पयच्चकोरी: स्वदेहमारात्रिकायैव मधुकराली`[5] । में `आरात्रिकम्` :किसी की कुशादि आधि-व्याधियों को अपने ऊपर ले लेने के विचार से भरे हुए मृद्घट को लेकर रुग्ण के चारों ओर घूमते हैं, और पुन: उस घट को बाहर किसी दूर स्थान पर धर आते हैं।: पद अभिचारशास्त्र में ही प्रसिद्ध है।

:आ: -----`मानिनी चकितसङ्कुचितमुद्राम्`[6] ।। में `सङ्कुचितमुद्रा` :पीपलादि के नीचे या श्मशानादि में विधि-विधान विशेष के साथ भाव-विशेष में बैठना: भी अभिचारशास्त्र में ही प्रसिद्ध है।

८- नेयार्थ - `रूढ़ि प्रयोजनशून्य कष्टप्राय लक्षणा :`यन्निषिद्धं लाक्षणिकम्`, का० प्र० :।

:अ: `स्मेरेण चन्द्रो मुखागंनानां कुलेन सापत्न्यमवालम्बे`[7] ।। में `सापत्न्य`

१- श्री० च०, ११।३७। २- वही, १३।२६। ३- वही, १३।२६।
४- वही, १६।५७। ५- वही, ६।१५। ६- वही, ११।३। ७- वही, ६।३८।

:स्पर्धा: की नेयार्थता टीकाकार के ही शब्दों में देखिए -- 'अन्यथान्यस्याः समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नीति मुख्योऽर्थः । तस्य श्चान्यस्यां प्रति प्रायशो द्वेष इति सपत्नीशब्दो द्विष्टमात्रकः । द्वेषस्य सदृशे सदृशस्येति :विचारणीयः लक्षित-लक्षणया सदृशमात्रवृत्तिः । अतः सापत्न्यशब्दः स्पर्धावाची' :टीका: ।

:आ: 'शयनमपि सरोजिनीपलाशैरसितैरन्यसितैरातपत्रैः ।
अमृतकरतनोरितमाति तस्या घटितविधुंतुदसंततिप्रतिष्ठाम्' ।।[1]

'श्वेत कामकटक से भिन्न कृष्णवर्ण सरोजनी के पत्तों से बनाया गया विरहिणी :नायिका: का शयन भी उसके लिए उत्पन्न राहुसन्तति को व्यक्त करता है'। 'तस्या अमृतकरतनोः शयनम्' में 'अमृतकरतनुः' पद में सारोपा गौणी लक्षणा है। नायिका की कोमलता व्यंग्य है। इस व्यंग्यार्थ में पद्मिनीदलों का राहुसन्तति के समान दुःखद होना सहायक है। इस सहायता :हेतु: के अभाव में यह व्यंग्यार्थ असम्भव था। यही इसकी नेयार्थता है। साधारणतया चन्द्र की उपमा नायिका के मुखमात्र से दी जाती है, और उसमें चन्द्र की मनोज्ञता, आह्लादकता, श्वेतता तथा वर्तुलत्व मुख्य हेतु होते हैं, कोमलता नहीं।

६- न्यून पदत्व - वाक्य में किसी आवश्यक पद का न होना :'अनुपात्तविवक्षितार्थकं पदं वाचकशब्दायत्र वाक्येतद्', नाग० :।

:अ: 'सा वाणी मृणीकृता निरवधि व्युत्पत्तिशाणाश्मनि' ।।[2]
'व्युत्पत्तिशाणाश्मनि मृणीकृता इव सा वाणी' में 'इव' अध्याहार्य है। इसी पद्य में 'सा वाणी उदेति' के संवादी वाक्य 'या धीमतां कण्ठे------ घटितो गुणो भवति' में 'भवति' या 'जायते' न्यून है।

:आ: 'भयतश्चचाल मुहुरङ्किताङ्गं दयितस्य गाढविनिमग्नमिव' ।।[3]
'अङ्किताङ्गं न चचाल', 'न' न्यून है। 'गाढविनिमग्नमिव' के साथ 'मुहुः' अधिक है। पूर्वार्ध में 'मृगनाभिपङ्कं' लेप हेतु कहा जा चुका है। अतः 'भयतः' दुर्हेतु भी व्यर्थ है। 'मृगनाभिपङ्कं' :'मृगस्यनाभावुत्पन्नायाः कस्तूरिकाया लेपसंरागम्': दीर्घसूत्रता है। 'कस्तूरिका' अध्याहार्य है।

१- श्री० क०, ७।२६ । २- वही, २।४१ । ३- वही, २३।३३ ।

:इ: "चम्पकान्ताराणतवतीतदा तुलां बकुलेन बालसहकारसंहति:" ।।[1]
अन्वय- "चम्पकान्तराणतवतीबालसहकारसंहति: तदा बकुलेन तुलां" ? "अभजत् या अवहत्" न्यून है। "संहति:" के स्थान में "संतति:" ~~(अधिक)~~ शोभावह है।

:ई: "देवी स्वयं भगवती"[2] ? "सुरा-मदिरा" न्यून है।

१०- अधिकपदत्व - वाक्य में अनावश्यक पद की स्थिति होना : "अविवक्षितार्थक पदक वाक्यम्", नाग० :।

:अ: "पार्श्वोपविष्टहरिकेशयमादियोगा- दुद्राम्पिद्रुतं रयमरालकुलं विहेतुम्।
आपृच्छ्य यं कमलभू: प्रभुसंमुखे- वाम्यन्वकुक्रमतिरोधमि मानसस्य"[3]॥
------"पिद्रुतं---- मरालकुलं विहेतुंवकुक्रमति" तीक का हेतु पर्याप्त था, "वाम्यन्" पुनरुक्त है।

:आ: ---"उर:शेषाहिरत्नान्तरे"[4] में "उर:शेषरत्नान्तरे" या "उरोऽहिरत्नान्तरे" होना चाहिए। शेष हो या अहि, दोनों नहीं। शिव की छाती पर "शेष" नहीं रहता। शेष पर विष्णु शयन करते हैं, या फिर पृथ्वी "शेषाधारा" है। "अहिरत्न" "सर्पमणि" का वाचक "द्रविडप्राणायाम" से हो सकेगा।

:इ: -----"मदनमदविपक्वतालवायु:"[5]।। यहां "मदनविपक्ववायु:" "मद" और "ताल" से अर्थ में कोई चारुत्व नहीं आता।

:ई: "अधिमधुमध्यमुरुपुष्पसंहतिभ्रमरावली कलकलाकुला।
हरमीतिमंजुरमकोमकौमुदा जलकुणगर्तगतसैन्यविभ्रमम्"[6]।। यहां "अधिमधुमध्यमुरुपुष्पसंहतिभ्रमरावली" के स्थान में "अधिमधुभ्रमरावली" पर्याप्त है। "अधिमधु" के बाद "मध्यम्" नितान्त व्यर्थ है। मकरन्द ही भ्रमरों को आकर्षित करने के लिए यथेष्ट है, जैसा कि स्वयं कवि ने ही कई श्लोकों में वर्णन किया है, फिर मधु के मध्य में "पुष्पसंहति:" की क्या आवश्यकता ? चम्पक में कमलादि एक-दो पुष्प भी पर्याप्त हैं, "संहति:" पुष्पों का अतिरेक है। "हरमीतिमंजुरमकोमकौमुद:"

१- श्री० क०, १४।२१ । २- १४।५४ । ३- वही, ५।१६ । ४- वही, ५।५५।
५- वही, ७।२१ । ६- वही, १४।३८

ठीक है। ----'महार्णवा०' में भी समास होकर विभक्ति का लोप होना चाहिए। 'जलदुर्गगतं गतसैन्यविभ्रमम्' में 'जलदुर्गगतसैन्यविभ्रमम्' उचित है। 'गतं' पद अधिक है। भगवान् रुद्र ने स्वयं काम को भस्म किया था। कामकटक को नहीं। काम ने स्वयं जलदुर्ग में न छिपकर स्वसेना को व्यर्थ ही छिपाया। 'चषक जलदुर्ग के समान है', एवं 'मदिरा जल के समान है' में 'अधिकोपमा' तथा 'हीनोपमाएं भी हैं। लिंगभेद तो है ही। 'कलकला' पद ग्राम्य है।

:ऊ: ---'वापासुतामरसनालमृणालवल्लीभिः'[1] में 'तामरसनाल' और 'मृणालवल्ली' में अन्तर स्पष्ट नहीं होता। 'तामरस' ब्रह्मयोनि है, 'वापास' नहीं।

११- अस्थानस्थपद - अनुचित स्थान पर स्थित पद और समास।

:अ: 'आयन्तेऽथ यथायथं तु व्ययस्तौ तत्र सन्तन्यते
वैऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषप्र दिशल्कोच्चयम्'[2]। यहां अनुप्रास, चित्र, यमक और श्लेष नामों के बीच में 'कठोर' विशेषण का गुम्फन नहीं हो सकता, विपाल का हो सकता है। अत: 'अनुप्रासदुश्चित्रयमकश्लेषा०' हो, या फिर 'कठोरानुप्रासचित्रयम०' पाठ किया जाय।

:आ: ----'कलिदुष्टदान्तिनं:'[3] के स्थान में 'दुष्टकलिदान्तिन:' होना चाहिए।

:इ: 'क्व यस्य नकन्दिवचन्द्रिका न द्युतिर्यु०'[4] के स्थान में 'क्व न यस्य नकन्दिव चन्द्रिकाद्युतिर्यु०' होना चाहिए।

:ई: 'द्विजाधिराजेन गवां प्रसादात्प्रसिञ्चयं कारितभूमिषेक:।
पान्थप्रियाणां मधुचक्रवर्ती नेत्रेष्वपास्यपाकार'[5]। इस पद्य में सभंगश्लेष है। वसन्त और चक्रवर्ती अभिधेय हैं।

अर्थ।१। - वसन्त :मधुचक्रवर्ती: ने, चन्द्र के द्वारा किरणों से भूमि को आप्लावित करवाकर, प्रोषितभर्तृकाओं की आंखों में वन्द वर्षा :अश्रुप्रवाह: को दूर कर दिया, उन्हें रुला दिया।

१- श्री० च०, १६।३० । २- वही, २।४२ । ३- वही, ३।३६ ।
४- वही, ४।५३ । ५- वही, ६।२३ ।

।र। चक्रवर्ती राजा ने ब्राह्मण के द्वारा गायों के दूध से भूमि को आप्ला-वित करवाकर वर्षा के प्रतिबन्ध को दूर कर दिया ।

यहाँ 'भूचक्रवर्ती' 'पान्थप्रियाणा' के बाद आकर उनके उपपति का बोधक हो जाता है । अतः इसे कहीं अन्यत्र होना चाहिए । 'प्रतिकाय' दोनों अर्थों में अनावश्यक-असम्भाव्य है । द्वितीय अर्थ में 'गवां प्रसादात्' का अर्थ गायों के दूध से 'नेयार्थ' है ।

:उ: 'हृत्यैव पाण्डुव्रतमाचरिष्णोः कपोलकुलात् पथिकाबलानाम् ।
रूपं कलत्रांकनवर्णचौरी व्यधत्तचैत्रोऽनवचम्पकेषु' ॥[1] :अन्वय- 'चैत्रः- पथिकाबलानां पाण्डुव्रतमाचरिष्णोः कपोलकुलात् कलत्रांकनवर्णचौरी रूपं हृत्यैव नवचम्पकेषु व्यधत्त' । यहाँ 'पाण्डुव्रतमाचरिष्णावीनां पथिकाबलानां' होना चाहिए । पाण्डुतागुण की प्राप्ति का व्रत पथिकाबलाएं कर रही हैं, न कि उनके कपोल मात्र ही, पीतिमा उनके सारे शरीर में परिलक्षित होती है, न कि कपोलमात्र में ।

:ऊ: ------ अम्बुहरन्निव घनस्तदनु भ्रमेण ।

श्वासस्तव पुरा रि०[2] में शुद्धपाठ--- 'तदघनश्वासः' है, जो छन्दो अनु-रोध से कहीं का कहीं आ पड़ा है ।

:ए: 'प्रसरतु चौथिका पादयुगं मृदुपद्मरागमणिनूपुरयोः' ॥ यहाँ 'मृदु' 'पादयुग' का विशेषण है, उसी के पूर्व होना चाहिए । न कि 'पद्मराग-मणिनूपुरों' के, वे तो अत्यन्त कठोर होते हैं ।

:ऐ: 'गीर्वाणपार्वणनिशारमणाननानाम्'[3] अपने शुद्धरूप में 'पार्वणनि-शारमणगीर्वाणाननानां' होगा । अनुप्रास श्रुतिकटु है ।

:ओ: 'ताता' मण्डलितावखण्डदयिताश्लेषप्रहर्षात्स्फुटी'[4]------, 'अखण्ड-दयिताश्लेषप्रह०' न होकर 'दयिताखण्डाश्लेषप्रह०' होना चाहिए ।

:औ: 'उपकमलिनीकूलं'[5] न होकर 'कमलिन्युपकूल' ही होगा । यद्यपि यह भी 'महीतट' के प्रति 'नेयार्थ' ही होगा । उपकमलिनी 'कोकायेती' को कहा जाएगा ।

१- श्री०च०, ६।४३, २- १३।३८, ३- १५।३२, ४- १५।४२, ५- १६।६

:अ: 'शान्ते मेदुरमोघमण्डलतुलाकारे तमोडम्बरे

द्रागाद्रीकृतसान्द्रचन्द्रदृषदि ध्वस्तेऽप्यपां दुर्दिने'[1] । छन्दो-
नुरोध ने यहां 'शान्ते-ध्वस्ते' का स्थान-विनिमय करा दिया है ।

१२- विरुद्धमतिकृत- स्पष्ट है ।

--------'शर्वाणीदयिततम:'[2] ------ बड़ा विचित्र पद है । शर्व + आनुक + ङीप् - शर्वाणी :शिव की पत्नी: । 'शर्वाणीदयिता' :कोई शिव से भिन्न:, 'शर्वाणीदयिततम:' :कोई और भिन्न: 'आगमुजंगादि' कई पद कवि ने प्रयोग किए हैं ।

१३- पतत्प्रकर्ष - अर्थ - अलंकारादि का गिरता हुआ उत्कर्ष :नागे०:

:अ: 'य: सान्द्रोदयरागयोगपुषा: सिन्दूरकुम्भालिपं
प्रागव्याप्त समस्तमान्मथवृहत्कोषप्रतिष्ठातिथि: ।
अद्य स क्रमशो निरंकुशरतद्युम्यत्पुरन्ध्रीश्रुती-
कर्णोत्फुल्लदन्तपत्रतुलनामल्लस्तमीवल्लभ:'[3] । इस पद्य के
पूर्वार्ध में कवि ने चन्द्र को कामदेव के वृहत्कोष का सिन्दूरटीका बताया है। व्यंग्य यह है कि 'उदयरागरंजित पूर्णचन्द्र अत्यन्त कामोद्दीपक था' । उत्तरार्ध में उसी पूर्णचन्द्र को कवि ने पुरन्ध्रियों के स्वच्छ कर्णदन्तपत्र :कानों के कर्णभूषण : बताया है । यहां पूर्णचन्द्र की उज्ज्वलता भी शून्य हो गई । वह मात्र श्वेतदन्तपत्र रह गया है । तब भी वह 'तुलनामल्ल:' कहा गया है ।

:आ: 'व्याख्याता पुष्पमान्मथोपनिषदां कल्याणमित्रं छल-
प्राणेशाभिसृतिव्रते कुहूवां सत्वप्रदीपो हरे: ।
व्यान्धालंकरणकान्तिदन्तुरवपु: सीमन्तितस्वर्भुवो
देवोऽयमत यामिनीप्रियतमस्तुच्छकारप्रथा'[4] । मकरकामो-
पनिषदों :रहस्यों: का व्याख्याता और यामिनीप्रियतमदेव :चन्द्र: अन्त में छकार की 'प्रथा' मात्र रह गया ।

१- श्री० क०, १६।२५ । २- वही, २०।५ । ३- वही, २०।४६ ।
४- वही, २०।५५ ।

कुवलयमुकुलों का, अपने मकरन्दकणाकुल से, मानिनियों को ईषत् उद्दीपित करते हुए, विकास को प्राप्त होना शोभावह है। पुन: उनके कामदर्प के बड़े-बड़े फण बन जाने से भी ध्वनि नवीन नहीं निकलती। 'मकरन्दकणाकुल' से तो आयासमात्र और विदीर्णफणों पर :खिले हुए पुष्पमात्र: से मरण भी नहीं कहा जा सकता।

:ई: 'कुर्वाणो निखिलं जगन्मुकुलितं मोहेन निद्रात्मना
ध्वान्ताडम्बरकालकूटकलनापीडाऽरुणाया दिश: ।
त्वन्मूर्त्यन्तरमर्यमा गिलति तं पश्याष्टमूर्ते यतो
विस्रस्ता कणिका इवाधिकलिनं भृंगा रुजन्त्यध्वगान्' ।।[1]

'हे अष्टमूर्ते! देखिए तुम्हारी अष्टमूर्तियों में से एक यह सूर्य उस ध्वान्त-कालकूट को लील रहा है कि जिस :ध्वान्त: ने निद्रामोह से जगत् को मूर्च्छित कर रक्खा था। अब उसकी छिटकी हुई विषकणिकाएं भृंग पथिकों को दु:ख दे रहे हैं।' यहाँ 'तं ध्वान्तकालकूटं गिलति' तक 'अर्यमा' की महिमा का परिचायक है। भंवरों का पथिकों को दु:ख देना उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

'ध्वान्तकालकूटोऽरुणाया दिश:' उक्ति है। शेष विशेषण व्यर्थ है। 'कणिका इव भृंगा:' में लिंगभेद खटकता है।

:उ: 'भक्त्यंचितं च घटितांजलिसंपुटं च
त्वां स्तौति स स्तवकितं भावन्यशोभि: ।
वाचा श्रीकविरयं तिरयन्मुखानि
श्रीमुक्तिलिखिता रथराजकानां' ।।[2]

---- 'वाचा श्रीकविरयं त्वां स्तौति' मर्यादापूर्ण है। रथ-वाहों को सम्भालते हुए ब्रह्मा का शिव की स्तुति करना वैसा ही है जैसा कि किसी विद्यार्थी का पुस्तक-कापियां हाथ में लिए हुए प्रोफेसर साहब को नमस्कार करना।

१- श्री० च०, १५।२३।

२- वही, १५।३१।

अचानक जीमूतों :मेघों: के गर्जन का हेतु उपात्त नहीं है। 'यशोभिः स्तबकितं' विशेषण, भक्ति-विह्वलता तथा अंजलिसम्पुट की भांति, श्रुता की श्रद्धाभक्ति में कोई वृद्धि नहीं करता, अतः पुनरुक्त-प्राय है।

१५- अर्थान्तरैकवाचक - 'वाक्यार्थों का अनुप्रवेश : 'प्रथमार्धगतवाक्यद्वितीयार्धगतैकपदेनैवतत्पूर्तौ तत्', नागे० :।

'विकसितसितपुष्पच्छद्मनाशा च तस्यौ
तरुरुह् यदलिकं प्रोषितप्रेयसीनाम्।
पिशुनयितुमसह्यं दुर्निमित्तं दिनेऽपि
स्फुटमयनि स एवानेकचन्द्रोपरागः' ।।[1] उत्तरार्ध का 'दिनेऽप्यनेकचन्द्रोपरागः' का स्पष्टीकरण पूर्वार्ध में और समस्त पद का उद्देश्य-भूत 'प्रोषितप्रेयसीना' एक कोने में पड़ा है। 'प्रोषितप्रेयसीभ्यो' चतुर्थी विभक्ति होनी चाहिए :'क्रुधद्रुहेर्ष्यासू०' अ० १।४।३७: क्योंकि यहां 'दुर्निमित्तं पिशुनयितुं' 'क्रुध' :अपकार: के अन्तर्गत है।

१६- अभवन्मतसम्बन्ध - अभीष्ट वाक्यसम्बन्ध का न हो सकना :'अभवन्मतश्चायोगः सम्बन्धाभावस्तत्', का० प्र० :।

:अ: 'रुद्रा त्रिनाड्डितमयापन नम्रमुकुट-
विक्षिप्तदिन्दुशकलाश्रितपुष्पकृत्याः।
आसीदयुग्मनयनाग्निशिखाभिरेते
नीराजयन्ति तव देव पुरोङ्घ्रिपीठम्' ।।[2] 'हे शिव! यह एकादशरुद्र अपने शिरश्चन्द्रकलाओं के फूल तुम्हारे चरणों में चढ़ा रहे हैं। और अपनी नयनाग्नि से उनकी नीराजना कर रहे हैं'। यह अर्थसम्बन्ध कई दृष्टियों से घटित नहीं हो पाता--

१- 'नम्रमुकुटविक्षिप्तदिन्दुशकलाश्रितपुष्पकृत्या रुद्राः' में पुष्प पद समास

१- श्री० च०, ५।६६ । २- वही, १६।५६ ।

में पड़कर गुणीभूत हो गया । सारा समस्त पद केवल 'रुद्राः' का विशेषण भर है, स्वतन्त्र वाक्य बनाने की क्षमता नहीं रखता ।

२- 'प्रक्रान्त' का स्मारक होकर 'एते' पद स्वतन्त्र क्रिया 'नीराजयन्ति' से अन्वित हो गया । पूर्वार्ध का --'पुष्पांजल्या रुद्राः' साकांक्ष बना रह गया ।

३- शिवभाल और चन्द्र में समवाय सम्बन्ध है, संयोग नहीं । अतः 'भालेन्दुपुष्पों' का 'शिवचरणों' में विकिरण भी सम्भव नहीं हो सकता ।

४- 'नीराजना' 'अंह्रिपीठ' :चरणों: की होरही है । ऊर्ध्वनेत्राग्नि वहां :नीचे: पहुंचने में असमर्थ है --'प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः', माघ ।

५- कवि ने रुद्रों को ठीक शिवाकृति का वर्णन किया है । साथ ही वे शिव से भिन्न भी हैं । 'शिवाद्रितनयायाः' उनके साथ भी अन्वित होने लगता है । यह अनुचितार्थ है ।

:आ: 'सोमोऽप्युपात्तामृतःशरस्य प्रोटंकयामास निवासमग्नौ ।
विलापिताभिःसविषाग्निधाम्ना सुधाभिराप्यायितजीवलोकः' ।।[1]

अग्नि में विलीन सुधा से जीवों का आप्यायन नहीं हो सकता । यदि स्वीकार भी कर लिया जाय तो शिवभाल में भी यही संयोग प्रसिद्ध है । उससे इसकी यह नवीनता कैसी ?

१७- विधेयाविमर्शदोष- अभिधेय का प्राधान्य से विचार न किया जाना :'अविमृष्टःप्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्रात्', का०प्र० :। यह पद-दोष भी माना गया है । अन्त में इसे देने का कारण यह है कि इसके उदाहरणार्थ एक सर्ग से द्वितीय सर्ग में प्रवेश करना पड़ रहा है । 'प्रक्रान्त' के अनुस्मरण के अनुसार संगति लगाई भी जा सकती है, और नहीं भी । 'नहीं भी' इसलिए कि प्रक्रान्त की अभिव्याप्ति श्लोकान्तर तक ही सम्भव माननी चाहिए, सर्गान्तर में नहीं । कवि ने श्लोक और सर्ग दोनों में स्वीकार किया है--

---

१- श्री० क०, २०।४५

वृन्दारकाधिपशिरोरुहपारिजात-

प्र॰बन्धुभिर्मुकुरैरुपाणितांघ्रिः ।

देवः स्वयं जगदनुग्रहकौतिकार-

इतं वातशीतकिरणाभरणोऽधिशेते ॥[1] यह पंचम सर्ग का प्रथम श्लोक है । इसमें आए हुए 'तं' का अभिधेय कैलास अपने शुद्धरूप में चतुर्थसर्ग के अन्तिम श्लोक ६४ में भी विद्यमान नहीं है । अतः केवल यही एक समाधान है कि चतुर्थसर्ग में जिस :कैलास: का वर्णन किया गया है, वह, उसके :'तं': । इतनी दीर्घव्यवहिता से अच्छा 'विधेयाऽविमर्श दोष' माना जाना ही होगा ।

पंचमसर्ग के कई श्लोकों में प्रक्रान्त शिव की अनुस्मृति करनी पड़ती है ।

१८- <u>अमतपरार्थ</u> - प्राकरणिक रस के विरुद्धरस के व्यंजक अर्थ की स्थिति होना :'अमतः प्रकृतविरुद्धःपरार्थो यत्र', का० प्र० - 'प्रकृतविरुद्धः प्राकरणिकस्य विरुद्धरसव्यंजकः परार्थो द्वितीयार्थोयत्र', नागे० : ।

:अ: 'कोऽपि प्रकोपितमतिः परकिंवदन्त्या

दन्त्याक्षरप्रसरसंभृतसिंहवीर्यः ।

अंगैः समीकशतपीतपरासिधारा-

धाराम्बु घर्मभरविभ्रमता ववाम' ॥[2] इस श्लोक में वीर का 'सिंहवीर्यत्व' 'दन्त्याक्षरप्रसर' वाक्यांश का गुणीभूत है । अतः वीर की ओजस्विता का द्योतक नहीं है । 'समीकशतपीतपरासिधाराम्बु' का अर्थ है- 'सैकड़ों युद्धों में शत्रुओं की तलवारों से घायल होने वाला' । 'घर्मविभ्रमता-ववाम' का भी अर्थ होगा- 'शत्रु को सुन कर उसे पसीना छूट जाय' । समस्त पद्य का अन्वयार्थ होगा- 'कोई वीर किंवदन्ती से शत्रु के दन्तियुद्ध को सुनकर, सैकड़ोंयुद्धों में शत्रुओं से घायल होनेवाला, पसीने से लथपथ हो गया' । यह प्राकरणिक वीररस के विरोधी भयानक तथा बीभत्स रस कवि को स्वप्न में भी अभीष्ट नहीं है । 'पीतपरासि॰में 'पर' अनावश्यक है । 'पीत' के स्थान में 'छोड़' और 'ववाम' के स्थान में 'सस्मार' कर देने से अभीष्ट अर्थ निकल आएगा, पर छन्दोभंग होगा ।

१- श्री० क०, ५।१ । २- वही, १५।३२

:आ: "प्रहरति हरिणांकं तवैषं कुचकुम्भान्तिकबिम्बितो हसन्त्या: ।
रुचिरचक्रकोकपक्षपातादिव सहासलताविलग्नेन" ।।[1] हारलता में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब बृहत् कुचों की अपेक्षा बहुत छोटे-छोटे होंगे । "चन्द्र-बिम्ब, हार में बिम्बित होकर, कुचों को मार रहे हैं" तो कहा जा सकता है, पर "कुच बिम्बों को मार रहे हैं," नहीं कहा जा सकता । आकर टकराने वाले बिम्ब हैं, कुच नहीं । यहां प्राकरणिक वाच्य शृंगार का व्यंग्य द्वितीय रौद्ररस विरोधी है ।

कोक-चकवा-चकई अपने रात्रि के विलगाव के लिए प्रसिद्ध हैं, और किसी विशेषता के लिए नहीं । चन्द्र उनके विलगाव में कारण भी नहीं है । अत: कुचों की "रुचि" और कोक में "सरूपता" ही क्या ? पक्षपात भी क्यों ? चन्द्र से कैसा प्रतिशोध ? "हसन्त्या:" पद निरर्थक है ।

:इ: "चुचुकोपमरुच: शशिबिम्ब: कोऽप्यदर्शि स निशाकुचकुम्भ: ।
पीडनं निबिडमुत्करैरिव यस्य मा तनुत कामिजनस्य" ।।[2] निशापति ही "निशाकुचकुम्भ" कैसे हो सकता है ? है, तो काला होना चाहिए, रात्रि काली ही मानी जाती है । क्या रात्रि "एककुचा" है ? शशिबिम्ब: "शशोऽस्या-स्तीति शशी, तस्यबिम्बमिति स: शशिबिम्ब:" में शशरूप :कालिमा: पूर्व से समाश्रित है, चुचुकोपमरुचत्व" की क्या आवश्यकता ? पुन: चुचुक कहते हैं- स्तन के ऊपरी कृष्णभाग को । शश या मृग कालाहीनहीं होता है, उपमा कैसी ? वह शशी, कि जिसका "शश" चुचुक के समान है, तो वह स्वयं भी कुच के समान होगया, पुन: उसपर कुचकुम्भत्वारोप पिष्टपेषण है । वस्तुत: इस पद्य में "चुचुकोपमरुच:" और "स:" पद निरर्थक हैं । "कोऽपिनिशाकुचकुम्भोऽदर्शि य: कामि०" से काम चल सकता है, "शशिबिम्ब:" भी व्यंग्य को मात्र अशुद्ध बनाता है । यहां वाच्य शृंगाररस का व्यंग्य ~~पर~~ रौद्र विरोधी है । प्राकरणिक शृंगार का भी बाधक है ।

:ड: अर्थदोष - वाक्यादि के शुद्ध होते हुए भी जहां अर्थ ही अशुद्ध हो ।

१- क्लिष्टता - क्लेश से अर्थ स्पष्ट होना : "कष्ट:प्रतीतिक्लेशान्मुखः:", ना०:।

१- श्री० च०, १२।१८, २- वही, १२।१६ ।

:अ: 'धनकुन्दकुड्मलविशोषणकल्पतुषिनापचारपरमाप्ययज्वा ।
तिमिरद्रुहोऽभ्युदनिचोलमितिकं महसा विहाय कृषे कठोरता' ।।[1]

'यजमान ने तुषिनापचार से 'कृत्या' :मारणक्रिया: के द्वारा सूर्य का तेज पुन: प्राप्त कराया', यह इस पद्य का सरलार्थ है । तिमिरद्रोही सूर्य का राज्य :स्व-तेज: नष्ट :अत्यन्तक्षीण: हो गया था । उसके पुरोहित ने अभिचारक्रिया कृत्या का अनुष्ठान किया । उसका 'मारण' तुषिन के रूप में था । तुषिन ने जाकर शत्रुसैन्य कुन्दों का संहार कर दिया । शत्रु हेमन्त शक्तिहीन पड़ गया । हेमन्त शत्रु के द्वारा फेंके गए अभिचारिक मेकरूपी मिचोल :प्राच्छादक: गोलक को फेंककर, तब सूर्य के तेज में शनै:-शनै: कठोरता आई, आदि कितनी क्लिष्टता है ।

:आ: 'उन्मिषत्तरलतारतारया संध्यया तरुणता तथा दधे ।
गाढरागगरिमाक्रमो यथा वासरो मृशकृशत्वमाययौ' ।।[2]

'नव-यौवना ने धीरे-धीरे कुछ ऐसी प्रौढ़ता प्राप्त की कि रति के मध्य का काल कम-पर-कम होता चला गया', अर्थ क्लिष्टतासाध्य है ।

२- ग्राम्यत्व - अशिष्टार्थता : 'ग्राम्यो ग्रामजन्माऽविदग्धोक्ति-प्रतिपादित:', नागे० :।

:अ: 'मुखवासवीरमदुवतभ्रमरप्रततोषितस्थिति: कपोलतलम् ।
पुरुषायितेषु पटिमस्पृहया कुचयुगलमिव काप्यवहत्' ।।[3]

मंडराने वाले भंवरों के व्याज से किसी नायिका ने, बल-प्रवीणता दिखाने के विचार से, मूंछें लगा रक्खी थीं ।

:आ: 'तरुणा: पुर: परिरिप्सा मनोभ्यन्तरसन्मुखगोनाकुलितकेलिवासराम् ।
अपि यन्त्रणास्थानतेरगोचरं तदथापुरोगितनुमधीरचक्षुषाम्' ।।[4]

तद्- गुह्यांग ।

३- सन्दिग्ध - जहां अर्थ में सन्देह विद्यमान हो : 'प्रकरणाद्यभावात्सन्दिग्धं मानो थः संदिग्ध:', नागे० :।

१- श्री० च०, ४।७१ । २- वही, १०।१९, ३- वही, १३।२० ।
४- वही, १४।५२ ।

:अ: "वियोगिनीरोषकषायितैव नेत्रद्युतिर्विच्छुरिता स्मरस्य ।
प्राप्ता पलाशेषु यथा शुकाग्रचंचुस्तुतिस्तेयविरंजितेषु"[1] ॥ "पलाश-पुष्प रक्तवर्ण है, नहीं मालूम कि "वियोगिनियों के रोष से कषायित कामदेव की दृष्टि पड़ने से" या "शुकों की चोंच के अग्रभाग की रक्तिमा की चोरी करके"। पुनः, पलाश तो काम की सेवा कर रहा था, काम को उसी पर क्रुद्ध होने की क्या बात आ गई।

:आ: ---- "मन्निह्नवाय तव केलिमरालयूथम्"[2] "तव केलिमरालयूथम्" या "केलिमरालयूथं तवनिह्नवाय" ? नूपुररव से आकर्षित होकर आगत हंसयूथ श्वेताभिसारिका के ऊपर मंडराते हैं और स्वयं ध्वनि भी करते हैं। वे स्वध्वनि से नूपुरध्वनि का या स्वश्वेतता से श्वेताभिसारिका का निह्नव करते हैं ? दोनों का निह्नव करते हैं या अनिह्नव ? सन्देह होगा कि रात्रि में हंस क्यों इतने नीचे मंडरा रहे हैं ?

४- <u>निर्हेतुता</u> - हेतु की दुर्बलतादि : "अनुपात्तहेतुकोऽर्थः", नागे० :।

:अ: "यस्याश्मकान्तिषु कटकेषु सकैरवेत-
विद्याधरीचरणयावकपंकमुद्रा ।
श्रीकण्ठनेत्रपथमानपदार्कचन्द्र-
सेवाकृते सततमितिसन्ध्या"[3] ॥ कैलास की कन्दरादि में विद्याधरी के चरणों की लाक्षा :महावर: के चिह्न बने हुए हैं। यह लाक्षा-चिह्न सन्ध्या के समान है, जो श्रीकण्ठ के नेत्ररूपी देश के निवासी सूर्य और चन्द्रमा की सेवा के लिए सदा वहीं बनी रहती है— क्योंकि शिव सदा ही कैलास में रहते हैं और लाक्षा-चिह्न भी स्थायी हैं। दाहिनी आंख सूर्य तथा बाईं चन्द्र है।

पर्वतों में विद्याधरादि स्वाभाविकरूप से वर्णन किए जाते हैं। शिव भी स्वभावतः ही सदा कैलासवासी हैं। अतः ऐसी दशा में स्थायी [illegible] सन्ध्या की कल्पना और वह भी कल्पित सूर्य-चन्द्र निवासियों की सेवा के लिए उपहास्यास्पद है। सन्ध्या सेवा भी क्या करती है ?

१- श्री० च०, ४।२९, २- वही, ११।३० । ३- वही, ३।४१ ।

:आ: "सर्ववासरनिपद्मिनीकण्टकक्षतकर: प्रभाकर: ।

पातितोऽम्बरतलादनेहसा यन्न मे किमपि कामलम्बितुम्" ।।[1] सूर्य दिन भर पद्मिनी के तीक्ष्ण काटों से घायल हाथोंवाला :किरणें:, काल के द्वारा आकाश से नीचे फेंका जाकर :क्यों: कुछ भी न पकड़ सका - क्योंकि हाथ कांटों से क्षत होगए थे ।

:इ: "मीलितासु नलिनीषु तदानीं किं रमा कुमुदिनीरधिशिश्ये ।

तासु यद्विमदानकणानां टंकमा प्रतया निष्क्रान्त:" ।।[2] रात्रि के प्रारम्भ में कमलिनियों के मुकुलित हो जाने पर लक्ष्मी ने कुमुदिनियों के अन्दर निवास किया । यह इस प्रकार जाना जा सका कि कुमुदिनी के चारों ओर, लक्ष्मी के हाथी के मदकण-से भंवरे जो मंडरा रहे थे । यह हेतु बड़ा ही सुन्दर है । गजमद स्वयं ही भ्रमरों का आकर्षक होता है । लक्ष्मी का वाहन "उलूक" है ।

:ई: "कासांचित्तमसुन्ननीमनामत्कासां न व्यक्तता-

मन्यासां वपुषे विनिह्नुतमभूत्कासांचनाकृत्रिमम् ।

आस्यैवापमव्यमात्मजया सौन्दर्यलीलालिपे-

राकल्पेन शरीरक्षतकरीतन्न चकारैड्रशाम्" ।।[3] कवि ने अप्सरा और गणस्त्रियों की वेष-भूषा और केलि आदि का वर्णन :मनुष्यस्त्रियों जैसा: किया है । इन अप्सराओं में वय-वर्ण-कोटियां नहीं होतीं ।

:उ: "दुःशिक्षिताखिलविपक्षदिदक्षया न्त-

मैत्रेषु संघटितपाटलिमोद्गमेषु ।

माहात्म्यतोऽन्तकरिपोरखिलास्तदापि-

दाग्नेयदृष्ट्य इव प्रमथा बभुः" ।।[4] सन्दिग्ध है कि प्रमथगणों की आंखें शिव के माहात्म्य से आग्नेय थीं या क्रोध से ।

:ऊ: "लावण्यदुग्धजलधेरधरप्रवाल-

सम्पत्स्पृशो नवमौक्तिकपंक्तिकान्ता: ।

व्यक्तेव वीचिरवतिष्ठदनेन्दुभागे-

स्सीमन्तसंभवतया रुरुचे अंगनानाम् ।।[5]

१- श्री क०, १०।१२, २- वही, ११।११ । ३- वही, १३।५७ ।
४- वही, १५।१२ । ५- वही, १३।४२ ।

युवतियों के केशों में बंधी हुई मुक्तामाला मानो दुग्धाब्धिबिन्दुतति है।" कवि ने 'लावण्य' के 'दुग्धजलाधित्व' को पुष्ट नहीं किया है। 'अधरप्रवाल' और 'दशनमौक्तिकों' से 'जलधित्व' पुष्ट है, पर 'लावण्य' का इससे क्या ?

:ए: "ललनाननराजकुलसंगसंगतद्युमनसारहरकम्रोदरस्थितिः।
बचकान्तरागतवती तदातुलां वकुलैनवालखलकारसंहतिः" ॥[1]
यहां 'वालखलकारसंहति' की बचकान्तरप्राप्ति पुष्ट नहीं है।

५- प्रसिद्धिविरुद्धत्व - लोककवि-विद्यादिविरुद्ध वर्णन : यत्रार्थेन प्रसिद्धिः", नागे० :।

:अ: "विकोशकन्दर्पकृपाणधाम्ना"[2]----- कन्दर्प की कृपाण प्रसिद्ध नहीं है। वह केवल 'पुष्पेषुः' है। यह कविप्रसिद्धि के विरुद्ध है।

:आ: -----" विरहजुषदे जुहाव कोकांजिगमिषुरिवाशु दिवं द्विजाधिराजः"[3]॥ चन्द्रराज तो स्वर्ग में होते ही हैं, और ब्राह्मण 'अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्गकामः', कोकहोम क्यों करने लगे। यह कर्मशास्त्र के विरुद्ध है।

:इ: -----"अभ्राम्बुनुत्स्वन्द्रबिम्बो -------- नवरजतकटाहः"[4] चन्द्रमा चान्दी का कटाह भले बन जाय, पर क्वथन माड़ में नहीं किया जाता। उसके लिए एक छोटी-सी मटुटी ही पर्याप्त होगी। यह वैद्यकशास्त्र से विरुद्ध है।

:ई: "इत्थं शृंगारभंगी समयसमया विभ्रती किं रजन्या
शार्वीशारधाम्ना स्फुटमघटि रतो वैपरीत्यप्रयोगः।
तस्मिन्नस्ताद्रिकेलीशयनतलतलिग्रहे हत्यग्रहीत्सा
पृष्ठारूढा विशीर्णो तिमिरकचभरे संभ्रुवारकत्वम्"[5]॥ पीठ पर चढ़कर 'वैपरीत्यप्रयोग' बुद्धिगम्य नहीं लगता। लोक विरुद्ध है।

:उ: ------"आप्यपापप्रमाथः --- पाथोनाथः"[6]----स्वयं वरुण में भी पापों की सम्भावना कवि ही कर सकते हैं। आगम विरुद्ध है।

१- श्रीo चo, १५।२१। २- वही ६।९८। ३- १०।५७ । ४-वही, १०।६१
५- वही, १९।४० । ६- वही, १९।४६

'करवीर' :करौंदा: के फूल बहुत छोटे-छोटे और गन्धहीन होते हैं। 'अधीर-लोचनाओं' :बहुजन: को उसके फूल न तोड़कर फल तोड़ना चाहिए, जो खाए और पुष्पमाला में पिरोए भी जाते हैं। यत्रांकुत्र किसी भी तोड़े जाने वाले फूल को व्याख्या कर लें, करवीर ही क्यों ? हां, यदि अर्जुन व्यांग ही अभीष्ट हो तो पुलिंग 'करवीर' का प्रयोग उचित है।

:आ: 'अराजपरागनिकरेण कनकहरिद्रिताम्बरा ।

आकल्पितवसनव्यसना रमणी भिन्नुव्याधिपीतवाससः'[1] ।। न तो सब फूलों का पराग पीला ही होता है और न ही लक्ष्मी को कृष्ण का पीताम्बर पहनने का व्यसन।

:इ: 'मानिनीषु पल्लवो मकरन्दाहीन कुल्लकैरवरजःप्रकरेण ।

भस्मनेव विरहानलजेनादग्धपान्थहृदयप्रसूतेन' ।।[2] 'वक्तो-व्याघात:' । पूर्व उदाहरण में पराग पीत था । यहां पराग भस्म-सा श्वेत है। कैरव- कुमुदिनी का फूल निर्गन्धि, श्वेत और पीले पराग वाला होता है। हृदयभस्म भी नियमतः- श्वेत ही नहीं हुआ करती।

:ई: 'श्रवणेषु लोहितमणीन् रमणी निवहो मुकुनिंसवीन्दिदधे' ।।[3] 'निवधीन् लोहितमणीन् रमणीनिवहः श्रवणेषु निदधे' में सारे बहुजन अभिप्रेत हों :निरवधि ही भावाली लोहित मणियांकहां होती हैं: ?

८- साकांक्ष:- वाक्यार्थ का साकांक्ष होना : 'आकांक्षया सहवर्तते इत्यर्थ', भागे० :।

'बहुनीष्वनुभूयते त्वयास्मर शापात्फलमंत्रमन्मन: ।

किमयं क्रियते तदप्यहो बहुन्यन्तरशापमंगुरः' ।।[4] अव्यवन्य हुआ कि शाप का क्या फल कामदेव भोग रहा है ? आचार के विरुद्ध रति अपने पति का नाम ले रही है।

९- अश्लीलार्थता- जहां अर्थ ही अश्लील निकलता हो।

१- श्री० च०, ६।४ । २- वही, ११।८ । ३- वही, १३।१२

४- वही, १२।२२ ।

:अ: 'देहस्यार्धं व्यधित वपुषार्धेन तम् श्रीन्द्रपुत्र्या
सार्धं स्थाणुं कुसुमधनुषोऽनुशात्यादरस्य ।
सौन्दर्याख्यानवधिमदिरा निर्भरं यत्र नेत्रै-
स्तेने वृन्दारकमृगदृशां स्वैरमापानकेलिः' ॥[1] यह शिव के 'अर्धनारीश्वर' स्वरूप का वर्णन है। कवि ने कुछ विशेषणों आदि के द्वारा उसे अशिष्टता की सीमा पर पहुंचा दिया है। इस पद का ध्वन्यार्थ स्पष्ट ही 'शिव-पार्वती का सम्भोग' निकलता है, कि जिसे देवांगनाएं वेशर्मी से देख रही हैं। इसपद्य में शिव-पार्वती के कृत्य का वर्णन और दर्शन दोनों विद्यमान हैं।

:आ: -----'पादांगुलित्यागिभिर्जटाजूटकल्पम्'[2] :मारवाड़ी पैरों की भांति : द्वितीय चरणाग्र जैसे जटाजूट को धारण करते हुए :विद्यमान:। यहां शिव का जटाजूट चरण की उपमा को प्राप्त है।

:इ: 'दिविषदहिसले भियः पुरामथरमेत ममज्जुरम्भसि'[3] ।। 'दिविषदहिसले अम्भसि' अशिष्टाजल के सिवाय और क्या हो सकता है? 'देवताओं के जल में त्रिपुरों की स्त्रियां डूब गईं' का यह भी अर्थ हो सकता है कि देवों ने त्रिपुर-स्त्रियों को मार डाला या स्त्रियां स्वयं ही डूब मरीं। दोनों दशाओं में स्त्रियों का मरना अमंगलाश्लील है।

'आस्थाननिर्भत्सना भिगुणा विराज-
भोगस्य मन्दरगिरेस्त्रिपुर व्ययाय ।
यच्चक्रतां धृतवतोऽपि शराग्निपुंज-
ज्वालाद्युदानलशिखाव्यना पिपेतुः'[4] ।। यह एक ऐसा श्लोक है कि जिसका मैं अन्वय ही नहीं कर पाता हूं। अर्थाविगमार्थ श्लोकार्थ का चित्र बनाए देता हूं। अर्थ और दोष दोनों पाठक की कल्पना पर निर्भर हैं। कुछ सहायक शब्दावली यह है - मन्दरगिरि-त्रिपुरवध में शिव का धनुष, वहाँकि - उपरोक्त धनुष की प्रत्यंचा, अग्निशर- विष्णु। क्रमांक ३
प्रसंग- चतुर्थ सर्ग में कैलास का वर्णन करके इस पांचवें सर्ग में कवि ने शिव जी का

१- श्री० क०, ५।५४ । २- वही, १७।८ । ३- वही, २३।४ ।
४- वही, ५।५ ।

वर्णन प्रारम्भ किया गया है। साधारणतया प्रत्येक श्लोक मुक्तक है। चौथे श्लोक में कवि ने बताया है कि ब्रह्मा भी शिव की पूजा परमभक्ति से करते हैं।

मन्दराचल में अधार्मिक भी प्रवाहित करने हो सकते हैं, पर दवाग्नि संतत नहीं होती।

(ड) अलंकारदोष - साम्यमूलालंकारों में साम्य के दोनों पार्श्वों में गुण-लिंगादि की समता आवश्यक है। व्यतिरेकादि में भी लिंगवचन साम्य अपेक्षित होता है। असदृशोपमानादि वर्ण्य और वर्णन को दूषित बना देते हैं। दो-तीन उदाहरण देखिए---

१- हीनोपमा - 'श्रीकण्ठलक्ष्मीगुरुहारदाम्नि शेषस्य भोगैरिन्द्रनील:।
(अ) देवो हरि: सन्ततिमन्तु योऽसौ नैदीयसीं वैविधवाधुसिद्धिम्।।'[1]
स्वयं लक्ष्मीपति विष्णु लक्ष्मी-जी के हार के इन्द्रनीलमणि हैं।। हार है - शेषनाग।

(आ) 'मदयति मलयानिलो मदनद्विपकर्णवायुः'[2], मलयानिल द्विपकर्णवायु के समान है। अर्थात् चन्दन की गन्ध के समान हुआ।

(इ) -------तारा हुवो------- हेमकुण्डलिनि पेशुरमारुकान्ताः[3], हुव कुण्डलों के समान।

२- अधिकोपमा ---------सूच्यो बाणा इव[4], स्पष्ट है।

३- असम्भवोपमा - 'कलंकशून्यापि रसप्रसारमपि प्रवन्ती किमु योपमीयम्।
वाणी किमेणांकवलेव वेदैर्विना वाक्रिमविभ्रमेण'[5]।। 'एणांकलेखा' से कवि का अभिप्राय अष्टमीप्रभृति वक्रचन्द्राकृतियों से है। 'एणांकलेव वाणी किं विना वाक्रिमविभ्रमेण, टंकवेद्य ? (मतवे: साकार-सकलंक कला से वाणी की उपमा नहीं दी जा सकती।

४- लिंगविरोध -------'या वाणी--- धीमतां कण्ठे गुण:'[6]----, 'वाणी गुण:'। 'तासेना सेला नगरमालिलिंग'[7] ------ सेनानायिकास्थानीय:। (स्त्रीत्वात् - बाहुल्यात् लिंगानौचित्यप्रतीति:, टीका)।

१- श्री० क०, १।३० । २- वही, ७।२१ । ३- वही, १५।४२ । ४- वही, १५।७
५- वही, २।११ । ६- वही, २।४१ । ७- वही, २४।४३ ।

५- लिंगजातिविरोध - "सपदि रविजदिग्भुवः समीरा विषमशरा जारस्य फूत्कृतानि।
विरहिहरिणचक्षुषां शरीरं निदधति हाला हल्यदीपिकाः ॥"[1]
"समीराः फूत्कृतानि दीपिकाः" एक-दूसरे के उपमान या समान हैं।

६- वचनविरोध ---------- "शराधारादत्थमिव"[2] । स्पष्ट है।

७- हीनरूपक ---------- "नगजाकलत्रम् । ------पुरकुंजरस्य" ।।[3] भगवान् शिव ऐरावत हस्ती ही हैं। समान भी नहीं। ------- "विबुधरिपुकृपाण-यष्टयः" ।।[4] कृपाणरूपी यष्टियाँ :लाठियाँ:।

।ग। रसदोष प्रधान रसदोष "प्रतिभा" के अन्तर्गत "रसतथाभाव" में दिखाया जा चुका है। यहाँ कुछ रस-विरोधादि देखिए। आचार्य मम्मट ने इन्हें गुणीभूतव्यंग्य "अपरस्यांगम्" के अन्तर्गत रक्खा है।

१- रसविरोध - आश्रय और क्रम के विचार से कुछ रस एक-दूसरे के विरोधी होते हैं। प्रबल विरोधी दूसरे रस की चर्वणा को गुणीभूत बना देता है।

:अ: ------- "पुरुषा विधिषु युवतयामन्मथेनास्मान्येप्रधानसुभटाश्च गणिताः" ।।[5] यहाँ स्फुट वीररस तो शृंगार का नाश नहीं कर पाता, पर रुखाभरी ध्वनित हास्यरस दोनों को ही समाप्त कर देता है।

:आ: "दैत्यैर्व्यासवरसं भवणानुलक्ष-
मार्गेण ते गणगणा विनिपीतवन्तः ।
रज्यविलोकनकपोलतला: स्तबद्विम-
वाक्यैर्विलोलवलितभ्रु विकरालुः" ।।[6] युद्ध का प्रसंग है।
दैत्यों के अत्याचार स्थायीभाव "उत्साह" के उद्दीपक हैं। जो आगे चलकर "युद्धवीर" में परिपुष्ट होगा। मद्यपान शृंगार की रति का पोषक है। वीर-शृंगार का आश्रय एक ही :"गण": है। वर्णित सात्त्विकभाव और अनुभाव ऐसे हैं जो

१- शी० व०, ७।२४ । २- वही, २४।३० । ३- वही, ५।१३ ।
४- वही, २३।२ । ५- वही, १५।३८ । ६- १५।१ ।

वीर-शृंगार दोनों के अंग हैं। व्यंग्य वीररस है, पर शृंगार वाच्य की स्थिति में है, क्योंकि सारे विशेषण उसी के पोषक हैं। अतः शृंगार वीर का बाधक हो रहा है।

:घ: 'पुन्वन्परः परुषरोषतयाङ्गमाणं
प्रोत्तिकेलिमणिकुण्डलयुग्मकाया।
निन्ये निशातविशिखैर्विरिकन्धरोंके
संनद्धतालपुटताभिव वक्त्रचन्द्रम्' ।।[1] यहां वीर-शृंगार-
वीभत्स-भयंकर की संसृष्टि है। भयंकर सबको दबा देता है।

:ङ: ------'शिखीयों------ ववाम' [2]--- ।। वीभत्स ने वीर को गुणीभूत कर दिया है, वीर ही प्रधान एवं वर्ण्य है।

:ठ: -------'वरातिप्रतापानलप्राग्भारं वमताम्भिवादृशा०' [3] । यहां भी वीभत्स ने वीर रस को बाध लिया है।

:ञ: 'तापं विमृत्यमविशिखासंगतां वेपमाने-
र्णे रागव्यतिकरमभीमादधानेव दृष्टिम्।
ज्यालेका दितिसुतफणीन्द्रमुक्ताम्बली-
रालिंग्ती चक्रमकरोदाकुलाम्भोरुनेन' ।।[4] वीर-शृंगार को भयंकर ने बाध लिया है। स्फुट वीभत्स भयंकर का पोषक है।

:ट: 'तेषां देव्यंप्रसत्तुब्धा रेजिरे सिन्धुवार-
स्वेदोदस्वानलराशयस्ते क्षणाणाम्।
यैः कृष्णारैःस्थलवलितपिन्यन्तारिचैशिशिरै
निर्विश्वैपैक फलनबक्षुत्रप्रतिष्ठा' ।।[5] प्रक्रान्त रस वीर है, स्फुट वीभत्स और 'ब्रह्मप्रतिष्ठा' से व्यन्य रस शान्त है। वीभत्सशान्त का पोषक होता है। लेकिन ब्रह्म फलोत्थ भुक्ति का बाधक होने के कारण यहां वह शान्त का विरोधी है। वीर प्रकांत्या गुणीभूत है।

1- श्री० च०, १८।१४ । 2- वही, १८।३२ । 3- वही, १८।५८ ।
4- वही, २४।१२ । 5- वही, २४।२७ ।

२- स्वशब्दवाच्यत्व - रस सदा व्यज्यमान ही चर्व्य होता है। रसध्वनि के लिए उपर्युक्त आलम्बनोद्दीपनादि का निबन्धन या स्मारण आवश्यक होता है। केवल शृंगार या रौद्र कह देने से या रति-क्रोध स्थायिभाव के उच्चारण से रस-चर्वणा उसी प्रकार नहीं होती जैसे कि रसगुल्ला-रसगुल्ला रटने मात्र से मुख मीठा नहीं हो जाया करता।

"मम वीररसो दूरमारुह्य स्यन्दनमुत्तमम्।
द्विषां क्षालयतामाशु मुखपंककालिका:"॥[1] यह प्रधान चरित-नायक शिव का कथन है। "मेरा वीररस रथ में बैठकर शत्रुओं की मुखपंककालिमा को नष्ट करे" कहने मात्र से उनकी ओजस्विता व्यक्त नहीं होती।

३- अकाण्डप्रथन प्रक्रान्त प्रदीप्त या अप्रदीप्त रस के बीच ही में किसी अन्य रस के विभावादि का पूर्ण सन्निवेश।

(अ) "वातक्षिप्तो स विपदाविकापल्लवेऽप्यातङ्का:
सम्पन्नमन्त्या निभृतचकितं तोकमाकुञ्चनानि।
संवेगोव्यां तमसि करुणो भीरुभावैकभाजाऽ-
प्येकाकिन्य: क्व न कुकायत्तास्थिरे वल्लवेभ्य:"॥[2]

"चन्द्रवर्णन" प्रसंगप्राप्त है। कवि ने ६७ पद्यों में चन्द्र का सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। उपरोक्त पद्य अन्तिम से पूर्व का है। अन्तिम श्लोक में पूर्णचन्द्र का वर्णन है। परन्तु इस १२।६६ वें पद्य में कवि एकाएक शृंगाररस की "कृष्णाभिसारिकाओं" का वर्णन कर रहा है --

"स्वभाव से ही भीरु अबलाएं प्रगाढ़ अन्धकार में भी अपने-अपने प्रेमियों के निमित्त कहां-कहां, अकेली भी, नहीं ठहरी रहीं ? सर्वत्र।

(आ) "काचित्तत्र निकुञ्जपंकजमुखी सौभाग्यभाग्यावधि-
बिभ्राणं छकण्टरचितानिवाकल्पैकमात्रं वपुः।
प्रेयस्या कुलकान्तकेलिकलहोन्मुच्यमानाचिर-
क्रीडामण्डनडम्बरा व्यवहितायत्नात्स्वपत्नीजनम्"॥[3]

१- श्री० च०, १६।४३ । २- वही, १२।६६ ।
३- वही, १२।६७ ।

'प्रातःकालवर्णन' का यह अन्तिम २ पद्यों से पूर्व का श्लोक है। इसमें प्रेमव्याकुल कान्त ने एकाएक आकर केलिकलह से प्रेयसी की सारी भूषा-सज्जा अस्त-व्यस्त कर दी। ऐसी उस प्रेयसी ने भी यत्नपूर्वक ही स्वपत्नियों को जीत लिया। 'पानकेलि' से पूर्व ही यह एकाएक भोगवर्णन कैसा ?

:ब: ७।२८ से ७।३६ तक के ६ श्लोकों का कुलक भी अकाण्ड प्रथन ही है। ७ वां सर्ग वसन्त और 'दोलाक्रीड़ा' वर्णन का है। शिव जी वसन्त की शोभा वर्णन कर रहे थे। इसी बीच वे इस कुलक में पार्वती से यह बताने लगते हैं कि 'दूतियों ने जाकर उन-उन विरहिणिनियों की दशा उनके प्रेमियों से कही। प्रेमी प्रेयसी की विह्वलता सुन, झट भागते हुए, उनके पास पहुंच गए'। यह अकाण्डकुलक, और शिव के मुख से, शोभा नहीं देता।

:स: ११।२५ से ११।३२ तक के ८ श्लोकों का 'कृष्णाभिसारिकों' का कुलक 'चन्द्रवर्णन' के प्रसंग में शोभा नहीं देता। यद्यपि कवि ने यहां धारण किए गए कृष्ण वेश को दूर करने का ही उपदेश सखी से दिलवाया है।

:उ: " इत्थं सैन्ये परिवृति भत्स्वरद्धाक्तप्राणनाथस्य तस्मि-
न्नासन्ने दानवानां पुरि परिचितामासदाद प्रवाद:।
येनाकाण्डप्रकम्पाकुलिततनुलता: पौरनारिसवाक्य-
प्रासेनेवोपभुक्ता दधुरधिकतरस्वेदरोमांचकम्पम् ॥[1]

२१ वां सर्ग 'सैन्यप्रस्थानवर्णन' का है। इस सर्ग का यह अन्तिम श्लोक है। सेनाएं त्रिपुर के निकट पहुंच गई हैं। दैत्यों की स्त्रियों को भी देवसेना के आने का समाचार प्राप्त हुआ है। उनके कम्प-स्वेद-रोमांच अधिकाधिक हो रहे हैं। कवि कहता है कि 'दैत्य-नारियों के कम्प-स्वेद-रोमांच वैसे ही अधिक थे जैसे कि किसी बलात्कार से भोगी गई स्त्री के होते हैं'।

भयंकर रस के वर्णन में शृंगार का यह विकृत वर्णन बड़ा बीभत्स और अप्राकृतिक है। रस-विरोध भी विद्यमान है।

१- श्री० क०, २१।५३ ।

इन दोषों के सिवाय भी, रस-विरोध तो पद-पद पर विद्यमान है।

:ख: छन्दोदोष - विषय के अननुकूल छन्द का ग्रहण और अधिकृत छन्द के गण-मात्रादि का खंडित होना तथा यति-भंगादि ।

कवि ने प्रत्येक सर्ग के विषय को विभिन्न छन्दों में वर्णन किया है। कोई छन्द उस विषय के अनुकूल है और कोई अननुकूल । `पुष्पिताग्रा` वृत्त में `युद्धवर्णन` का दोष `रस-भाव` के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है। मालिनी और वसन्ततिलका भी वीररस के अनुकूल छन्द नहीं हैं। कवि ने वीररस में इनका प्रयोग किया है। स्रग्धरा, हरिणी, पृथ्वी और शार्दूल विक्रीडित जैसे दण्डक वृत्त शृंगार के उपयुक्त नहीं हैं। इनका भी प्रयोग कवि ने `रतिक्रीडावर्णन`[1] में किया है। यतिभंगादि गिनाना समय का व्यर्थ नष्ट करना होगा । अनेकों पद्यों में यतिभंग विद्यमान है। एक श्लोक[2] में स्वयं टीकाकार ने भी यतिभंग स्वीकार किया है।

:घ: लोकदोष - वे दोष जो साहित्यशास्त्र से बाहर के हों । अनुपयुक्त भौगोलिक-सांस्कृतिक वर्णन इसी कोटि में आएंगे ।

१- ताम्रपर्णी - `अध्यास्ताः लंकापरिसरसरणिक्रीडिता त्रिकूट-

प्रान्तप्रोत्फुल्लमाली -कुसुमपरिमलाभोगभाग्यभाजि ।

वास्तव्या मातरिश्वा मलयविटपिनामाश्यावात्मनीनां

भीमांकन्याङ्कपालीदलदतिरमणसांताम्रपर्ण्याः `॥[3]

इस श्लोक में कवि मलयानिल को `शीतलमन्दसुगन्ध` सिद्ध करना चाहता है। इसके लिए उसने लंकापरिसर` त्रिकूटपर्वत मलयपर्वत और ताम्रपर्णी से सहायता ली है। यह ठीक है कि मलयानिल दक्षिण भारत से चला हुआ माना जाता है। लेकिन उसका लंका से आना `दीर्घकल्पिता` कहा जाय या `दूरकल्पिता`? त्रिकूट[4] :लंका: यदि कालिदास का `रामकूट` या राम का `चित्रकूट` होता, तो भी काम च

१-२-भी० च०, सर्ग ५५।   ३- वही, ४।७२ ।

४- "Name of a mountain in the south east cornor of Cylon".
Apte's Dictionary.

चल सकता था । यहां या राम की तरह यहां कुछ काल रम कर मलयानिल भी मन्दगति हो जाता । चन्दन की सुगन्धि उसने ठीक मलयाचल से ही प्राप्त की, पर शीतलता के लिए उसे पुनः ताम्रपर्णी[1] लौटना पड़ा । यद्यपि उसने प्रथम ही लंका-परिसर में क्रीड़ा की थी । ताम्रपर्णी इतनी छोटी नदी है कि मानचित्र में भी नहीं दिखाई गई है । तब इसके जल से मलयानिल शीतल होकर काश्मीर तक कैसे पहुंच सकेगा ?

२- धर्मदोष - हिन्दूधर्म के विरुद्ध है कि किसी की पत्नी उससे :पति: बिना पूछे ही किसी अन्य के साथ अपने पिता के घर चल दे --

"[illegible] ।
पल्लवारुणविधानबन्धुरं श्रीरमुंकरविन्दमन्दिरम्" ॥[2] यह भी वर्तमान काल की कोई एम० ए० या बी० ए० मालूम होती है । चोह गई भी तो पश्चिम को ही है ।

"इत्येवमादि" साधारण श्रुतिकटु प्रभृति दोष दिखाने से छोड़ दिए गए हैं । कवि ने उपनागरिका-गौड़ी आदि वृत्तियों का ध्यान भी कई स्थलों पर नहीं रक्खा है । "अनेहा" काल का वाचक कर, रात्रि का भी वाचक नहीं बन सकता, आदि अनेकों दोष भी अभी छूट गए हैं । गम्भीरता से अन्वेषण करने पर दोषों की संख्या और प्रकार अभी बढ़ेंगे ही । पर अधिक दोषदर्शन अच्छा नहीं होगा ।

दोषमूल इन दोषोंमें कुछ दोष छन्दानुरोध से आए हैं । पर, इनमें भी कवि का अधैर्य ही मुख्य कारण है । कुछ अधैर्य से और कुछ असावधानी से । कवि-प्रसिद्धियों का कवि ने मनमाना प्रयोग किया है, इसमें कवि का साधारणीकरण अनुचितरूप से काम कर रहा है । स्वेच्छाचारिता से भी कुछ दोष आए हैं । यह स्वेच्छाचारिता नवयुवक कवि में स्वाभाविक बात है । प्रदर्शन की भावना से भी कुछ दोष बढ़ गए हैं । नई-नई कल्पनाओं की खोज में कुछ उत्प्रेक्षाएं हास्यास्पद बन गई हैं । कवि में प्रतिभा-व्युत्पत्ति यथेष्टमात्रा में है । पर कवि ने, अपनी उतावली से, उन्हें जहां-तहां व्यापक बना दिया है ।

१- "Jamra Dvipa or Jamra Parni, which was called afterwords the Senhal Dvipa or Cylon. V.H.Vedar; Essay on "Sètuation of Ravan's Lanka" in Indian Historical Quaterly, p. 350. Also "The river Janbervari in Jinnevelly, rising in Malaya, famous for its perls." Apte's Dictionary.

२- श्री० च०, [illegible] ।

प्रसिद्धि, टीका एवं साहित्यिक स्थान

नैषध की उपरागता :

नवजात आम्रपादप को पल्लवित-कोरकित होने के लिए एक अनाच्छाय, उन्मुक्त आकाश की महती आवश्यकता होती है। यदि वह किन्हीं बृहत्काय-बहुशाख पीपल-बरगद जैसे वृक्षों की महाच्छाया के उपराग में पड़ जाय तो उस लघु पादप का जीवित बच जाना ही बड़ी बात होगी।

महाकवि मंखक के 'श्रीकण्ठ चरित' के साथ कुछ ऐसी ही उपराग-महाच्छाया संस्कृत-साहित्याकाश में दीखती है। स्वयं काश्मीर में ही मंखक के पूर्ववर्ती, द्वितीयव्यास श्री क्षेमेन्द्र १०२८ से १०७८ ई० तक अपनी कीर्तिकौमुदी रामायणमंजरी, भारतमंजरी, बृहत्कथामंजरी तथा विपुल अन्यग्रन्थों के प्रणयन के द्वारा, छिटका चुके थे।

क्षेमेन्द्र के लगभग ३० वर्षों के अनन्तर मंखक ने 'श्रीकण्ठ चरित' का प्रणयन किया। काश्मीर और भारत के अन्य प्रान्तों में इस महाकाव्य की प्रतिष्ठा होते-होते श्रीहर्ष ने अपना नैषधमहाकाव्य ११४५ ई० के लगभग[1] साहित्यिक जगत में ला रक्खा। नैषध की वैदुषी ने अपने ३०-३५ वर्षीय अग्रज 'श्रीकण्ठचरित' के सम्मान को पर्याप्त धक्का पहुंचाया। नैषध ने 'बृहत्त्रयी' में तो स्थान ग्रहण किया ही, साथही, फिर किसी अन्य महाकाव्य के पनपने का अवकाश सर्वथा समाप्त कर दिया। प्रवरसेन की भी कीर्ति, लाचार हो, समुद्र पार चली गई।[2] 'नैषध-माघ-किरात' के पश्चात्, फिर 'श्रीकण्ठचरित' ने अपनी गणना 'लघुत्रयी' में स्वयमेव भी नहीं कराई, आत्मसम्मान को धक्का जो पहुंचा था —

१- स्वयं मंखक ने अपने 'मंखकोश' की टीका में 'नैषधीयचरितम्' से ३-४ उदाहरण दिए हैं। मंखक का समय ११०१ से ११६० ई० लेखक ने माना है।

२- "कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना" ।। बाण ।

'कुसुमस्तबकस्येव द्वयी स्थितिर्मनस्विनः :

मूर्ध्नि स्थितिः सर्वलोकस्य शीर्यतेऽवनएव वा' ॥

दक्षिण भारत तक श्री० च० की प्रसिद्धि - काश्मीर में 'श्रीकण्ठ चरित' का अपना स्वतन्त्र साम्राज्य बना रहा। उसे 'हरविजय' भी जय न कर सका। काश्मीर का वह एकमात्र और अन्तिम महाकाव्य था। कल्हण की राजतरंगिणी ११५०, मोनराज के पुत्र जोनराज :उक्त महाकाव्य के टीकाकार: लगभग ११८० तथा जयरथ :विमर्शिनीकार: लगभग ११९० ई० इसके प्रबल समर्थक हैं। इतना ही नहीं, कवि-कीर्ति के दो केतु :श्लोक: दक्षिणभारत में भी पहुंचे थे। उनमें से प्रथम तो इस 'श्रीकण्ठचरित' का प्रथमश्लोक ही है और दूसरा भी एक ऐसा ही श्लोकरत्न है, जो है तो मंखकृत, पर उक्त महाकाव्य में भी नहीं आया है। वह अलंकारसर्वस्व का मध्यमणि है और सर्वस्व के :सच्चे: कर्तृत्व पर विपुल प्रकाश डालता है। तात्पर्य यह है कि 'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य की कीर्ति-पताका काश्मीर पर तो सदा फहराती रही, वहां उसने 'बृहत्' या 'लघुत्रयी' की दाल नहीं गलने दी, साथ ही वह, मध्यकाल में, दक्षिणभारत तक अवश्य पहुंची थी। वर्तमान में 'बृहत्त्रयी' के भी २-२, ४-४ सर्गों का अध्ययन ही पर्याप्त माना जाता है, फिर अन्य महाकाव्यों के साथ ही 'श्रीकण्ठचरित' की भी गणना करने में क्या आश्चर्य है।

कालक्रम के अनुसार 'श्रीकण्ठ चरित' तथा महाकवि मंखक की प्रसिद्धि की सूचना हमें स्वयं इसके २५ वें सर्ग से मिलती है। २५ वें सर्ग में जिस जीती-जागती 'पण्डित-सभा' का उल्लेख कवि ने किया है, उसमें दो राजदूत तथा कवि के 'स्वगुरु' रुय्यक भी हैं। इन तीनों की प्रशस्तियां देखिए—

:क: कान्यकुब्जाधिपति श्री गोविन्दचन्द्र :लगभग ११२५ई०: के दूत महाकवि सुहल ने बड़े प्रेम के साथ 'काव्यकेलि' में अद्वितीय मंखक के सामने—

'स्तद्गुरुकल्यानुकारिकिरणं राजद्विजोऽभूः शिर-

स्सोदामं वियतः प्रतिनिपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम्', समस्या

रखकर, इसकी पूर्ति के लिए कहा[1]। :समस्यार्थ - उडुपराजचन्द्र के राजद्रोही जिन

१- श्री० च०, २५।१०२-१०३।

का पीताभकपिकिरण और कटे हुए शिर जैसा यह रविबिम्ब आकाश से पश्चिम समुद्र में गिर रहा है - चन्द्रराज ने राजद्रोह के दण्डस्वरूप शिर काट डाले जाने का दण्ड दिनद्रोही को प्रदान किया । राजाज्ञा से उसका शिर काट डाला गया । चन्द्रमा प्राड्ंग नक्षत्रलोक में है, इसीलिए दिन का कटा हुआ शिर-रविबिम्ब, आकाश से गिर रहा है । महाद्रोही दिन का शिर होने के कारण ही यह विशालकाय अथच बभ्रुकपिकिरण है । पश्चिम समुद्र में गिरने का कारण यह है कि पूर्व में स्वयं चन्द्रराज प्रकट हो चुके हैं: । चतुर राजकुल जो थे, बिना साक्षात्परीक्षा के कैसे किसी को कवि मान लेते । मंखक ने भी किंचिद् प्रहासन के साथ-साथ तत्काल ही समस्या की पूर्ति इस प्रकार कर दी —

एषापि धुरमा प्रियानुगमनं प्रोदामकाष्ठोत्थितो
सन्ध्याग्नौ विरच्य्य तारकमिषाज्जाता स्थिशेषस्थितिः[1] ॥:पूर्ति:

:पूर्त्यर्थ- ठीक है, / यदि यह रविबिम्ब द्रोही दिन का कटा हुआ शिर है । तो : यह देखो - उसकी धर्मपत्नी धौ भी, दिग्दिगन्तव्यापिनी सन्ध्याग्नि में, प्रिय का अनुगमन करती हुई, सती हो गई है । इसके प्रत्यक्षप्रमाणरूप ही यह नक्षत्र उसके 'चिताफूल' हैं । दिन की पत्नी धौ ही हो सकती है । उसके सती होने की महाचिता भी दिगन्तव्यापिनी सन्ध्याग्नि ही हो सकती है, तथा 'धुरमा' के उज्ज्वल अस्थिशेष: 'चिताफूल', भी असंख्य और दिगन्तव्यापी होने ही चाहिए: । यह थी आशुकवि मंखक की प्रौढ़ काव्यप्रतिभा । इस प्रतिभा से प्रसूत 'श्रीकण्ठचरित' ने सुहल जैसे महाकवियों वाली पण्डितसभा को सन्तोष दिया, या काश्मीर में अन्त तक 'बृहत्त्रयी' से लोहा लेता रहा, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है ।

।ख। कोङ्कणेश्वर :दक्षिणभारत: अपरादित्य :लगभग ११२५ई०: के राजदूत महाकवि तेजकण्ठ ने भी, महाकवि सुहल की भांति ही, उस परिषद में मंखक की काव्यपरीक्षा ली । मंखक की प्रशंसा में कहे गए यह श्लोक श्रीकण्ठ चरित को सदा यशोज्ज्वल करते रहेंगे —

१- श्री० च०, २५।१०४-१०५ ।

"निष्कल्मषं तवैकस्य श्रीमंख कविताप्रसूतम् ।
स्पृष्टोऽकिर्यस्य नास्तुत्यस्तुतिकीर्तनपाप्मभिः ।।
शिक्षन्ते भिक्षितुं सर्वे त्वयैकेन न शिक्षितम् ।
भिक्षाकाकुं निराकर्तुमशेषविदुषामपि ।।
संभेदः श्रीसरस्वत्योः केवलं न विपन्मयम् ।
त्वं मोक्षमयमप्याशु मतं कस्य न तुष्यसि ।।
सा वैदुषी फलं यस्या न परोपकृतेः परम् ।
शिक्षन्ते जीवनोपायमन्ये वाङ्मयशिल्पिनः ।।
नृपचाटुकाम्यम्यस्तामित्थं तव यद्यपि ।
सरस्वती विमेत्येव वदती शुक्तिलिक्रयाम् ।।
तथापि मां गुणनिधे मम व्यापन्नटीकाभिः ।
पंक्षाभिः पठिता याः समासृक्तिकवाभिमाता ।।
काव्यव्यवसायोऽस्मद्गुरुधिया च ते ।
न तुष्येत्प्रार्थिताः सन्तः किं न तन्तुर्हि याचके"।।[1]

महाकवि मंख ने इस कवि-प्रार्थना का उत्तर राजस्तुति के सात श्लोकों में दिया था।[2] 'श्रीकण्ठ चरित' के एक सफल महाकाव्य होने में अब किसको सन्देह शेष रह सकता था। फिर भी, अभी 'स्वगुरु' की साक्षी शेष थी।

।ग। अन्त में मंख के गुरु विद्याविद्यावृद्ध और साहित्यमहापारखी आचार्य रुय्यक ने निम्नलिखित षड् श्लोकों में मंख तथा 'श्रीकण्ठ चरित' की प्रशंसा इस प्रकार की —

"आराधिता भगवती भवतैव सत्यं
प्राग्जन्मसुव्रतशतैर्गिरिकन्यकेव ।
यत्नं विनाप्यभिमतं कविकर्मणे
सारस्वततत्त्वमिव योऽसमभिव्यनक्ति ।।

१— श्री० क०, २५।११२-११८।
२— वही, २५।१२०-१२६।

'उपदेशुकादीप्यिमादिरसरत्नाकरस्वनज्योतिषा
पूतस्तद्वचसां रसः श्रुतिपुटैः संत्यज्य तमापपे ।
तेषामुन्मिषितातमालमगतो दृक्सूक्तिपंक्तौ स्रो-
रानन्दाश्रुपृषन्मयी तु जघटे मुक्ताफलानां स्रजः'[1] ।।

इतना ही नहीं, भगवान् आशुतोष का आशीर्वाद भी इस 'श्रीकण्ठ चरित' प्रौढिप्रबन्ध को प्राप्त हुआ है --

'इत्थं वीक्ष्य सुधर्मनिर्मलरसप्रावाहः समुल्लासना-
दानन्दान इवाधिकाधिकमहास्नानक्रियाप्रक्रियाम् ।
तेनाग्रे निखिलश्वराचरगुरोर्मङ्क्षुभिन्नस्तुतिभिः
सस्नेहं हरितप्रणाम इव प्रौढिप्रबन्धोऽभवत्'[2] ।।

इस प्रकार विद्वत्सभा में पठित और उन्मुक्त कण्ठ से प्रशंसित महाकाव्य के प्रति एक शुभाकांक्षा और सुनिए --

'तत्सहरिकृतप्रीति चारुमन्दारपुष्पवत् ।
कदा भवन्महाकाव्यं व्योमैष्यति पुष्पस्थितिः'[3] ।।

इन विद्यावयोवृद्धों का शुभाशीर्वाद वृथा नहीं गया । शीघ्र ही काश्मीर में 'श्रीकण्ठचरित' की यशःसुरभि छा गई । तत्काल काश्मीराधिपति राजा जयसिंह :११२७-११५९: ने मंखक को २५-३० वर्ष की अल्पवय में ही धर्माधिकारी बना दिया[4] ।

कर्णिकारत्व की उपलब्धि - किसी महाकाव्य तथा उसके प्रणेता की गरिमा तब तक व्यक्त नहीं होती जबतक कि सहृदय पाठक अपनी संतुष्टि का परिचय स्वयं न प्रदान करें । साहित्यजगत् में 'दीपशिखा' कालिदास, 'छत्र' भारवि, 'घण्टा' माघ, 'ताल' रत्नाकर और 'यमुना' त्रिविक्रमभट्ट सभी परिचित होंगे । 'श्रीकण्ठ चरित' में वसन्तवर्णन के प्रसंग से कर्णिकार :अमलतास: के एक साधारण से रेखाचित्र ने महाकवि मंखक को भी 'कर्णिकार' मंखक बना दिया । श्लोक इस प्रकार है --

---

१- श्री० च०, २५।१३६ । २- वही, २५।१५१ । ३- वही, २५।१४३ ।
४- काणे, सं०का०, पा२८२१ ।

'विघृण्वता सौरभसौरभ्यौर्भं वन्दिकृतं वर्णगुणैः स्वकान्त्या ।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे घ्राणेन दृष्टेर्बभूव विवादः' ॥[1]

:नासिका को सुगन्ध चाहिए, वह कर्णिकारपुष्पों में नाम को भी नहीं होती-:हिरण्य में भी नहीं होती:, परन्तु, दृष्टि के सर्वस्व- 'रूपं हिरण्यम्' रूप के उत्कर्ष का कर्णिकार मानो एकमात्र निदर्शन होता है। दस-पांच अवशिष्ट मसृण पत्तियों के दोनों में प्रफुल्लातस्वर-किंकिणियों को भर-भर कर प्रकृति नटी समस्त वृक्ष को ही एक हिरण्मयपुष्प-सा बना देती है। नासिका की नाक रहे या जाय, पर दृष्टि, जिसकी ओर जहां कहीं से भी कर्णिकार पर पहुंची है तो बस ठगी, वहीं जम जाती है। पुष्प २-३ मास तक शेष बना रहता है। कलियां क्रमशः खिलती जाती हैं। एक-एक गुच्छे में ५००-६०० कलियां होती हैं। पीताम्बरी मधु का कर्णिकार ही साक्षात् स्वरूप होता है। घ्राण और दृष्टि में विवाद का बढ़ना भी नितान्त स्वाभाविक है, स्त्री-प्रकृति निःसर्गतः ही वितण्डावादिनी होती है:।

इस श्लोक पर सहृदयों का ध्यान कविकुलगुरु कालिदास के कारण गया। उन्होंने भी वसन्त में कर्णिकार को देखा था, और निकट से देखा था। तभी तो, कवि का चित्त गन्ध के अभाव में खिन्न हो, सीधे विधाता ही को कोसने लगा था[2]। कवि मंखक ने ब्रह्मा को न तो कोसा ही और न ही, कर्णिकार की सहज निर्गन्धता से खिन्न ही हुए, प्रत्युत् घ्राण-दृष्टि :स्त्रियों: के व्यर्थ के वितण्डावाद की एक मीठी चुटकी और ले ली। बस इस चुटकी ने ही 'सोने में सुगन्ध' उत्पन्न कर दी। सहृदय पाठक रीझ गया कर्णिकार पर, साथ ही 'कर्णिकार' मंखक पर भी। कविकुलगुरु कालिदास 'शह' के साथ-साथ 'मात' भी खा गए।

<u>राजराजानक पद की प्राप्ति</u> - काश्मीर में संस्कृत के एक-से-एक उद्भट आचार्य और विद्वान् हुए हैं। कैयट और अभिनवगुप्त सदा ही संस्कृत-साहित्य के विधाताओं में गिने जाएंगे। क्षेमेन्द्र और रत्नाकर भी मंखक के

१- श्रीक० च०, ५।१२ ।
२- 'वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः' ॥ कुमार० ३।२८

क्रज थे। परमाश्चर्य का विषय यह है कि उद्भट शैवाचार्यों की उपाधि 'महामाहेश्वराचार्य' या 'परममहामाहेश्वराचार्य' तथा अन्य संस्कृत आचार्यों-विद्वानों की उपाधि 'राजानक' मिलती है, परन्तु महाकवि मंखक की उपाधि '<u>राजराजानक</u>' थी।[1] इस श्रेष्ठ सम्मान का मूल सम्भवतः शैव महाकाव्य 'श्रीकण्ठ चरित' की परमख्याति और कवि की सांजन्यता ही थे।

<u>राजमन्त्रित्व की प्राप्ति</u> - इतिहासकार कल्हण की राजतरंगिणी :८।३३५४: से ~~[illegible]~~ पता चलता है कि 'श्रीकण्ठ चरित' की प्रसिद्धि के साथ ही काश्मीरनरेश राजा जयसिंह ने मंखक को धर्माधिकारी बना दिया। कवि ने राजा की बहुमानना प्राप्त कर और उन्नति की, वह अपने भाई अलंकार के समान ही 'सान्धिविग्रहिक' :विदेशमन्त्री: बना दिए गए। अनन्तर में कवि काश्मीरनरेश के राजदूत होकर भी कुछ दिन रहे थे।

जयरथ महाकवि मंखक के ज्येष्ठ भ्राता शृंगार के सुपुत्र थे। उन्होंने 'अलंकारसर्वस्व' पर अपनी प्रसिद्ध टीका 'विमर्शिनी' लिखी है। यह शैवधर्म के अच्छे विद्वान् थे। 'तन्त्रालोक' पर उनकी 'तन्त्रवार्तिक' टीका प्रसिद्ध है। जयरथ ने अपनी विमर्शिनी में स्थान-स्थान पर 'अलंकारसर्वस्व' के रुय्यककृत होने पर बल दिया है। प्रतिद्वन्द्वी लेखक का यद्यपि नाम तो नहीं लिया है, तथापि की गई बकालत से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह विरोध एवं प्रतिद्वन्द्विता की भावना से प्रेरित होकर, 'अलंकारसर्वस्व' के रुय्यक-भिन्न कर्तृत्व का खण्डन कर रहे हैं। 'अलंकारसर्वस्व' के रुय्यकभिन्न कर्ता स्वयं महाकवि मंखक ही माने जाते हैं। 'श्रीकण्ठ चरित' और 'मंखकोश' के लेखक होने के नाते, जयरथ, मंखक को कुछ नहीं समझता, परन्तु 'अलंकारसर्वस्व' जैसे शास्त्रीय ग्रन्थ के प्रणेता के रूप में वह अपने चाचा को असह्य पाता है। अतः वह 'अलंकारसर्वस्व' के कर्तृत्व को ही समाप्त कर देना चाहता है : यह विरोध लेखक आगे 'अलंकारसर्वस्व' प्रकरण में पूर्णरूपेण स्पष्ट करेगा :। अपने प्रयत्न में जयरथ ने कुछ उठा नहीं रक्खा है।

कश्मीर में 'श्रीकण्ठचरित' की परमख्याति का प्रमाण यह है कि ऐसा विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी जयरथ भी अपनी विमर्शिनी में 'श्रीकण्ठ चरित' के दो

१- 'इति श्री वानिराजकृपया------सूनोर्महाकवि<u>राजराजानक</u> श्रीमंखकस्य'----

दो श्लोक : श्री०च०, १।१६ तथा ५।१३: उद्धृत कर दिए गये है। 'हर चरित-चिन्तामणि' में जयरथ ने 'त्रिपुर-नाश' का वर्णन 'श्रीकण्ठ चरित' से प्रभावित हो किया है।

<u>सूक्तिसंग्रहकारों</u> - के रत्नकोषों में भी 'श्रीकण्ठचरित' के रत्नों ने स्थान प्राप्त किया था। सूक्तिकार वल्लभदेव ने अपनी 'सुभाषितावलि' में 'श्रीकण्ठ चरित' के ३३ श्लोक विभिन्न प्रकरणों में, संग्रह किए हैं।[1]

१- अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा ---	श्री० क०,	२।५,	सुभा०,	श्लो० सं०, २७।१
सरस्वतीमाधुरमुज्झितं ---	वही,	२।२७,	वही,	२७।१७०
किर्णोः शिखा इव कुल० ---	वही,	२।१,	वही,	२७।१७१
काव्यामृतं दुर्जनराहुपीतं ---	,,	२।२,	,,	२७।१७२
किं न साहित्यविद्यापरत्र -------	,,	२।१२,	,,	२७।१७३
अत्यर्थवक्रत्वमनर्थकम् ---	,,	२।१४,	,,	२७।१७४
नीचत्वनोत्पद्वनितान्तका० ---	,,	२।१६,	,,	२७।१७५
अर्थोऽस्ति चेन्नपदशुद्धिः ----	,,	२।३०,	,,	२७।१७६
श्लाघ्यैव वक्रिमातिकं० ---	,,	२।३४,	,,	२७।१७७
यातास्ते सता संग्रह० ----	,,	२।४२,	,,	२७।१७८
परश्लोकान्स्वश्लोकान्प्रतिदि० ----	,,	२।५१,	,,	२७।१७९
वासिकल्पपुरः करदी० ----	,,	११।५२,	,,	१८७।११११
कोटरे तिमिरमेष कवंकवद्म ----	,,	११।५३,	,,	१८७।११२०
कालकूटमिहनिन्दति ---	,,	११।५४,	,,	१८७।११२१
कालकूटमकुलापि निष्क० ----	,,	११।५६,	,,	१८७।११२२
अंशस्तव निशाकर ----	,,	११।५७,	,,	१८७।११२३
अम्बुधेरपि निष्क० ----	,,	११।५८,	,,	१८७।११२४
रात्रिराजकुमार शर० ----	,,	११।५९,	,,	१८७।११२५
शुभ्रमास्यमिवाभिमवं ---	,,	११।६०,	,,	१८७।११२६
पद्मनाम करुणांकुर मुग्धे-------	,,	११।६१,	,,	१८७।११२७
मत्कार्यसिद्धै तव चन्द्र ---	,,	११।८७,	,,	२४७।१४४४

अन्तः और बहिः प्रमाणों की इस विस्तृत शृंखला से यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'श्रीकं० च०' और उसके रचयिता महाकवि मंखक का नाम काश्मीर तथा दक्षिण भारत में अच्छी तरह से प्रख्यात था । कालक्रम के अनुसार उनका यशःसौरभ मन्द पड़ गया ।

आधुनिक इतिहासकार - आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास-लेखकों में कीथ ने 'श्रीकण्ठ चरित' और मंखक का नाम भी नहीं दिया है । मैक्डानलादि ने 'श्री०च०' को लघुमहाकाव्य माना है । कुछ भारतीय संस्कृत साहित्य के इतिहास-लेखकों ने 'श्री० च०' को मात्र सूक्ति-काव्य माना है । श्री बलदेवप्रसाद उपाध्याय जी ने संक्षेप में कवि और काव्य की प्रशंसा करते हुए 'श्री० च०' का एक श्लोक[1] उद्धृत किया है । आपका कहना है -- 'काश्मीरी कवियों की कविता का एक राग ही अलग है, जिसकी माधुरी सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है । पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थों की मनोहर कल्पना, भक्ति का उद्रेक - इसकी कुछ विशिष्टताएं हैं ।'[2] डा० वाचस्पति गैरोला ने 'नैषधीयचरित' के साथ ही 'श्रीकण्ठ चरित' को भी द्वितीय श्रेणी के महाकाव्यों में गिनाया है।

टीका - किसी महाकाव्य की टीका भी उसके महाकाव्यत्व का टीका ही हुआ करती है । 'श्रीकण्ठ चरित' के वर्तमान उपलब्ध काव्यमाला संस्करण में इसके टीकाकार श्री जोनराज भी काश्मीरी हैं । यह द्वितीय राजतरंगिणी के कर्ता माने जाते हैं । 'श्रीकण्ठचरित' की अपनी टीका में जोनराज ने दो-तीन स्थलों पर 'आयामवत्त्वात्तुम्ब इतिकेचिदाचक्षते इति पदसंगतम्'[3] तथा अन्यत्र भी 'इतिकेचित्'[4] लिखा है । इससे ज्ञात होता है कि जोनराज :लगभग १९५०: की टीका से पूर्व भी 'श्रीकण्ठ चरित' की १-२ टीकाएं लिखी गई थीं । दुर्भाग्यवश आज उनमें से किसी का भी पता तक नहीं चलता ।

१- 'किन्तु कालगणना पौमैषणीमाष्टमर्थममधुरिरणायम् ।
तत्र यद् किरिखिलितांगनेविप्यतिस्म चरणौ रमाक्षी ' ।।श्री०च०, १०।११

२- श्री उपाध्याय, सं० सा० का इतिहास :१९५६ संस्करण:, पृ० २२५-२६ ।

३- श्री० च०, १४।७ :टीका:,

४- वही, ३।४०, ८।३३, १४।१० तथा २०।५ ।

जोनराज की टीका - का पृथक् कोई नाम नहीं दिया गया है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और सारग्राहिणी है। कहीं-कहीं तो मात्र एक पंक्ति में ही श्लोक का सार भर दे दिया है। दो-तीन स्थानों पर रहस्यपूर्ण ढंग से टीका त्रुटित हो गई है। लगता है, मानों टीकाकार को मूल में ही कुछ दोष-सा दीखा और उसे व्यक्त न करने के लिए ही टीकाकार मौन साध गया हो। फिर भी इस श्लेष प्रधान महाकाव्य का, इस टीका के बिना, यत्किंचित् भी रसास्वादन कर पाना अत्यन्त कठिन था। इस टीका ने काव्यगत ग्रंथियों को खोल-खोल कर शिवभक्तिरस को सरल और सर्वप्रिय बनाकर, सहृदय जगत् का बड़ा परोपकार किया है। टीकाकार ने स्थल-स्थल पर कुछ प्रामाणिक तथ्य भी स्पष्ट किए हैं। कुछ ज्ञातव्य विषय भी उद्घाटित किए हैं। काश्मीर के स्थानों तथा 'हसन्तिका' जैसे स्थानीय शब्दों का भी स्पष्ट संकेत किया है। अनेकों स्थानों पर टीकाकार ने मूल में बहुमूल्य त्रुटियां दर्शायी हैं। इन सबके लिए साहित्यिक जगत् श्री० क० के टीकाकार श्री जोनराज का सदा ऋणी रहेगा।

साहित्यिक स्थान :

किसी महाकाव्य के साहित्यिक मूल्य या गरिमा के विचार-निर्णय करने का पूर्णाधिकार एकमात्र सहृदय साहित्यिकों को ही होता है। साहित्यिक सहृदयपंचों के निर्णय में मतभेद करने की सम्भावना बहुत कम रहती है। फिर, एक साधारण शोधक के लिए तो यह और भी दुःसाध्यप्राय है।

बृहत्त्रयी सहृदयों ने नैषध-माघ-किरात की 'बृहत्त्रयी' और रघुवंश-कुमारसम्भव-मेघदूत की 'लघुत्रयी' के दो विभाजन कर रखे हैं। इस वर्गीकरण में किसी पक्षपात की सम्भावना नहीं की जा सकती। विभाजन पुस्तक या अन्तर्गत सर्गों के विस्तार-संकोच के आधार पर नहीं किया गया है। 'किरातार्जुनीय' में केवल १०४० श्लोक हैं, फिर भी इसे 'बृहत्त्रयी' में स्थान प्राप्त है। काल-क्रम के ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व का भी कोई विचार नहीं रखा गया है, क्योंकि नैषध १२ वीं शताब्दी की रचना होकर भी 'बृहत्त्रयी' में अन्तर्गत कर रखा है। यहां मानदण्ड विशुद्ध सहृदय-रुचि ही है। पठनपाठन क्रम में जिन महाकाव्य

ने जिस किसी तारतम्यता के साथ मूल्यांकन किया है, उसे, निष्पक्षभाव से, वह स्थान प्रदान कर दिया गया है। साथ ही, अखाड़े से दूर के महाकाव्य 'दीन-गौरव' से भी बाहर ही हैं। 'किरात' ने अपने अर्थगौरव से पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया। कविशिरोमणि कालिदास के रघुवंश के बाद, अपनी चित्रकाव्य-परम्परा के महाकाव्यों की रूपरेखा और आदर्श का निर्माता होने का सौभाग्य भी इन 'नारिकेलफलसम्मितं वचः' वाले महाकवि भारवि को ही प्राप्त है।

उपमा, पदलालित्य और अर्थगौरव के एकमात्र भाजन 'शिशुपालवध' ने किरात के पदचिह्नों पर चलकर भी वैष्णवपद का लाभ किया।

शिवलीलार्णव भी विजयलाभ में आवश्यक अपना विशिष्ट स्थान रखता है। 'नैषधीय चरित' के सापेक्ष महाकार ने भी उसे 'बृहत्त्रयी' में स्थान पाने में सहायता की है। फिर भी, हर्ष की तीखी-तीव्र-विस्तृत दृष्टि, कल्पना और उद्भट प्रतिभा ने भी बलात् उच्चपद प्राप्त किया है —

'नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता' ॥

'बृहत्त्रयी' के बृहत्त्व की रक्षा के लिए ही लघुत्रयी ने अपना उत्सर्ग कर दिया। कविकुलगुरु कालिदास को भी किसी प्रकार सन्तोष देना ही था। मंखक भी काशी के उन निमन्त्रणभोजी पण्डितों में से ही हैं कि जिन्हें तीसरी त्रयी में भी अनिर्दिष्ट ही छोड़ दिया गया है।

'शैवत्रयी' में भगवान् पशुपतिनाथ का स्थान इसी से जाना जा सकता है कि ब्रह्मा और विष्णु के आराधक मिलकर भी शिवोपासकों की संख्या और प्राचीनता को न पा सकें। आशुतोष शंकर सदा 'सदाशिव' ही रहे हैं। 'श्रीकण्ठचरित' की स्थिति भी सदाशिव जैसी ही है - अप्रकट, पर सतत्कल्याण-कारिणी।

माघ और किरात प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित हैं। 'नैषधीयचरित' पहुंचा था काश्मीर- पण्डितसभा में परीक्षा के निमित्त, पर मम्मट मामा ने

ही, सुनते हैं, कह दिया था कि यदि इसे :नैषधीयचरित: पहले देख पाते, तो मैं सारे दोषों के उदाहरण इसी में से देता'।

'किरातार्जुनीय' स्थान-स्थान पर विषयान्तर के वर्णन तथा तर्क-विवाद के ओजस्वी भाषणों में भटकता रहता है। कोरी राजनीति के गहरे दांवपेंच सहृदय को थका डालते हैं। चित्रकाव्यप्रदर्शिनी की नींव भी इन्होंने ही रक्खी थी। यमक के मामा 'एकाक्षरश्लोक' को देखिए—

'ननोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।

नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्' ।।[1] महाकवि भारवि ने शब्द भी ढूंढढूंढकर ऐसे अप्रचलित प्रयोग किए हैं कि बड़ा अथक परिश्रम करके एक-एक 'फलश्लोक' तोड़ने पर केवल १।। छटांक स्वल्पमधुर जल भर निकलता है। नायक अर्जुन हैं, पाशुपतास्त्रलाभ उन्हें ही हुआ है। किरात :शिव: तो देव होने के नाते ही, और वह भी केवल छद्मनाममात्र में, प्रमुखत्व पा गए हैं, काव्य होने के नाते, नहीं। बलिहारी तो उन पण्डितमाघ की है, जिन्होंने 'किरातार्जुनीय' को एक 'शैवमतकाव्य' माना और उसी की अनुकारिता :पैरोडी: का प्रयत्न कर 'वैष्णवकाव्य - शिशुपालवध' लिखा। माघ ने भाषा की दुरूहता-कठोरता को दूर रक्खा है, फिर भी, किरात० के १५ वें सर्ग की प्रतिद्वन्द्विता में १९ वां सर्ग १२० चित्रश्लोकों में समाप्त किया है। इसमें 'द्वन्द्व-युद्ध' का वर्णन है। एक उदाहरण लीजिए —

'दाददो दुद्ददुद्दादी दादादो दूददीददोः ।

दुद्दादं दददे दुद्दे ददाददददोऽददः' ।।[2]

दोनों में भेद बस इतना ही है कि भारवि के 'नाना' :नहीं, नहीं: यहां 'दादा' :दा + अदा- देना-लेना: हो गए हैं। भारवि-माघ का यह 'द्वन्द्व-युद्ध' बस 'गुदगुदी' भर लगता है। यहां 'युद्धवीर' के दर्शन तो सर्वथा दुर्लभ हैं।

'नैषधीय चरित' भक्ति-काव्य नहीं है। इसमें भक्तिरस-साधन की

१- किरा०, १५।१४ ।

२- शिशु०, १९।११४ ।

वर्ण के कवि ने विकारमय बना दिया है। इसमें चित्रबन्ध तो नहीं है, पर गुन्ध्यान्थियाँ भरी पड़ी हैं। अप्रस्तुत की कुछ प्रयोग भी उद्दाम है। उक्तियाँ अनूठी हैं, पर मिस ---

'अस्ताद्रिकूटालयपक्षणाति-
    च्छेदस्य किं कुक्कुटपेटकस्य।
यामान्तकूजोल्लसितैः शिखाग्रै-
    र्दिग् वारुणी प्रागरुणीकृतेयम्' [1]।

:'अस्ताचल अटालय, पक्षणः अटालय', के मुर्गों की दिवसान्तकूजनकालीन उत्थित अरुणशिखाओं के कारण ही अकस्मात् यह पश्चिमदिशा लाल-लाल हो गई है:। कितनी बीभत्स-पोषिका उत्प्रेक्षा है। :कहाँ पुनीतसंध्यारुणिमा और कहाँ अशुचि कुक्कुट:।

'श्रीकण्ठ चरित' में चित्रबन्धों की गन्ध नहीं है। एकाक्षर श्लोक की तो बात ही क्या, एकाक्षरपाद भी नहीं है। कोई ग्रन्थियाँ भी नहीं हैं। साधारणयमक और श्लेष के सिवाय कोई दुरूहता नहीं है।

त्रिपथगा - श्री० च० में 'शंकरभक्ति चर्चा' [2] की मन्द मन्दाकिनी आद्योपान्त प्रवाहित होरही है। प्रधान फल तो है - 'त्रिपुरनाश', परन्तु कवि ने स्थान-स्थान पर उद्धरण-स्मरणादि के द्वारा शंकर के अशेष पौराणिक जीवन का एक महाभण्डार या महाकोश बना दिया है 'श्रीकण्ठ चरित' को। यह निबन्ध :महाकाव्य: सच्चे अर्थों में श्रीकण्ठ भगवान् का समस्त चरित ही तो है। यह 'चरितमणिमाला' अपनी 'शिरोमणि' 'त्रिपुरलीला' से चतुर्दिक् चमका रही है। हरविजय-किरात-श्रीकण्ठचरित के त्रिसंगम में त्रिपथगा :महाकाव्य, कथासागर और भक्ति-सायन: यह 'श्रीकण्ठचरित' ही है। 'बृहत्त्रयी' में इस त्रित्व का सर्वथा अभाव है। भक्ति भारतीयता की आत्मा है। बिना भक्ति के भारतीय जीवन जीवित नहीं रहता। तब, किसी प्रबन्ध-काव्य का प्राण भी भक्ति ही होना चाहिए। और भक्ति बिना 'कथाचर्चा'

१- नैष०, २२।५ ।

२- श्री० च०, १।४४ ।

जृम्भत्पंकजकोशशुष्मितमधुश्यामस्कन्धनासादित-
प्रौढामोदभरः स वाति सपदि प्रत्यूषवेलानिलः।
यो ऽशेषप्रणयापराधविलसद्दर्पोद्धतानां धियं
कन्दर्पस्य जयोत्थः प्रतिपदं स्वेदाम्भसामाप्यति ॥[१]

(खिले हुए कमलों की सुगन्धि से पूरा हुआ, और प्रेमोपचार में रज:-सुगन्धित हो, यह प्रातःपवन मन्दमन्द बह रहा है। रात्रिक विलासश्रमस्वेद को सुखाता हुआ कामदेव का उद्दीपक बन रहा है।) आदि १४ श्लोक। प्रभात-वर्णन किया है सभी महाकवियों ने, लेकिन यह 'प्रभातोद्गायन' संस्कृतसाहित्य में अपने ढंग का अनूठा है। इसी प्रकार महाकाव्य के पूरक वसन्त-जलक्रीडादि का निबन्धन भी कवि ने चरितनायक शिव के प्रसंग से किया है, स्वतन्त्र नहीं। दोला और जलक्रीडा स्वयं शिवप्रिया पार्वती करती हैं। शिव उपस्थित रह स्वयं उनका आनन्द लेते हैं।

शैवमहाकाव्य - चरितनायक के उत्कर्षमय चित्रण, ऋतुओं के आकर्षण, वसन्तादि के उत्कृष्ट वर्णन, भक्तिसूक्तिसंकलन, लोकोक्तिसंग्रथन और लोकोपकार के प्रति सन्देश का भक्ति से अनादि दृष्टियों के साथ-साथ भावमयता, अनूठी उक्तियाँ, सूक्ष्म-भव्य-विशद उत्प्रेक्षाएँ, सरसभाषा, माधुर्यसम्पन्नता, सन्तुलित अर्थगाम्भीर्य और रसों का उच्च परिपाक जिस रूप में हमें 'श्रीकण्ठचरित' में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'बृहत्त्रयी' के कवि लोककथाओं को लेकर स्वकाव्य प्रणयन में कृतावधान हुए हैं, पर मंख के सामने देवताओं की आर्ति, उनके विनाश का प्रश्न है। यदि अन्य कवि लोककाव्य का प्रणयन कर रहे हैं, तो मंख ने देवकाव्य का प्रणयन किया है। इसे देवस्थान मिलना ही चाहिए। काश्मीर की प्रकृति-सुषमा में पले हुए मंख के निसर्गोज्ज्वल देवोद्गार सर्वथा अनुपम हैं।

हरविजय-किरात-श्रीकण्ठचरित की 'शैवत्रयी' में यदि विचार कर देखा जाय तो 'श्रीकण्ठचरित' का स्थान, 'शैवत्रयी' में शिव के स्थान के समान ही, श्रेष्ठ है। इसमें मात्र सार संग्रहीत किया गया है। [illegible] अन्यत्र मिलेगा—

१- श्री० च०, १५।१२

'यावन्तो खला खण्डलविधिं निष्पीड्य निष्पीड्य ये
बाष्कालुम्बकतां पुरा कतिपये तत्कालसूक्तापहैः ।
यायन्तोऽथ यथायथं तु कथयन्तो तत्र संतन्वते
येऽनुप्रासचकोरचित्रमकलोपापि शल्कोच्चयम् '।।[1]

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और रस के समुचित समुल्लास की न्यूनता सहृदयों को इसमें न मिलेगी। कवि की मौलिकता-रसिकता के दर्शन पद-पद पर होंगे। 'शंकर-भक्ति चर्चा' से क्या कुछ लाभ नहीं होता। 'श्रीकण्ठ चरित' भुक्ति-मुक्ति दायक है।

<u>ऐतिहासिक तथ्य</u> - अन्य महाकाव्यों की अपेक्षा 'श्रीकण्ठ चरित' की उपादेयता एक और भी, सर्वथा असम्बद्ध, विषय को लेकर विचारणीय है। अन्य महाकवियों तथा महाकाव्यों के जीवन-तिथि आदि पर कहीं भी प्रकाश, अन्तः-साक्ष्य से, नहीं के तुल्य प्राप्त होता है। परन्तु इसके सर्वथा विपरीत, महाकवि बाण से प्रभावित होकर, महाकवि मंखक ने 'श्रीकण्ठचरित' में स्व-देश 'काश्मीर' तथा स्व-वंशादि का विस्तृत परिचय दिया है। इतना ही नहीं, इस महाकाव्य के पच्चीसवें सर्ग का महत्त्व, ऐतिहासिक दृष्टि से, अत्यधिक है। इस सर्ग में महाकवि मंखक ने स्वाग्रज अलंकार की विद्वत्सभा का जीवन्त वर्णन किया है। जिस प्रकार पण्डित एवं विज्ञ सहृदयों की भरी सभा में नवागत परीक्ष्य कवि की प्रतिभा तथा आशुकवित्व की परीक्षा होती थी, इसका सटीक वर्णन हमें इस २५ वें सर्ग में मिलता है। राजकुल शुक्ल तथा तेजकण्ठ ने जिस प्रकार मंखक की निष्पक्ष परीक्षा ली, पण्डित पद्म प्रभृति कैसे मंखक से प्रभावित हुए, मंखक ने कैसे, विनयावनत रह, सबको स्वकवित्व से सन्तुष्ट किया, आदि-आदि सब मानस-पटल के समक्ष सर्वथा चित्रित हो उठता है।

१- श्री० क०, ३।४२।

।अ। आदान

कवि-निर्माण - कलाकार पूर्ववर्ती कलाकारों की कलाकृतियों का सम्यग् अध्ययन करके ही आत्म-निर्माण किया करता है। विशेषरूप से एक कवि के निर्माण के लिए, उसकी अपनी जन्मजात सहज प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास की महती आवश्यकता और प्रकार पर महाकवि राजशेखर ने अपनी "काव्यमीमांसा" में अच्छा प्रकाश डाला है। इसी ग्रन्थ में राजशेखर ने भाषा, भाव और उक्ति की प्रतिच्छाया लेकर स्वकाव्य-निर्माता कवियों का एक सुन्दर वर्गीकरण भी उपस्थित किया है। सर्वथा नवीन और अद्भुत सृष्टि लगभग असंभव होती है। और, प्रत्येक की शक्ति-सीमा में तो नहीं ही होती। अतः काव्य-मीमांसाकार ने पूर्ववर्ती महाकवियों के श्लोकों की छाया लेकर स्व-काव्य-निर्माता कवि को हेय नहीं बताया है। प्रतिभाशाली समर्थ महाकवि छाया लेकर भी स्वकाव्य-निर्माण में अधिकतर पूर्ववर्ती कवि के काव्य-सौन्दर्य का अतिक्रमण भी कर जाते हैं। महाकवि माघ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। महाकवि मंखक ने भी कविकुलगुरु कालिदास के कर्णिकार-वर्णन की छाया पर एक सहृदयाह्लादक श्लोक[1] का निर्माण करके 'कर्णिकार मंख' की साहित्यिक पदवी प्राप्त की थी। इस एक ही श्लोक में मंखक कालिदास को बहुत पीछे छोड़गए हैं।

साहित्यिक विद्यार्थी अपने अध्ययन-काल में अपने साहित्यिक आदर्श का निर्माण स्वपठित साहित्य से सतत्व चुनचुन कर करता जाता है। तत्कालीन कलाकार, उनकी परम्पराएं, प्रवृत्तियां तथा सहृदय जगत् में पठित-सम्मानित कवि-कृतियां आदि उसके आदर्श निर्माण में अपना-अपना समुचित स्थान रखते हैं। प्रतिभावान् विद्यार्थी इनकी उपादेयता का भी आकलन करता जाता है, और साधारण विद्यार्थी मात्र अन्धानुकरण में ही अपनी कृतकृत्यता मानता है। मौलिकता, उपादेयता और सहृदयाह्लादकता ही किसी कवि के काव्य की अन्तिम कसौटी हुआ करते हैं। इनपर खरा उतर कर ही कोई भी महाकवि और उसका महाकाव्य बहुत थोड़े ही काल में प्रसिद्धि का लाभ पा लिया करते हैं। वे अजरामर बन जाते हैं और आगामी पीढ़ियों के लिए, साथ ही, बन जाते हैं- आदर्श।

१- श्री० क०, ५।१२ ।

दल को साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया है। अत्यन्त सूक्ष्म, परन्तु स्तावनीय परिवर्तन या संक्षेप भी उपस्थित किया है। कवि ने 'श्रीकण्ठचरित' के मूल कथानक तथा प्रबन्धकल्पना में कोई भी उल्लेखनीय तत्त्व कहीं अन्यत्र से ग्रहण नहीं किए हैं।

कालिदासादि की श्लोकच्छाया - कालिदास, भारवि, माघ तथा काव्यप्रकाशादि का अच्छा अध्ययन कवि ने किया था। अतः इनके भावों का प्रतिबिम्ब यत्र-तत्र इस प्रकार परिलक्षित होना स्वाभाविक है --

:अ: 'दुष्टां पुण्यावेव परे कर्मीनां सद्य: प्रमादस्खलितं लभन्ते।
क्वोत्फल्ले चारुं क्वं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपात:' ।।[1]

'निर्दोष काव्य में ही लोग कवियों के प्रमाद-स्खलितों :अशुद्धियों: को पा लेते हैं। कहते-जैसे वस्त्र पर गिरा हुआ कज्जलबिन्दु, निपुणता से देखा जाकर भी, क्या दिखाई देता है? अर्थात् सर्वथा अशुद्ध-अस्पष्ट काव्य में दोषों का पता नहीं चलता।' इस श्लोक पर कालिदास के 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो: किरणेष्विवांक:'[2] ।। श्लोक का स्पष्ट प्रभाव है। फिर भी, दोनों कवियों के वर्णन भिन्न और चारु हैं।

:आ: 'तान्संश्रयति भारती भगवती विद्म्भत: क्रीडया-
पुष्यातेव कणिस्वयावपि छात्रनभ्यासदूरीकृता।
कृतयत्नशतप्रभा विलयोर्ध्वेप्रसादीकृतं
स्वच्छं संगमनीयरत्नमिव ये शक्नुकुक्षुतं बिभ्रति' ।।[3]

'अपने पाण्डित्य-मद के कारण जिन्होंने स्व-व्युत्पत्ति बढ़ाने के लिए गम्भीर अध्ययन नहीं किया है और पढ़ कर अनभ्यासवश उसे विस्मृतप्राय बना रखा है उन जैसे भी कवित्वप्रतिभाशाली व्यक्तियों के पास अनायास ही क्रमश: नवनवोन्मेषार ऐसे ही उठ आती हैं जैसे कि 'संगमनीयमणि' के धारणकर्ता के पास उसका प्रिय आ जाता है'। महाकवि कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' में श्लोक है--

---

1- श्री० च०, २।६ ।

2- कुमार० कु० सं० १।३ ।

3- श्री० च०, २।५८ ।

'संगमनीय इति मणि: स्फुटताभरणरागयोर्निरत्यम् ।
आवर्जितयामंमाण: संगमनमिरास्त्रियजनेन' ।।[1] इसमें 'संगमनीय मणि' का लक्षण मात्र बताया गया है। परन्तु मंखक ने उस लक्षण का सुन्दर साहित्यिक प्रयोग उपस्थित किया है।

:ध: कर्णिकार का वर्णन मंखक ने ६।१३ में और महाकवि कालिदास ने 'कुमारसम्भव' के ३।२८ में किया है। दोनों का निष्कर्ष और तुलना 'प्रसिद्धि तथा टीकाएं' प्रकरण में दिखाया गया है।

:ङ: 'अष्टमूर्ति' शिव का वर्णन कालिदास ने 'शाकुन्तल' की नान्दी में एक बार तथा मंखक ने ५।४३-४५, १७।३२ तथा ८।३ में किया है। मंखक के वर्णनों में साहित्यिकता की मात्रा अधिक है।

:उ: 'शुद्धा दिवमान्तर्निबद्धानुकूल्याऽपि पात्रं परम्भागदारणाम् ।
सत्पुण्यभाज: सततानुरागवत्या भवत्यसकृद्गृहिणीव वाणी' ।।[2]
'किसी ही पुण्यशाली की कविताकामिनी उस सद्गृहिणी के समान होती है जो शुद्ध, सौम्य और सततानुरक्त हो'। इस श्लोक पर महाकवि बाण के निम्न - श्लोक की छाया है —

'स्फुरत्कलालापविलासकोमला
करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवा वधूरिव' ।।[3] दोनों श्लोकों में काव्य-सौन्दर्य समान है। पर 'अभिनवावधू' नेक चंचल होती है और 'सद्गृहिणी' प्रगुण उदारता लिए हुए होती है।

:ऊ: 'श्यामालितां कुसुमाशुपिशां कुसुम्भ
हृद्याम्बरां शशिकलामलितत्कराग्रै: ।
अन्तर्निमग्नबहुपुष्पशराऽभिपाता
त्वं किं चकार तरुणी न वशीकरणाग्नि:' ।।[4]

१- विक्रमां० ५।२६ ।　　२- श्री० क० २।१३ ।

३- कादं० श्लोक ८ ।　　४- श्री० क०, ५।२३ ।

शब्दशक्तिमूल ध्वनि होने के कारण यह श्लोक उत्तम कोटि का है। प्रसाद और माधुर्य गुण भी यथेष्ट मात्रा में हैं। रस-भावों का परिपाक चरमकोटि को प्राप्त है। सम्भोग शृंगार भगवद्विषयक रति- 'रतिर्देवादिविषया भाव: प्रोक्त:', भाव का अंग है। काव्यलिंग अनुप्राणित समासोक्ति व्यंग्य है।

इस श्लोक पर काव्य प्रकाश के निम्नलिखित श्लोक, जो 'अमरुशतक' से संगृहीत है, की स्पष्ट झलक है ---

'क्षिप्तो हस्तावलग्न: प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तम्
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षित: सम्भ्रमेण ।
आलिंगन योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभि: साश्रुनेत्रोत्पलाभि:
कामीवार्द्रापराध: स दहतु दुरितं शाम्भवो व: शराग्नि:' ॥[1]

'शराग्नि' और 'ईक्षणाग्नि' दोनों ही अनुपम हैं। भेद केवल इतना ही है कि पूर्व 'पुष्ट' और पर 'अनुक्त' है।

:क: 'पातालैकशिरोधरा:फणिपतेरुत्तालता विद्रुम-
स्कन्धाभाननतेषु दानसलिलाक्रान्ता दिशां कि्रिया: ।
भीतास्तैरचिरेषु यामकजता प्रस्तेऽपि विश्वम्भरा-
भारे क्रीडनिपीडनेन दधते दूरावनम्रं शिर:' ॥[2] इस श्लोक पर महाकवि माघ के निम्नलिखित श्लोक छाया है —

'परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डल: ।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दु:खेन भृशानतं शिर:' ॥[3]

इन दोनों श्लोकों में सिर के नमन का हेतु भूभार हट गया है और त्रिविध, एकरूप, भार लज्जा आ गई है। माघ में यमराज का वाहन भैंसा लज्जावनत है और मंखक ने दिग्गजों को अवनत सिर दिखाया है।

माघ के वक्ता नारद हैं, और मंखक के नारद के पिता ब्रह्मा जी। जिस पाठक को इन दोनों श्लोकों के तुलनात्मक सौन्दर्य में नारद-ब्रह्मा और भैंसा-हाथी का ही समानुपात मिलेगा

१- का० प्र० श्लो० - ३४०।   २- श्री० च०, २०।६५

३- शि० व०, १।५७ ।

(ग) 'अन्यश्चेत्समरेऽमरव्रजमथो अन्यामरे केन वा
धामासाद्य पदं रतेरुभयथाप्येतद्वपुर्धान्युम: ।
व्याप्तं व्या० ---------------------------'[1] इस श्लोक पर
गीता के – 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'[2] की छाप है।

वसन्त, चन्द्रोदय, चन्द्र, प्रभात तथा पानकेलि आदि का वर्णन कवि ने सर्वथा परम्परा प्राप्त ही किया है। केवल कुछ नवीन उद्भावनाएं यत्र-तत्र गोचर होती हैं। त्रिपुरारि का चरित्र भी एक लौकिक महाराजाधिराज के वृत्त पर आधारित है। देवांगनाओं और उनकी अर्धांगिनियों की पानकेलि आदि साधारण कामुकों के समान वर्णन करके कवि ने स्वकाव्य को दूषित बना लिया है।

दोलाक्रीडा[3], त्रिपुरप्रभाती[4], त्रिपुरभस्म[5] का वर्णन और वीरों की रण-सज्जा का क्रियाकलाप[6] कवि के अपने और सर्वथा अनूठे हैं।

(घ) द्वितीय सर्ग में सुजन-वर्णन के अवसर पर कवि ने काव्यमीमांसा के विवेकी, 'सतृणाभ्यवहारी' और अरोचकी का वर्णन निम्नप्रकार से किया है। परन्तु, वामन के मतानुसार मंखक ने विवेकी आदि आलोचक के भेद न मानकर काव्यकर्ता के माने हैं —

'हृदय में स्थित सरस्वती के वाहन हंसों के द्वारा नीरक्षीर (गुणदोष) के विवेचन की शिक्षा दिए गए कुशल विवेकीकवि ही उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।'[7]

'किसी ही भाग्यशाली की वाणी, सार्थक-निरर्थकादि कुछ भी रचना करने में तल्लीन, घासादि चरनेवाली गाय के समान[8], सुस्वादु सरस रचना-क्षीर को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ करती है। (अर्थात् सर्वथा निर्दोष और

१- श्री० च०, २२।२२ । २- गीता २।३७ । ३- श्री०च०, ७।५१-५६ ।
४- वही, सम्पूर्ण षोडश सर्ग । ५- वही, २४।३०-३२ । ६- वही, सर्ग २१-२२ ।
७- 'वितीर्णशिक्षा इव हृत्पदस्थसरस्वतीवाहनराजहंसैः ।
ये क्षीरनीरप्रविभागदक्षा विवेकिनस्ते कवयो जयन्ति' ।। वही, २।१ ।

८- बह्वीषमापि सतृणाभ्यवहारिशुद्धा धन्यस्य कस्यचन सन्त वसुंधरा गौः ।
सूते समद्गुणरसं बहुधा सुधाया यो न्यः प्रकार इव विश्वमिदं पुनीते' ।। वही, २।२८

सरस काव्य रचना करने के लिए सतताभ्यास तथा गुरु-सेवा के द्वारा सरस्वती की कृपादृष्टि प्राप्त करने की महती आवश्यकता होती है।

अरोचकी :- जो पदज्ञानशून्य हैं, जिन्हें अर्थ का भी ज्ञान नहीं है और जो प्रतिभाशाली भी नहीं हैं, ऐसे 'अरोचकी' कवि काव्यकर्म में लगकर सिवाय अत्यल्प रससिद्धि के और क्या पा सकेंगे ? उनकी रचना स्वल्प रसवाली होगी।[1]

।ख। प्रतान

शिवचरित परम्परा - शिवलीला अपार है। तत्परक साहित्य भी अत्यधिक विस्तृत है। फिर भी, 'त्रिपुर-दाह' का शिवलीलारूपों में अपना एक विशिष्ट स्थान है। सहृदयावर्जक शिव-साहित्य में 'श्रीकण्ठ चरित' का भी वैसा ही एक विशिष्ट स्थान है। कोई भी शिवकाव्य इसकी उत्तुंगता को नहीं पा सका है। इस एक त्रिपुरवध कथानक को लेकर भरतमुनि के समय से पूर्व से लेकर १२ वीं शताब्दी तक कई काव्यग्रन्थ लिखे गए। शिवचरितपरक महाकाव्यों में भी इस घटना का यथेष्ट वर्णन किया गया है। अन्य इतिहास-पुराण और कवियों ने इस घटना का उल्लेख यत्र-तत्र स्वकाव्यों में किया है। मंखक से पूर्व के कवियों ने इस घटना के विषय में किसी न किसी पुराणादि से तथा परवर्ती कवियों ने 'श्रीकण्ठचरित' से समधिक प्रेरणा ग्रहण की है।

त्रिपुरदहन - भरतमुनि के द्वारा संकेतित 'त्रिपुरदाहडिम' अलभ्य है। ९ वीं शताब्दी में केरल के पजातुवासुदेव ने 'त्रिपुरदहन' नामक यमक-काव्य लिखा था। यह तीन उल्लासों में है। प्रथमोल्लास में ७२ श्लोक हैं। तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली ने हेम, रजत और आयस लोकों के क्रमशः आश्रयण

१- 'ये नापदस्थितिविशुष्कधियः कथंचि-
नार्थप्रथाप्रणयिनः प्रतिभादरिद्राः।
काव्यक्रमेण किमरोचकिनोऽपि तेऽन्य-
दल्पीयसोऽमितरसाच्च वाप्नुवन्ति ॥

श्री० च०, २।२९

किया । तीनों ब्रह्मा से वर पाकर, स्व-स्व नगरों में स्थित हो, शिव की भक्ति में लीन हो गए । असुरस्वभाववश, वे देवों को कष्ट देने लगे । दोनों में युद्ध हुआ । देवगण हार गए । द्वितीय उल्लास में ५२ श्लोक हैं । इसमें हारे हुए देव विष्णु की शरण जाते हैं । विष्णु त्रिपुर के मारने में अपना असामर्थ्य व्यक्त करते हैं । देव खिन्न हो जाते हैं । विष्णु स्वयं शिव को प्रसन्न करने के लिए घोर तप करते हैं । फिर भी शिव प्रसन्न नहीं हुए । कारण असुरों की भक्ति व सदाचार थे । नारद ने असुर-स्त्रियों को अधर्मोपदेश दे, पथभ्रष्ट बनाया । इसी बीच विष्णु ने शिव को भी स्वतप से प्रसन्न कर लिया । नन्दी के कहने पर देव त्वष्टा से उपयुक्त रथादि बनवाकर शिव के पास ले आए । तृतीय उल्लास में ६१ श्लोक हैं । रथारूढ़ हो शिव त्रिपुर के मिलनबिन्दु पर पहुंचते हैं । शिव ने अपनी नेत्राग्नि से उन तीनों को भस्म कर डाला । देवों की प्रार्थना पर शिव ने स्वनेत्रज्वाला को शान्त कर लिया ।

समस्त काव्य का ध्येय पाशुपतधर्म का प्रसार-प्रचार है --

'तस्यपुरवधाय य:त्रिदशा: पशुभावमवापुरवधार्यता: ।
प्रभुरपि जनाम्नात: पशुपतिरिति विश्रुतेन निजनाम्नाव:'[1] ।।

इस 'त्रिपुरदहन' यमककाव्य पर श्री० च० का प्रभाव संदिग्ध है ।

'हरविजय'- का कथानक 'अन्धकासुरवध' है । 'शिवलीलार्णव:' में भी त्रिपुरकथा का कोई उल्लेख नहीं हुआ है । इन दोनों ग्रन्थों पर श्री० च० के प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता ।

हरचरितचिन्तामणि - मंखक के ज्येष्ठ भ्राता श्रृंगार के पुत्र 'विमर्शिनीकार' जयरथ ने एक 'हरचरित-चिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा था । इसका स्वरूप कथाकाव्य का है । इसमें शिव की विभिन्न लीलाएं सारांशत: वर्णित हैं ।

उक्त ग्रन्थ काव्यमाला ६१ में प्रकाशित हो चुका है । तेरहवें प्रकरण में कवि ने 'त्रिपुरदाह' की कथा कुछ विस्तार से दी है । जयरथ में मंखक की

१- त्रिपुरदहन, ३।२६ ।

प्रतिद्वन्द्विता का-सा भाव झलकता है। अतः टिप्पणी-स्थल में उनके तेरहवें प्रकरण का संक्षेप से देना उचित होगा[1]।

१- अश्रुण्वन्नद्भुतारम्भास्त्रय: पूर्वे निशाचरा: ।
विद्युन्माली तारकाक्षः कमलाक्षश्च दुर्जया: ।।
तेऽथाऽपि त्रिजगतीं विजेतुं व्यवसायिन:
बहून्यब्दसहस्राणि तपस्तीव्रं वितेनिरे ।।
यथा यथा तपो घोरं तेषु कुर्वत्सु सम्भ्रमात्
आविर्भूय चतुर्वक्त्र: प्रसन्नस्तदब्रवीत् ।
प्रसन्नोऽस्मि युष्माकं वरं सम्प्रार्थ्यतां चिरम्
विरम्यतां तपश्चर्यां सिद्धि: साधयाम्यहम् ।।
इति तस्य वच: श्रुत्वा प्रसादं समुपेत्य च:
वरमभ्यर्थयामासुर्दानवा: स्थिरनिश्चया: ।
अवध्यं भूतलेऽप्य देहि नो कमलासन
अजेया अमराश्चापि भूयास्म भवदाज्ञया ।
इत्यभ्यर्थयत्सु तेषु विश्वोपद्रवकामया ।
सान्त्वयन्मधुरैर्वाक्यैरुवाच कमलासन: ।।
सर्वं विध्वंसतां काले याति हि महासुर:
जन्ममृत्युमय: कायो नामरत्वाय कल्पते ।
गृह्णीत कारणं तस्मान्मरणे प्रतिदानवा:
भुवनाधिपतित्वं दातुं सामर्थ्यमस्ति मे ।।
इत्युक्ते ब्रह्मणा तेऽपि सम्मन्त्र्यैकविनाशक
दानवा: प्रार्थयन्तोऽस्मै वृत्यवत्/पद:फलम् ।।
पुराणि कामरूपाणि कामचारीणि वेधस:
नानारूपविचित्राणि त्रीणि लोकेषु चक्रिरे ।
दिव्यवर्षसहस्रेण मिलितेष्वेतत्पुरत्रयम्
निमेषमात्रं पुरत: पृथग्वृत्ति: करोतु च ।।
एकस्मिन्नेव समयेऽथैकेनशरेण च ।
वेध्यामहे तदा लोके यदि विध्येद्विशंकरम्

जयरथ ने मत्स्यपुराण, शिवपुराण तथा श्रीकण्ठचरित के कथानकों का समन्वय उपस्थित किया है। शिव पुराण के विष्णु के द्वारा उत्पन्न किए गए मुनि विशेष और उसके धर्म को बुद्ध या बौद्धधर्म का रूप दे दिया है। दैत्यों का प्रधान अपराध शिवनिन्दा है। युद्ध का प्रसंग समाप्त कर दिया है। शुक्र को यज्ञ के बहाने हटाने तथा तीनों दैत्यों के एक स्थान पर लाने के लिए गजानन के ताण्डव की कल्पना नाटकीयतापूर्ण है। मत्स्यपुराण का आधार लेकर, छात्रु मेरी, यम की रक्षा का आदेश नन्दी को दिलवा कर कवि ने केवल अपनी शिव-भक्ति प्रदर्शित की है। संक्षेप में कथानक का उद्देश्य विशुद्ध साहित्यिक न होकर, शैव धर्म की प्रतिष्ठापना तथा बौद्धधर्म की निन्दा है। जयरथ के इस धर्मप्रचार तथा मंखक के साहित्यिक सहृदयाकर्षकत्व में कोई तुलना नहीं हो सकती। दोनों दो भिन्न कोटि और उद्देश्य की रचनाएं हैं।

<u>त्रिपुरदाहडिम</u> - इन सब त्रिपुरकथा सम्बन्धी काव्यग्रन्थों में श्रेष्ठ है- परमर्दिदेव के मन्त्री वत्सराज :११६३-१२०५: का "त्रिपुरदाहडिम"। इस डिम में चार अंक हैं। प्रथम अंक में नारद अपने युद्धकुतूहल को शान्त करने के लिए दैत्य-देवों को क्रमशः उत्तेजित करते हैं। त्रिपुर के अत्याचारों से उद्वेजित पृथ्वी और धर्म उसी समय शिव की शरण में पहुंचते हैं जबकि देवगण शिव जी से, प्रथम-ही त्रिपुर के विनाश की प्रार्थना कर रहे थे। प्रभाव अनुकूल ही होता है। महेश

विसृज्य परमेशस्तान्निर्ऋ प्रमथाधिप

नन्दिगणमवरं च वदं मोक्षेदानवैः ।। वही, १३।१७२-७५

ततस्तान्धिवितंज्ञात्वा महादेवः पुरत्रयम्

प्रमोर्धाग्निशिखाणज्वलन्तं यातवेपसा ।।

अथादृष्टावानूवाणज्वालानुविवेष्टितम्

पुरत्रयंतदाप्रापमस्मशेषं यथा क्षणात् ।।

त्र्योऽपिदानवेन्द्रास्ते दह्यमानाः शिवानरैः

अवेिजन्मनिप्रापुः शिवनिन्दाभवंफलम् ।।

संहृतंत्रिपुरं दृष्ट्वा तोषं प्रपेदे स

अथ कृतादयोदेवाःप्रमुनीकि निर्भराः ।।

पूर्व से ही देवकार्य के लिए परम उत्तेजित थे । फट युद्ध का निर्णय हो जाता है। नारद के द्वारा सेनापतित्व के लिए -"यतो धर्म स्ततः कृष्णो यत:कृष्णस्ततोजय:"[1] कहकर कृष्ण का नाम प्रस्तावित करने पर सेनानी कुमार की यह गर्वोक्ति सहृदय-जगत में चिरस्मरणीय रहेगी--

"छित्वा पौरुषवासनां न महिलाभावं गमिष्याम्यहम्
यां योत्सारितगौरवानपि पुनः प्रत्याभविष्यामि वा ।
कुर्मक्रोडकथापि रूपकितविक्रीडानुभाव्या मया
सेनानी पुरुषजन्मा दिविषदां योग्यो न मादृग्जनः" ॥[2]

आगत देवों के साथ ब्रह्मा और विष्णु नहीं आए थे । अत: उन्हें बुलाने के लिए शिव जी नारद जी को भेजते हैं ।

द्वितीय अंक के प्रारम्भ में सूचना पाकर त्रिपुरनाथ अपने अनुचर अलीक और विपरीत को, देवों में फूट डालने के लिए, विष्णु और शिव के पास भेजता है । नारद विष्णु से अभी पूर्व समाचार कह ही रहे थे कि नन्दी :शिव विपरीत के द्वारा भिड़ाये हुए: वस्तुस्थिति को जानने के लिए पहुंच जाते हैं कि "क्या सचमुच ही विष्णु शिव के द्वेषी हैं । विष्णु स्व-योगबल से दैत्य-माया को जान लेते हैं और नन्दी को समझाकर वापस करते हैं । इसी बीच एक कपटनारद :अलीक: ने कमलासन को कृष्ण के विरुद्ध भड़काया । ब्रह्मा कृष्ण को शाप देने जा ही रहे थे कि उसी समय नारद के साथ विष्णु उनके पास पहुंच जाते हैं । इसी स्थान पर नन्दी के साथ, इसी समय, महेश भी आ पहुंचते हैं । सौहार्दवार्ता के बाद देवत्रयी में विजयप्रस्थानादि की मन्त्रणा होती है। नेपथ्य में दैत्य असत्य प्रचार की ध्वनि करते हैं कि "असुरों ने स्वर्ग जीत लिया । सब देव भाग कर पाताल चले गए"। इस मायिक समाचार को सुनकर नारद देवों को पाताल से बुला लाने के लिए चल देते हैं ।

तृतीय अंक में त्रिपुरराज के मन्त्री विशालाक्ष तथा स्फुटाचार आपस में मिलते हैं । स्फुटाचार बताता है कि त्रिपुरनाथ ने उसे पाताल में देवों की दशा जानने के लिए भेजा था । दोनों मन्त्री त्रिपुरराज तर्वताप के पास पहुंच

१- रूपकषट्कम् , पृ० ८६, बड़ौदा प्रकाशन, १९१८
२- त्रिपुरदाहडिम , ३।४० ।

कर देवों की चढ़ाई की सूचना देते हैं। क्रमशः वह सूर्यतापपुर और चन्द्रतापपुर को देवों के द्वारा विनष्ट किया जाता हुआ और पुनः सूर्यताप तथा चन्द्रताप के द्वारा रक्षा किया जाता हुआ देखता है। इसी समय नन्दी के साथ कुमार दैत्यराज से युद्ध के लिए उपस्थित होते हैं। दोनों में वाग्युद्ध होता है। सर्वताप कुमार को स्वतन्त्रता से युद्ध के लिए छोड़ देता है, स्वयं शस्त्रास्त्र प्रहार नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि उसकी मृत्यु कुमार की शक्ति से बाहर है। कुमार दैत्यों का अगणित संहार कर डालते हैं। उन्हें अमृतवापी में डालकर पुनरुज्जीवित कर लिया जाता है। कुमार विस्मित-हर्षित होते हैं। विपुल संग्राम करके भी वे किसी भी परिणाम पर नहीं पहुंचते हैं। नन्दी उन्हें युद्ध से हटा ले जाना चाहता है, पर वैसा करने में वह लाचार है। इसी बीच नारद कुमार को युद्ध से विरत करने के लिए शिव का आदेश लेकर आ जाते हैं। कुमार को देखकर नारद की यह उक्ति भी कितनी मनोहारिणी है —

> 'नायं कुमारैव पितुर्महेशा-
>
> त्पराक्रमेण यथाधिकः षडास्यः।
>
> यद्यप्यसौ विस्मृतशम्भुशौर्ये-
>
> र्मन्दारदामप्रकरेण सिद्धैः'[1]॥

नारद के कहने पर, अनिच्छापूर्वक भी, कुमार युद्ध से विरत हो जाते हैं।

चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में शुक्र और विरूपाक्ष का शुद्ध विष्कम्भक है। शुक्राचार्य बताते हैं कि उन्होंने स्वप्न में सर्वताप को वैवाहिक वस्त्राभूषण पहने उत्तर दिशा की ओर जाते देखा है। वे स्वप्न के परिणाम- असुर विनाश, से दुःखी हैं। अतः असुरों की रक्षा के लिए एक मायामयी त्रिपुरी का निर्माण करके, वे कुछ शान्तिकर्म भी करेंगे। इसके बाद कवि ने नारद के मुख से एक ही श्लोक में, कितनी सुन्दरता के साथ रथी, सारथी, रथ, बाण और धनुषादि का वर्णन उपस्थित किया है —

> 'देवस्त्र्यम्बक एव धन्विन:पृथ्वी रथ:स्यात्परं
>
> वाह:स्यात्पवनाय वरुणम:सारथ्यकर्मक्षम:।
>
> कोदण्डोऽगिरिराजयुक्तप्रष्ठस्तदीयोगुण:
>
> स्यादाचित्यवती त्रिविक्रमतनोस्तस्यैव तद्बाणता'[2]

१- त्रिपु० डिम, ३।२८। २- वही, ४।७।

और भी - यह व्याजस्तुति है या साक्षात् स्तुति —

> 'अनेनाविद्धमेवाऽस्ति विष्णुबाणेनविष्टपम् ।
> अस्यैच्छया सपत्नस्य श्रीमतिम्रियतेऽथवा' ।।[1]

शिव का रथ शुक्र के द्वारा निर्मित त्रिपुरी में से स्वर्णपुर के निकट पहुंच जाता है। सर्वताप भी उस मय त्रिपुरी को साक्षात् देवों की ही कोई कपटमाया समझता है और क्षणमात्र में नष्ट कर डालता है। देवता अभी विचार में ही थे कि वास्तविक त्रिपुरी कौन है ? शिव की उदार दर्पोक्ति भी स्पृहणीय है —

> 'स्वैनैवैषपथेकान्तियदमी दर्पज्वरोन्मोत्किता:
> पाणिंकल्पयतुम्हीव्यति यथा कर्तुं तवैतानपि ।
> सुखे कर्मणिमुरिहम्बरवर्धिर्यान्वितं विष्णु-
> विन्वाणंत्रिपुरेणव्यतिकरं त्रिपुरारधिक्षिप्तम्' ।।[2]

उचित अवसर पर त्रिपुरारि बाण छोड़ते हैं। त्रिपुर भस्मीभूत हो पश्चिमोदधि में जा गिरते हैं। बाणाग्नि को भी नारद के मुख से सुनिए —

> 'कर्वचित्कक्कुमोऽमी श्यामला धूमकूटा:
> कनकशिखरिशृंगप्रांशुरार्चि:प्रपंच: ।
> तरुणतरुणभुजासुंदर्शिनः स्फुलिंगा:
> स्थिमितमणिनान्यधूमालीकयामि' ।।

देवकार्य पूरा हो जाने पर सब अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं।

विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, पावक, यम, नैर्ऋत, वरुण, पवन, कुबेर, सूर्यचन्द्र, कुमार, धर्म, शेष, सुमेरु तथा सर्वप्रधान शिव डिम के १६ नायक हैं। डिमकार ने राक्षसत्रय का नाम सर्वताप, सूर्यताप और चन्द्रताप रखा है। प्रधान सर्वताप का स्थान पृथ्वी है और पुरी आयस । सूर्यताप का स्थान सूर्यलोक है और पुरी स्वर्णमयी तथा चन्द्रताप का निवास चन्द्रलोक में स्थित राजतपुरी में है। डिम के सभी पात्रों के नामादि की कल्पना में पूर्ण सार्थकता है। सूत्र पाठक का कार्य सर्वत्र नारद करते हैं। दैत्याचार्य शुक्र, मन्त्री विद्याधन, स्फुटाप

१- त्रिपु० डिम, ३।१० । २- वही, ३।१५ ।

और अनुचर अनीक-विपर्यय दैत्यराज के सतत सहायक हैं। महाकवि वत्सराज ने त्रिदेव और देवों के देवत्व तथा वीरत्व दोनों की श्लाघनीय रक्षा की है। सारी कार्यकारण श्रृंखला स्वाभाविक और अनुकूल है। सेनानी का बालत्व एक-मात्र उन्हीं से निष्फल युद्ध कराकर दूर किया गया है। देवत्रयी का परस्पर का सौहार्द-सद्भाव सर्वथा प्रशंसनीय हैं।

मंखक ने प्रधान नायक शिव के महादेवत्व को ही आद्योपान्त बड़ी कुशलता से निबाहा है। शेष देवों के देवत्व को सुरक्षित रखते हुए भी उसे शिवचरणों में समर्पित कर दिया है। त्रिपुर के अत्याचारों तथा माया का कोई प्रत्यक्ष वर्णन, नहीं किया है। डिम जैसा कल्पना-सौष्ठव विद्यमान न भी होते हुए, 'श्रीकण्ठचरित' में महाकाव्योचित कल्पना-सौष्ठव का प्राचुर्य है। निर्झर और मरुस्थल के अपने-अपने पृथक् स्थान और सौन्दर्य होते हैं। दोनों ही हृदयावर्जक हैं।

मंखक और वत्सराज - महाकवि वत्सराज ने 'श्रीकण्ठ चरित' पढ़कर और उसकी छाया पर 'त्रिपुरदाह' डिम की रचना ही नहीं की है, प्रत्युत महाकवि मंखक की मधुर आलोचना भी उपस्थित की है। वह आलोचना अंशतः सत्य भी है। कवि वत्सराज की दृष्टि में 'श्रीकण्ठ चरित' में स्फुटाचार और विदग्धाश्रयत्व का अभाव है। जो एक राजमन्त्री के महाकाव्य में नहीं होना चाहिए। साथ ही राजदूत मंखक को, स्वमहाकाव्य को चारुतर बनाने के लिए, किन्हीं कूट कार्य-कारणों का तथा उनके समाधान का समुचित संयोजन करना चाहिए था। प्रतिनायक के भी वीररस का परिपाक, उसी की गर्वोक्तियों के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए था। मंखक के दैत्य और दानव आई हुई विपत्ति को जैसे-तैसे टालते या झेलते भर दिखाई देते हैं। उनमें वीरोचित आत्मसम्मान, साहस, उत्साह, उत्सर्ग, उद्योग तथा क्षमता का अभाव है।

राजमन्त्री वत्सराज को राजमन्त्री मंखक की आलोचना करने का पूर्ण अधिकार था। और, उन्होंने अपनी वह आलोचना राजमन्त्री विदग्धता तथा स्फुटाचार के माध्यम से करवाई है —

'स्फुटा० - ण उण एवं अणुसरिस्सदि अतिगम्भुवकिदो सम्बन्धो

१- : मधुर:सलब्धुर [illegible] : । १-[illegible]-पृ०-[illegible]

'उल्काएं' शोभा देती हैं और वीरश्री के दीपक 'वीरनेत्र' भास्वर हैं। मंखक का एक और भी श्लोक की भाव को देखिए---

'वक्त्रनिर्यदनलार्चिषां मिषात्कृतकाय क्रोधदीपकाः ।
क्रूराः पिङ्गलिताशिराः शिखाशिखानदिवसेऽपि तेनिरे' ॥[1]

:४: 'दूरं मौक्तिकानां मा हन्ति सत्यवचनरत्नानि ।
अनभिज्ञानां प्रभूणामलीकालापेषु रक्तानाम्' ॥[2] इस श्लोक पर मंखक के लौकिक प्रभुओं की चाटुता न करने के हठ की स्पष्ट छाप है।

:५: 'सभ्या भ्रान्तवान्भ्युपैति नृपवद्भद्रासनं सेवते
गर्भागारमुपैति कामुकवद्द्रोहीव रुन्धे दिशः ।
स्वैरं वीरवदारवस्विनिवहान्भ्रान्तानिवद्भ्रामयत्येकः
कोऽयं कौतुकमत्र पुरमयप्रकृते पिष्टेव सृष्टस्त्वया' ॥[3] इस पद्य का क्षेत्र विस्तृत और रस अद्भुत है। मंखक और काव्यप्रकाश :या अमरुकवि: दोनों का प्रभाव है। 'नृप, कामुक, द्रोही और वीर' का सादृश्य साम्य है, पर 'भ्रान्त' पथभ्रष्ट-सा लगता है, और वह भी आदि में।

त्रिपुर-साहित्य में इस ढंग की उत्कृष्टता सर्वमान्य है। इसमें औचित्य का निर्वाह सर्वोत्कृष्टता से हुआ है। वैदर्भी रीति भी इसमें अपने पूर्ण वैभव को प्राप्त है।

प्रभाव - 'श्रीकण्ठचरित' ने त्रिपुरदाह के पश्चाद्वर्ती साहित्य को निश्चय रूप से प्रभावित किया है। साथ ही 'कर्णिकार' मंख.के श्लोकरत्नों का प्रवेश अनेकों सूक्तिकोषों आदि में भी हुआ है।[6] उन्मुक्तभाव से उद्धरणादि लिए गए हैं॥

१- श्री० च०, २२।४२ । २- त्रिपु० ३।१ ।
३- वही, ३।११ । ४- श्री० च०, ५।२३ । ५- का० प्र० श्लो० ३५० ।
६- इस निबन्ध के 'महाकवि मंखक' प्रकरण में संगृहीत ।

<u>उपखण्ड</u> - - <u>मंतव्य</u>

संस्कोश की परम्परा

भाषा-प्रवाह :

पद-पदार्थ के ज्ञान के लिए व्याकरण, कोश और व्यवहार परम्परा ही प्रधान साधन हैं। साधारणतया जनसाधारण को जीवनोपयोगी शब्दों का ज्ञान लोक-व्यवहार से ही हो जाया करता है और यह व्यवहृतिप्रदत्त ज्ञान ही प्रामाणिक होता है। पद का स्वरूप और उसके अभिधेय का विकास-ह्रास काल-क्रम से होता ही रहता है। सामयिकता के प्रवाह में भाषा की गति आगे बढ़ती ही रहती है। व्याकरण और कोश ३-४ शती के बाद ही, इस प्रवाह में, पीछे छूट जाते हैं। अतः नवीन व्याकरण-कोश-ग्रन्थों की आवश्यकता भी उत्पन्न हो ही जाती है। प्रबुद्ध वैयाकरण-कोशकार को इस नवीनता और संचय पर यथेष्ट ध्यान देना चाहिए।

<u>पदज्ञान के साधक व्या० तथा कोशग्रन्थ</u> - संस्कृत भाषा की प्राचीनता वैदिकभाषा को छूती है, और वैदिकभाषा का आदिकाल आज कल्पान्त या महाप्रलय की घटना है। भारतीय मनीषा तो स्व-भाषा को 'अनादिनिधना' मानती है। सामयिक परिवर्तन-परिवर्धन को संस्कृत में बहुत ही नगण्य स्थान प्राप्त है। यहां प्राचीनता ही अधिक उपादेय-पूज्य मानी जाती है। उसी का अध्ययन-प्रणयन वरेण्य माना जाता है। ५०० ई० पूर्व में महामुनि पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण को अपनी 'अष्टाध्यायी' के द्वारा अक्षुण्णता प्रदान की। अद्यावधि उसी का अध्ययन-अध्यापन होता है। संस्कृतभाषा के पदों की निष्पत्ति का अष्टाध्यायी ही एकमात्र साधन है। सुदूर प्राचीनकाल में लौकिक भाषा के कोशों की परम्परा का पता नहीं चलता। वैदिक निघण्टु और निरुक्तों की परम्परा अवश्य ही प्राचीन है। पदनिरुक्ति का प्रारम्भ वेद-ब्राह्मणादि में भी उपलब्ध है। फिर भी, यास्क (८०० ई० पूर्व) के निघण्टु-निरुक्त से ही वैदिककोश परम्परा को स्थायित्व प्राप्त हुआ है।

संस्कृत के प्राचीनतम लौकिकभाषा-कोशकार भागुरि माने जाते हैं। महर्षि पाणिनि ने वैयाकरण भागुरि को अपनी अष्टाध्यायी में स्मृत किया

जाय तो लौकिक कोषों की परम्परा का प्रारम्भ ई० पू० ६० वर्ष तक ठहरता है। संस्कृत के अधिकांश कोशों का प्रणयन, बाद में भी, अधिकतर वैयाकरण व्यक्तियों के द्वारा ही हुआ है।

<u>मं० को० के प्रामाण्ययुक्त कोशकार</u> - महाकवि मंखक ने अपने मंखकोश का प्रणयन ११५० ई० से पूर्व नहीं किया है। इस काल तक यद्यपि संस्कृत के अनेकानेक कोश बन चुके थे, तथापि मंखक ने --

> 'भागुरिकात्यायन हलायुध दुर्गामरसिंह शाश्वतादिकृतान् ।
> कोशान्निरीक्ष्य निपुणं धन्वन्तरिनिर्मितं निघण्टुं च' ॥ मं०को०३

भागुरि, कात्यायन, हलायुध, दुर्ग, अमरसिंह, शाश्वत और निघण्टुकार धन्वन्तरि को ही अपने पूर्वज कोशकारों के रूप में स्मृत किया है। अतः इन ७ कोशकारों का संक्षिप्त परिचय यहां उपयुक्त होगा।

१- <u>भागुरि</u>- Z.D.M.G. 28/113 के अनुसार भागुरि के कोश का नाम 'त्रिकाण्डकोश' था। इसे सर्वानन्द, रायमुकुट तथा अन्य टीकाकारों ने अनेकशः उद्धृत किया है। इन उद्धरणों में लिंगविचार का अभाव पाया जाता है। 'त्रिकाण्ड' में पदों के पर्याय तथा नानार्थ दोनों दिए गए थे। यह अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया था। मंखक के समय :११५०: तक यह प्राप्य था, इसमें संदेह है। मंखकोश में त्रिकाण्ड से कितना सहाय लिया गया, इसका निर्णय भी, पुस्तक के अभाव में, कठिन है। 'हर' :७०४: की टीका में 'द्रुपदं विहारं विदु' रितिभागुरिरपि, उद्धृत है।

२- <u>कात्य या कात्यायन</u> - यह अमरसिंह से पूर्व के कोशकार माने जाते हैं। पुरुषोत्तम देव ने अपने 'त्रिकाण्डशेष' २।७।२ में कात्य-कात्यायन को वररुचि के पर्याय माना है। परन्तु 'लिंगविशेष' के लेखक वररुचि से संपूर्ण कोश के लेखक कात्य या कात्यायन को कोई भिन्न व्यक्ति होना चाहिए। सर्वानन्द, हर्षकीर्ति और वामन 'लिंगशेष-विधि' को वररुचि के नाम से उद्धृत करते हैं। क्षीरस्वामी और हेमचन्द्र ने लिंग-विधि को कात्य-कात्यायन के नाम

से उद्धृत किया है। क्षीरस्वामी और हेमचन्द्र के उद्धरण किसी सम्पूर्ण कोश की पुष्टि करते हैं। कात्य ने स्वकोश में किन्हीं-किन्हीं पदों का अर्थ वर्णनात्मक ढंग से भी किया है।[1] वामन की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।३।६ के अनुसार[2] कात्य के कोश का नाम 'नाममाला' प्रतीत होता है। कात्य के द्वारा लिखित 'नानार्थसंक्षेप:' नाम का एक और कोश भी माना जाता है। क्षीरस्वामी ने माला का एक वाक्यांश[3] कात्य के नाम से संयुक्त किया है। टीकाकारों ने 'माला' के नाम से कात्य की 'नाममाला' तथा अमरदत्त कवि की 'अमरमाला' की एकरूपता स्थापित कर दी है। दोनों ही मालाओं के अभाव में किसी उद्धरण को किसी एक माला का कह देना दुःसाहसमात्र होगा। मंखक ने कात्य की 'नाममाला' या 'नानार्थसंक्षेप:' से कितना कुछ ग्रहण किया, यह कहना भी कठिन है। ८४ :१६: की टीका में 'प्राधान्यावयवेष्वंस्थायां चैव इष्यते' तथा 'कात्य:', उद्धृत है।

३- <u>हलायुध</u> - हलायुध ने १० वीं शती में 'अभिधानरत्नमाला' नाम का एक कोशग्रन्थ लिखा था। वह प्रकाशित है। कोश का आकार अत्यन्त लघु :केवल ९०० श्लोक: है। अभिधानरत्नमाला ५ काण्डों में विभक्त है। यह भी :कोश: अ० को० का ही अनुसरण करता है। चार काण्डों में पर्याय तथा अन्तिम पाँचवें काण्ड में नानार्थक पदों का संग्रह है। लिंग का संकेत शब्दभेद के द्वारा कराया गया है। हलायुध ने अमरदत्तादि को अपना प्रमाणभूत स्वीकार किया है।[4]

हलायुध का समय १० वीं शताब्दी है। इनके अन्य ३ ग्रन्थ भी माने जाते हैं। तुलनात्मक अध्ययन करने पर अमरकोश तथा शाश्वत के बाद हलायुध से मंखक ने केवल ३० नवीन पद ही लिए हैं।

१- 'पुण्ड्रेक्षुसमपर्यंतालनं लिङ्ग: पुमान्', क्षीर०, पृ० १४४, ११६

२- 'भीषिराग्रन्थसंज्ञायाँ बबन्धाख्यमालास्य' इति <u>नाममाला</u> प्रतिबिम्बमयम् आदि

३- 'स्वैनी पंक्तिपावनी', क्षीर०, पृ० ८६, ११३ ।

४- 'ब्रह्मामरदत्तवररुचिभागुरिवोपालितादिशास्त्रेभ्य: ।
अभिधानरत्नमालाकण्ठविभूषणमुद्धृयते' ।। हला० परि० श्लो० २ ।

४- दुग्ग - अ० को० के प्रसिद्ध टीकाकार क्षीरस्वामी ने 'दुग्ग' को 'दुर्ग' नाम से स्मृत किया है। वह इन्हें अमरसिंह :४०० ई०: से पूर्व का कोशकार मानता है। दुग्ग या दुर्ग के कोश के उद्धरण तो प्राप्त होते हैं, पर इनके कोश के नाम तथा आकार-प्रकार का कोई पता नहीं मिलता। मंखक की समस्त कोश-पदावली अ० को०, शाश्वत, हलायुध, विश्वप्रकाश तथा क्षीरस्वामी के अ० को० के 'नानार्थवर्ग' के परिशिष्ट तक ही समाप्त हो जाती है। अतः उसने कोशकार दुग्ग या दुर्ग के कोश से कितनी सहायता ली है और दुग्ग या दुर्ग का कोश उन्हें उपलब्ध भी था, यह सब सन्देह-शून्य नहीं है। हां, यदि दुग्ग को दुर्ग और दुर्ग को निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य मान लिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं रह जाती। अनेकों वैदिक पद मंखक ने यथासम्भव दुर्ग के आधार पर ही लिए होंगे। 'शर' :८७४: की टीका में 'शरशब्दोऽपि-चारे दुग्गेनं दृष्टः, वर्तितन्त्रानुसारेणैवगृहीतः' - उद्धृत है।

५- अमरसिंह - इनका 'नामलिंगानुशासन' या त्रिकाण्डकोश। इनके नाम के साथ-साथ अमर हो गया है। अ० को० ४०० ई० में लिखा गया था। संस्कृत कोशों में सर्वाधिक ख्याति इसी कोश को प्राप्त है। इस पर अब तक ५० से अधिक टीकाएं लिखी जा चुकी हैं। इसका चीनी अनुवाद ६ठी शताब्दी में हो चुका था। अरबी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में भी इसके अनुवाद हुए हैं। यह विश्व की कुछ चुनी हुई पुस्तकों में से एक है। इस पर क्षीरस्वामी की :११५० ई०: टीका सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। क्षीरस्वामी ने अनेकों प्रमाणों के आधार पर इस कोश का भी खण्डन-मण्डन तथा प्रत्यालोचन किया है। सर्वानन्द :११५९: की 'टीकासर्वस्व' भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'टीका-सर्वस्व' ने बाद के टीकाकारों को यथेष्ट रूप से प्रभावित किया है। अ० को० पर टीकाओं का क्रम अभी बन्द नहीं हुआ है।

अ० को० ३ काण्डों में विभक्त है। प्रथम-द्वितीय काण्डों में १०-११ तथा तृतीय काण्ड में ५ वर्ग हैं। इन वर्गों में नाम, लिंग, वैद्यक तथा औषधि-निघण्टु भी सम्मिलित है। ३।४ में अव्ययों का पृथक् निर्वचन किया गया है। ३।३ नानार्थवर्ग अन्य कोशों की अपेक्षाकृत स्वल्प है। कारण स्पष्ट है कि

अनेक शब्द पूर्ववर्गों में पर्यायरूप से दिए जा चुके हैं। ३।५ में पृथक् रूप से लिंग संग्रह दिया गया है।

मंखकोश का सम्बन्ध साधारणतया अ० को० के 'नानार्थवर्ग' :३।३: से ही है। पर अन्य वर्गों के पदों का भी समावेश हुआ ही है। मंख ने प्रारम्भ में ही ८, ९ श्लोक अ० को० के १।१।४, ५ ज्यों के त्यों उठाकर रख दिए हैं। 'नानार्थवर्ग' में जहां तक मंख को अ० को० के अनुकूल पद मिले हैं, उन्हें मूल रूप से ही, निःसंकोचभाव से, स्वकोश में स्वीकार किया है। शेष पदों के लिए शाश्वतादि का द्वार खटखटाया या स्वतन्त्र उद्भावना की है। प्रधान रूप से मंख अ० सिंह के ही ऋणी हैं।

६- <u>शाश्वत</u> - कोशकार शाश्वत ने अपने कोश के अन्त में -

'महाकवेन कविना वराहेण च धीमता ।
वह सम्यक्परामृश्य निर्मितोऽयं प्रयत्नतः' ।। श्लोक दिया है। इसमें 'महाकवि वराह' - वराहमिहिर का नाम आया है। वराहमिहिर का समय ६ठी शताब्दी का अन्त तथा सातवीं शती का प्रारम्भ माना जाता है। महाकवि शाश्वत ने वराहमिहिर से किस प्रकार का परामर्श और कैसे प्राप्त किया, इसका कुछ संकेत नहीं मिलता। महाकवि शाश्वत ने ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अपना 'अनेकार्थसमुच्चय' कोश लिखा था। इसमें कुल ८०७ श्लोक हैं। ७८१ से ८०४ तक में अव्ययों का निर्वचन किया गया है। ७३५ से ७८० तक में एक पद का एक ही अर्थ दिया गया है। प्रत्येक शब्द लगभग पूर्व श्लोकों में आ चुका है। पद-संग्रह में किसी भी क्रम का निर्वाह नहीं किया गया है। साधारणतया शब्द की प्रथमान्त पुनरावृत्ति स्वेच्छापूर्वक की गई है। नानार्थक पद प्रथमान्त तथा सप्तम्यन्त दोनों हैं। लिंग-ज्ञान के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं किया गया है। केवल शब्द के स्वरूप मात्र से लिंग-ज्ञान पर्याप्त-रूपेण हो जाता है। शब्द भी सरलता से समझ में आ जाता है। नानार्थ अत्यन्त विस्पष्ट है।

अ० को० के बाद मंख ने अपना अधिकांश पदसंग्रह शाश्वत से ही लिया है। ऐसा लगता है कि मानो शाश्वत ने ही प्रथम-प्रथम 'त्रिकाण्डशेष'

की यथाशक्ति रक्षा की थी । उसे मंख ने पल्लवित किया और अन्त में चलकर १४ वीं शताब्दी में पुरुषोत्तमदेव ने 'त्रिकाण्डशेष' के द्वारा उसे पूर्णता प्रदान की । फिर भी मंखकोश में कुछ पद ऐसे भी शेष बचते हैं जो इन अमर-कोश, शाश्वत तथा 'त्रिकाण्डशेष' में नहीं आए हैं । यही मंख की परम मौलिकता है । मंख ने अ० को० से अधिक अनुसरण शाश्वत का किया है । कारण स्पष्ट है । मंखकोश तथा शाश्वत दोनों ही नानार्थक मात्र हैं, जबकि अ० को० पर्याय प्रधान है ।

७- <u>धन्वन्तरि</u> - 'धन्वन्तरि निर्मित निघण्टु' से मंख का तात्पर्य किसी वैद्यक या औषधि निघण्टु से ज्ञात होता है । कारण यह है कि धन्वन्तरि एक प्रसिद्ध आयुर्वेदशास्त्री हुए हैं, और मंख के पिता विश्ववर्त भी काश्मीरराज के राजवैद्य थे । कुछ उदाहरण भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं[1] । मंख ने अनावश्यक भी कई पद औषधि-पर्याय के दिए हैं ।

संस्कृत कोशों की संख्या और इतिहास लम्बे हैं । पर मंखकोश की अपेक्षा से अ० को०, शाश्वत, हलायुध तथा महेश्वरकृत विश्वप्रकाश ही प्रधान हैं । विश्व प्रकाश १०३३ शक सम्वत् में लिखा गया था[2] । मंख ने इस कोश से सहाय लिया है । इसका संकेत बहुत कुछ इस तथ्य से भी लिया जा सकता है कि महेश्वर और मंख दोनों ने 'ष' वर्ण को एक स्वतन्त्र वर्ण माना है, अन्य किसी ने नहीं ।

<u>टीका में स्मृत कोशकारादि</u> - कोशकार मंख ने भागुरि, कात्यायन :कात्य:, हलायुध, दुर्ग, अमर सिंह, शाश्वत तथा धन्वन्तरि को तो मूल कोश :श्लोक ३: में ही अपना उत्तमर्ण स्वीकार किया है । साथ ही, टीका में भी इन निम्नलिखित कोशकारादि का प्रामाण्य उद्धृत किया है ----

१- <u>अमरसिंह</u> मं० को० २६ प्रतीक <u>अंध</u> 'अं प्रतीकोऽवयवौ प०', अ०को० २।६।७०

,, ,, १०० विशाखा <u>मृ</u>---- अयपत्नी स्य-इत्यमरसिंह-नोक्तम्(टीका) ।

,, ,, 'राधाविशाखा', अ० को० १।३।२२

१- 'भीतस्वर्णतालीदारौ वाण औषधमार्गापि' इति धन्वन्तरिः ।

२- 'रामानन्दाभिरूपैः शककाले ----' ।। वि० प्र० समाप्तिश्लो० ५ ।

मंखकोश का अध्ययन

: पूर्वभाग :

हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति :

सन् १८७७ में डा० बुहलर ने काश्मीर की एक यात्रा, हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की खोज के लिए, की थी। उन्हें वहां अपने कार्य में यथेष्ट सफलता भी मिली थी। प्राप्त संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों में महाकवि मंखक के 'श्रीकण्ठचरित' तथा 'मंखकोश' भी उन्हें प्राप्त हुए थे। डा० बुहलर ने अपनी इस यात्रा का विवरण पुस्तकाकार रूप में 'काश्मीर रिपोर्ट' या 'Tour in search of Sanskrit Mss., 1877' - नाम से प्रकाशित करवाया था। उस रिपोर्ट के आधार पर ही अन्य विद्वानों को भी 'मंख कोश' का ज्ञान हुआ। यद्यपि इसके पूर्व भी ११८० के लगभग हेमचन्द्र के 'अनेकार्थसंग्रह' पर उनके (हेमचन्द्र) के शिष्य महेन्द्रसूरि ने एक टीका 'अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी' लिखी थी, और उस टीकाकार ने मंखकोश तथा मंख टीका का प्रचुर: उपयोग-उल्लेख स्व-टीका में किया था।

मं० को० का बम्बई से प्रकाशन - २० वर्ष के पश्चात् १८९७ में वियना की 'इम्पीरियल एकेडेमी आफ साइन्सेज़' कमेटी ने डा० थियोडोर जकारिया से, बम्बई के 'पब्लिक इन्स्ट्रक्शन डायरेक्टर' के लिए इस मंखकोश के सम्पादन के लिए कहा। डा० थियोडोर जकारिया ने ५-६ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर, बड़े परिश्रम तथा अध्यवसाय के साथ इसका सम्पादन पूर्ण किया। इस प्रकार १८९७ में प्रथमबार मंखकोश अपने सम्पूर्णरूप में प्रकाशित हुआ। तबसे आज तक सभी इतिहास लेखक तथा कोशकार मंखकोश का नामोल्लेख करते आ रहे हैं। मंखकोश को प्रकाश में लाने का सम्पूर्ण श्रेय इन पाश्चात्य विद्वानों को ही है। डा० जकारिया ने मंखकोश पर अत्यधिक परिश्रम किया है और वे इसके बड़े भारी प्रशंसक रहे हैं। निःसन्देह, मंखकोश है भी प्रशंसा के योग्य।

मं० को० का स्वरूप - महाकवि मंख की स्वकोश के विषय में

प्रतिज्ञा की कि वे केवल विषमपद तथा लोकविरल विशेष पदों का ही संग्रह करेंगे,[1] वे सामान्य पदों का कोश नहीं बना रहे हैं। अपनी इस प्रतिज्ञा का निर्वाह कोशकार (तथा कवि) ने बड़ी तत्परता के साथ किया है। एक ही अर्थ में रूढ़ पद का यौगिकार्थ[2] भी कोशकार ने आद्योपान्त यत्र-तत्र दर्शाया है। १००७ श्लोकों में लगभग २२५६ तथा लिंगभेद से नानार्थत्व गणना के अनुसार लगभग २५०० पदों के नानार्थ का संग्रह इस मंखकोश में हुआ है। कोश के अंतिम भाग में ३३ श्लोकों में अव्ययों का संग्रह और नानार्थ कथन किया गया है। सम्पूर्ण कोश अनुष्टुप् छन्द में है।

स्व-प्रतिज्ञा के अनुसार मंखक ने अत्यन्तप्रसिद्ध पद तथा अज्ञात पदों के अत्यन्त प्रसिद्ध नानार्थ भी कहीं-कहीं नहीं दिए हैं। मंखकोश अपने में एक स्वतः पूर्ण कोश है। अपने साधारण शब्द-भण्डार तथा पद-ज्ञान में कोशगत पद तथा उनके नानार्थ का संकलन करके कोई व्यक्ति उत्तम कोटि का भाषाविद् बन सकता है। संक्षेप और पूर्णता इस कोश की मुख्य विशेषताएं हैं। यत्र-तत्र कोशकार ने अन्य कोशकारों के नानार्थ को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया है।

दुरूहता - मंखकोश का सबसे बड़ा दोष क्लिष्टता है। कोशकार ने मूलपद तथा नानार्थ में कोई क्रम नहीं रखा है। अतः मूलपद तथा नानार्थ के निर्णय में कहीं-कहीं बड़ी कठिनता उपस्थित हो गई है। साधारण भी पदों के नानार्थ असाधारण पर्यायों में दिए गए हैं। लगभग १००० आवश्यक पद संग्रह से छूट गए हैं। इसी प्रकार अनेकों अतिप्रसिद्ध भी पद विषमपद बनकर मंखकोश में स्थान पा गए हैं। कुछ पद वर्णभेद मात्र से भी पुनरुक्त हुए हैं — 'अभीशु' :८२: तथा 'अभीषु' :६००:, 'इडा' :२०१:, 'इरा' :७१८:

१- मंख०, श्लो० २।   २- वही, श्लो० ६।

३- 'केवे कुमुदेऽब्ज:', मंख० १३७ तथा 'कपः केवे गुरौ पुंवे' — लि० ५।१

'धवलश्यामोपी तु नायिकायां कौमुदी', मंख० १०५ तथा 'कुमुद्यां स्याद् वनितान्तरे', विश्व०, ग।५ ।

तथा 'इला' :८११:, 'मेष' :८८८: तथा 'मेष' :९०६:, 'गन्धर्व' :५५१:, तथा 'गन्धर्व' :८७७:, 'व्याड' :२०१:, तथा 'व्याल' :७९३: । कोशकार ने स्वच्छन्दता से शाश्वत तथा अमरकोश की अधिरशः अनुकृति की है । इस अनुसरण के कारण कहीं-कहीं पुनरुक्ति दोष भी आ गया है । -'भाव' - तात्पर्य-अभिप्राय :८५४-५: । यहां 'अभिप्राय' शाश्वत की देन तथा 'तात्पर्य' कोशकार की स्वोद्भावना है । 'सीमन्' :४७६: तथा 'सीमा' :५७६: क्रमशः पुनरुक्तप्राय है । 'अग' :११०: तथा 'अगम' :५९०:, 'अग्र' :६९५: तथा 'अग्रिम' :५९३:, 'अग्रज' :१५१: तथा 'अग्रजन्मन्' :५१९:, 'द्विज' :१४५:, 'द्विजन्मन्' :४६४: तथा 'द्विजाति' :३२५:, 'भास्' :९१८: तथा 'भास' :९३०: ।

'कच' शुक्र का शिष्य और बृहस्पति का पुत्र था । कोशकार ने कच को शुक्र का पुत्र बताया है । क्योंकि शुक्र की पुत्री देवयानी कच से प्रेम करती थी ।

<u>त्रुटित श्लोकार्थ पूर्तियां</u> - सम्पादन में श्लोक २८ का पूर्वार्ध त्रुटित है । परन्तु अकारानुक्रम में पूर्वार्ध का 'वृश्चिक' पद दिया हुआ है । इस आधार से तथा स्वतन्त्र रूप से भी गवेषक :वर्तमान लेखक: ने विश्वप्रकाश से '<u>वृश्चिक</u>-स्तु द्रुणे राशौ शूककीटे तथौषधौ' पूर्ण कर दिया है । इसी प्रकार श्लोक ६९२ में एक पद 'अंशेषु', ८३७ में एक पद 'निगडे', ९७३ में एक पद 'स्यात्', १००२ का प्रथमवर्ण 'स', १००५ का एक पद, १००६ का पूर्वोत्तरार्धभाग-'वत्स पर्णविभावयोः' तथा १००७ का 'पाप' भी गवेषक ने ही पूर्ण कर दिए हैं ।

मंखकोश का विश्लेषणात्मक अध्ययन

वर्तमान प्रकाशित मंखकोश में सम्पूर्ण १००७ अनुष्टुप् छन्द हैं। प्रथम श्लोक में कोशकार ने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए स्वाभीष्ट देवता विघ्नजित्-गणेश के स्तुतिपाठ का मंगलाचरण किया है। द्वितीय श्लोक में कवि ने उद्देश्य-कथन किया है कि वह निर्मत्सरभाव से शेषच्छिन्न विशिष्ट-विशिष्ट पदों को ही स्वकोश में इस रूप में संगृहीत कर रहा है कि वे जनसाधारण की पहुंच के बन जाएं। वह कोई वृहद् कोश नहीं बना रहा है। तृतीय ~~श्लोक~~ श्लोक में उसने अपनी निर्मत्सरता का परिचय देते हुए भागुरिप्रभृति ७ कोशकारों को अपना उत्तमर्ण स्वीकार किया ~~है~~ है। साथ ही इन कोशकारोंकी अनर्घता के द्वारा उसने अपने नानार्थकोश की प्रामाणिकता का भी उद्घोष किया है। पंचम श्लोक से प्रारम्भ करके ९ वें श्लोक :५ श्लोकों में: तक कवि ने स्वकोश-ग्रथन के सिद्धान्तों का विशद वर्णन किया है। यथासम्भव कान्त-खान्त-गान्तादि क्रम से और पदान्तर्गत वर्णसंख्या :एक वर्ण-द्विवर्ण-त्रिवर्णकादि: क्रम से भी वह अपना कोश निर्माण कर रहा है। जिन पदों का केवल एक ही अर्थ लोक में रूढिप्राप्त हो चुका है, वह :कोशकार: उन ऐसे पदों के यौगिक अर्थों का भी उद्घाटन करेगा, ताकि यौगिकार्थ लुप्त न हो जायं। नगेश :८०७:, पर्वत :३३७: तथा वराटि :६३४: प्रभृति इसके अच्छे उदाहरण हैं। नानार्थरूढ पद का यौगिकार्थ कवि नहीं भी कह सकता है। पदभंग के द्वारा प्राप्त होने वाले नानार्थ को कवि नहीं ही कहेगा। लिंगकथन के विषय में भी कवि स्पष्टलिंग पदों का लिंग कथन नहीं करेगा। रूपभेद, साहचर्य तथा तद्विशेष-विधि के द्वारा लिंग ज्ञान कर लेना चाहिए। त्रिलिंग पद के 'त्रिषु', द्विलिंग पद के लिए 'द्वयोः', एक लिंग के निषेधित पद शेष द्विलिंगक होंगे तथा जिन पदों के पूर्व 'तु - अन्त - अथ - द्वयोः' प्रभृति पद हों, उनका सम्बन्ध लिंग की दृष्टि से, पूर्व पद से न होगा, आदि बातें पाठक को जान लेना चाहिए।[1]

१- यथासम्भवकान्तादिक्रमाक्षरसंख्यया ।
कराम्नायव्यपायादेषणाधिष्यते मया ॥
यद्येक एव रूढोऽर्थो यौगिकस्तत्र कथ्यते
कोऽपि नानार्थरूढेऽपि यौगिकः प्रोच्यते न वा ॥

शैली-विवेचन श्लोक संख्या १० से प्रारम्भ करके ९७४ तक कवि ने नानार्थ तथा ९७५ से १००७ तक अव्ययार्थ का कथन किया है। अधिकांशतः मूलपद प्रथमान्त और नानार्थ सप्तम्यन्त हैं। पर्यायों का कथन प्रथमान्त ही है - "भानुस्स्फटिकार्काः" :मंख०१२: कहीं-कहीं कवि ने लिंग संकेत के द्वारा मूलपद की पुनरावृत्ति का भी कार्य लिया है --- "चित्रकम् ।। :श्लो० २३: तिलकेनातुरा पुंसि--:श्लो० २४: । यहाँ "ना तु" से "चित्रकः" का अध्याहार करके "शार्दूल" :चीता: अर्थ करना पड़ता है। इस युक्ति से कवि ने कहीं-कहीं आश्चर्यजनक संक्षिप्तता उत्पन्न कर दी है ---- अथ कारिका ।। :श्लो० ३५: यातनावृत्तिकृतिषु ना भृत्ये त्रिषु कर्तरि । क्रियायाः साधने क्लीबे ----:श्लो० ३६: । यहाँ कोशकार ने प्रथमतः स्त्री० "कारिका" के नानार्थ "यातना-वृत्ति-कृति" बताए, पुनः "ना" :पुल्लिंग: "कारक" का अर्थ "भृत्य" किया, आगे "त्रिषु :कारक-कारक: -कारिका:" का अर्थ "कर्ता" :कलाकार/रंग-कारक: -कारिका प्रभृति: बताया, तत्पश्चात् क्लीबे :कारकं:" का अर्थ व्याकरणशास्त्र सम्मत "कर्ता-कर्म-करणादि साधन" बताया।

साधारणतया मंखक ने नवीन पद का प्रारम्भ "अथ" पद से किया है। पर अधिकतर यह "अथ" पद छोड़ दिया गया है। ऐसे किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर मूलपद का पहचानना भी कठिन हो गया है। केवल अपने पदज्ञान के आधार पर ही विभिन्न मूलपदों का निर्णय करना पड़ता है। --- "चित्रकायां कृष्ण-लवणे तिलकं क्लोम्नि वाहित्थम् ।। :श्लो० ४१: -- बहुले चित्रकेनातुरावंकास्त्वाप-मीरुजाः । -- :श्लो०४२: । यहाँ कोशकार ने "तिलक" तथा "आतंक" पदों

-- पदमात्रानेकार्थप्रकटीकरणे च
विशेषणप्रत्ययार्थैः सिद्धं लिंगं न चोच्यते ।।
प्रायशोऽत्र पदैर्न वाच्यत्वाभ्युपगमात्
स्त्रीपुंनपुंसकेष्वविशेषविधेः क्वचित् ।।

त्रिलिंग्यां त्रिरिति पदं मिथुने तु द्वयोरिति
निषिद्धलिंगं शेषार्थं त्वन्ताथादि न पूर्वभाक् ।।

मंख० श्लोक ५-८ ।

तुलनात्मक अध्ययन

:नानार्थ और पद:

आधारशिला -

कोशकार मंख ने स्वयं ही भागुरि, कात्यायन, हलायुध, दुर्ग, अमरसिंह और शाश्वत को अपने उत्तमर्ण कोशकारों के रूप में स्मरण किया है[१]। डा० ज़कारिया ने भी नवीन शब्दों के निर्णय में अमरकोश का नानार्थवर्ग :तृतीयकाण्ड का तृतीयवर्ग:, त्रिकाण्डशेष-३, शाश्वत, अभिधानरत्नमाला-५, विश्वप्रकाश, अनेकार्थसंग्रह तथा मेदिनीकोश को प्रमाण माना है। वर्तमान शोधक :लेखक: ने प्रथमतः सम्पूर्ण नवीन पदों की सूची सम्पूर्ण अमरकोश की तुलना के आधार पर स्वीकार की है। पुनः उन नवीन पदों को क्रमशः त्रिकाण्डशेष, शाश्वत, अभिधानरत्नमाला, विश्वप्रकाश, अनेकार्थसंग्रह तथा मेदिनीकोश में ढूंढने का प्रयत्न किया है। अमरकोश से ही तुलना का मुख्य हेतु उस :अम०: की प्रसिद्धि तथा प्रामाणिकता है। शेष तुलना में स्वीकृत कोश मंख के पूर्ववर्ती मानकर स्वीकार किए गए हैं। पदों के उन्हीं नवीन अर्थों का विचार किया गया है जो कुछ विशिष्ट प्रतीत हुए या तुलना के उन-उन कोशों में उपलब्ध नहीं हैं। किन्हीं पदों-अर्थों के सर्वथा नवीन होने के लिए शोधक ने वाचस्पत्यम्, मोनियर विलियम तथा आप्टे की संस्कृतडिक्शनरी को मापदण्ड स्वीकार कर लिया है। संक्षेप और सुविधा के लिए किन्हीं कोशों में प्राप्त नवीन पदों के ऊपर ही उन-उन कोशों का आदि-वर्ण लिख दिया है।

इस दीर्घ प्रयास -- पदों के नानार्थ का संग्रह-- के बिना तुलनात्मक अध्ययन असाध्यप्राय था। नानार्थ-संग्रह में त्रुटियों का मुख्य हेतु, शोधक की अयोग्यता के साथ-साथ, कोश की दुरूहता भी स्वीकार की जानी चाहिए। कोशकार ने नानार्थों की विभाजकरेखा अनिश्चित- दुर्निरूप्यमाण- स्वीकार की है और नानार्थों के वाचक पद भी 'नारिकेलकसम्मित' लिए हैं। अतः

१- मं० को०, श्लो० ३।

तिक्त-रस :तीता: सुगन्ध, स्त्री० कटु-रोहिणी- २८०

तिरस्-अ० अन्तर्धा तिर्यगर्थ १००४

तिलक- सम्पदस्तौक्यी कृष्णलवणबहुल :शरीर के चिह्न-तिल-लक्षण: क्लोम :अंगविशेष: चित्रक :टीका: पु० तिलकपुष्प ४१-२

तिष्य-विषय कलियुगविशेष ६०७

तीक्ष्ण- प्रखर कुविष मुक्तिकामिषर २१५

तीर्थ-सोपान पात्र कहीं से सेवित गुरुमंत्री उपाय स्त्रीरज: ३७५

तु- अ० विशेष अवधारणार्थक ७७८

तुंग- अगन्धा पुन्नाग, पु० उच्च, त्रि० अल्प मेय १९८

तुच्छ- लघु अल्प, स्त्री० -च्छा नीलिका १४२

+वि०
तुटि- छोटीइलायची काल अल्पांश १५७

तुण्डिकेरि- कार्पासी बिम्बी ७८७

तुमुल- व्याकुल शब्द संकुल-रण ८३०

तुला- सादृश्यमान पल :धन्वी: सदृश भाण्ड :बर्तन: विशेष राशि घट ८०६

तुलाकोटि- मानभेद अर्बुद नूपुर १८२

तुष- धान्य-कंचुक बिभीतकवाक्ष ६०६

तुषार- कण तुहिन शीतल ७६४

९० तूलि- तूलिका कुरा: शाखा शय्या तूल ८१२

तूलिका-चित्रलेखनी शाखा तोलन २१

+शा०
तूवर- अस्मश्रुरजस्वलाश्रृंग बाण ७४६

तृष्- लिप्सा तर्ष ६००

तृष्णा- इच्छा पिपासा २१४

तैजन- शरणोपलब्धेणु शर, स्त्री०-नी-मूर्वातिलोमर्ता ५०१

तैजस्- बल शुक्र प्रभाव काञ्चिष्णुतादीप्ति ६२७

तोकम-हरित यव हरित :वर्ण: ५७५

तोदन-बाधक कशा :कोड़ा: ४८७

त्याग- त्यजन दान ११६

त्रपु- रंग सीसक ५३४

त्रयी- वेदत्रयी त्रितय ६९७

त्रास- मणिदोष भय ६३०

त्रिक-पृष्ठाधोविन्दुक तीन, स्त्री० -का-त्रितय त्रिसंघ बरघट्ट :गड़ारी: १८-१९

त्रिपुटा-त्रिपुर्व छोटीइलायची मल्लिका त्रय-मार्ग कर्णभित् १७८

त्रिवर्ग-स्थान वृद्धिक्षय कालभेद धर्मार्थकाम १२७

त्रेता- युग वह्नित्रय २६४

त्रौटि- पक्षिचंचु बिधामान १७२

त्वच्-वल्कलकर्ण त्वचा दारचीनी १३४

त्वष्टृ-देवशिल्पी तक्षासूर्य १६२

त्विष्- रुक् शोभा ६००

द

दक्ष- प्रजापति कुक्कुट चतुर ८७०

दक्षिण-अनुकूलनायक ऋजु दक्षिणस्थ मलयानिल, स्त्री०-णा-दिशा प्रदेय २३६-६

दण्ड- तृतीयोपाय राजबल लगुड १९३

दण्डधर-यमनृप दण्डभृत् ७६८

दन्त- रद अद्रिकटक २९०

दन्तशठ- जम्बीरकपित्थ, स्त्री० -ठा-चांगेरी :चूक: १८९

दम- दण्ड इन्द्रिय-निग्रह ५८२

दर- भयअल्पार्थ, स्त्री०-री-गहगुहा७००-१